Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गुरुकुल-पत्रिका

## मासिक शोध-पत्रिका

## Monthly Research Magazine

Vol. 52
APR-2000—MAR-2001

सम्पादक

प्रो० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार —249404

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गुरुकुल-पत्रिका

## मासिक शोध-पत्रिका

## Monthly Research Magazine

सम्पादक

प्रो० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

कुलसचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

| | | |
|---|---|---|
| अप्रैल - जून, 2000 | वर्ष 52 वां | बैशाख - आषाढ़ सं. 2057 |

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्पादक मण्डल


| | | |
|---|---|---|
| मुख्य संरक्षक | : | डॉ0 धर्मपाल<br>कुलपति |
| संरक्षक | : | प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री<br>आचार्य एवं उपकुलपति |
| परामर्शदाता | : | डॉ0 विष्णुदत्त राकेश<br>प्रोफेसर-हिन्दी विभाग |
| सम्पादक | : | प्रो0 महावीर |
| व्यवसाय प्रबन्धक | : | डॉ0 जगदीश विद्यालंकार<br>पुस्तकालयाध्यक्ष |
| प्रकाशक | : | प्रो0 महावीर<br>कुलसचिव |
| मूल्य | : | 25 रुपये (वार्षिक) |


मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975, 415692

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषयानुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | वेदमञ्जरी | आचार्य रामनाथ वेदालंकार | १ |
| २. | सम्पादकीय | प्रो० महावीर | २ |
| ३. | उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप | प्रो० जयदेव वेदालंकार | ४ |
| ४. | वेदों में राष्ट्रिय भावना | प्रो० महावीर | १५ |
| ५. | क्रान्ति का सूरज | श्री कुमार भारती | २२ |
| ६. | आओ माँ का श्रृंगार करे | श्री कुमार भारती | २३ |
| ७. | इन्द्रदेवता-लघुमंत्रसप्तकम् (३) | श्री मनोहर विद्यालंकार | २४ |
| ८. | महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण..... | ब्रि० चितरंजन सावन्त | २७ |
| ९. | जीवन कैसे व्यतीत..... | डॉ० ब० द० धवन | ३१ |
| १०. | ऋग्वेद के आधार पर..... | श्री हेरम्ब पाण्डेय | ३७ |
| ११. | श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में..... | डॉ० प्रमोद कुमार श्रौत्रिय | ४१ |
| १२. | द्रौपदी चीर-हरण एक कोरी..... | श्री महावीर "नीर" विद्यालंकार | ४८ |
| १३. | हिन्दी-राष्ट्रभाषा और..... | डॉ० सुचित्रा मलिक | ५४ |
| १४. | गोपथ ब्राह्मण में..... | डॉ० सत्यदेव निगमालंकार | ५८ |
| १५. | ज्ञान-प्रबन्धन में..... | श्री पंकज मदान | ६१ |
| 16. | Teaching Literature.... | Dr. Satendra Kumar | 63 |
| १७. | कैसे गीत गाये हम? | डॉ० भैरवदत्त शुक्ल | ७० |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# वेदमञ्जरी

# विष्णोस्त्रीणि पदानि

**त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।**
**अतो धर्माणि धारयन् ।।** ऋग्० १.२२.१८

**ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः। **देवता** विष्णुः। **छन्दः** पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री।

(**अदाभ्यः**) अहिंस्यः (**गोपाः**) रक्षकः (**विष्णुः**) एतन्नामको देवः (**त्रीणि पदा**) त्रीन् पादन्यासान् (**वि चक्रमे**) चङ्क्रमितवान् अस्ति। (**अतः**) अस्मादेव सः (**धर्माणि**) धर्मान् (धारयन्) दधानो वर्तते।

कथाकाराः कथयन्ति यद् वामनेन विष्णुना त्रिभिः पादन्यासैस्त्रिलोकी मापिताऽऽसीत्। ननु कोऽयं विष्णुः? आदित्यो विष्णुरित्यधिदैवतम्। स हि दिवि, अन्तरिक्षे, पृथिव्यां च, यद्वा उदयाकाशे, मध्याकाशे, सायंतनाकाशे च स्वकीयान् रश्मिरूपांश्चरणान् निधत्ते। यज्ञो वै विष्णुरित्यधियज्ञम्। स हि त्रिषु सवनेषु, प्रातः सवने माध्यन्दिनसवने सायंसवने च पादं न्यस्यति। चराचरे जगति व्याप्तः परमेश्वरो विष्णुरित्यध्यात्मम्। स खलु पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च त्रिष्वपि लोकेषु पादं निदधाति, त्रीनपि लोकान् व्याप्नोतीत्यर्थः। परमेश्वरो विष्णुर्मानवानां शरीरे मनस्यात्मनि चापि चरणन्यासं कुरूते, त्रिष्वपि व्याप्तोऽस्तीत्याशयः।

किं यूयं पृच्छथ यदेतेषु पदं निधाय स किं करोति? स हि पृथिवीं पृथिवीस्थान् पर्वत–नदी–नद–सागर–वृक्ष–वनस्पत्यादींश्च धारयति। स खल्वन्तरिक्षम् अन्तरिक्षस्थान् वायु–मेघ–विद्युच्चन्द्रादींश्च धारयति। स वै दिवं द्युलोकस्थान् सूर्यनक्षत्रादींश्च धत्ते। स हि देहं देहस्थानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि शिराधमन्यादीनि च दधाति। स खलु मनो मनसः संकल्पव्यापारं च नियमयति। स खलु जीवात्मानं जीवात्मनो व्यापारान् इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखज्ञानानि च नियच्छति। स हि जगतः कारणशरीराणि सूक्ष्मशरीराणि स्थूलशरीराणि च तद्व्यापारांश्च स्वव्याप्त्या नियच्छति। तद्धारणं तन्नियमनं च विना तेषां तेषां गुणा धर्मा व्यापाराश्च न प्रभवन्ति।

असौ विष्णुः "गोपाः" वर्तते, विश्वेषां रक्षकोऽस्ति। असौ "अदाभ्यः" उच्यते, अहिंस्यो वर्तते। तस्य त्रिलोक्यां पादन्यासं त्रिलोकीरक्षणं च कोऽपि हिंसितुं विहन्तुं वा न शक्नोति। विष्णुरसौ धन्यः स्तुत्यः श्लाघ्यश्च विद्यते। आगच्छत, तद्गुणान् संकीर्त्य वयं स्वात्मनो गौरवान्वितान् कुर्याम।

**-आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय.....

# ५ जून विश्व पर्यावरण दिवस

आज विश्व मानव के समक्ष नाना प्रकार की समस्याएं भयावह रूप धारण कर उपस्थित हैं। कहीं राष्ट्रों के मध्य युद्धों की ज्वालाएं जल रही हैं तो कहीं आतंकवाद का विध्वंसकारी ताण्डव नृत्य हो रहा है। चिकित्सा जगत् में प्रतिदिन नई–नई औषधियों की खोज किये जाने पर भी एड्स, कैन्सर जैसे रोग दुनिया को निगल जाना चाहते है। धर्म, संस्कृति, नैतिकता, मानवता पर कठोर कुठाराघात हो रहा है। भाषा, प्रान्त, और जाति के नाम पर मानव और मानव के बीच दीवारें खड़ी कर दी गई हैं। समाज टूट रहा है, परिवार बिखर रहे हैं, राष्ट्र की एकता और अखण्डता के सामने प्रश्न–चिह्न लगे हुए हैं। राष्ट्र–नेता राजधर्म को भूल गए हैं, धर्मगुरूओं ने धर्म की परिभाषाएं बदल दी हैं। गुरूओं ने अपनी गरिमा भुला दी है। बड़े–बड़े कारखानों और सड़कों पर तेजी से दौड़ने वाले वाहनों से प्रतिक्षण बहुत बड़ी मात्रा में निकलने वाले धूएं ने जल, थल और नभ को प्रदूषित कर दिया है। जिस पवित्र देश में गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा जैसी नदियां कलकल निनाद करती हुई बहती हैं, जहाँ हिमाच्छादित धवल हिमालय अपने गगनचुम्बी हिमश्रृङ्गों से धरती की शोभा बढ़ाता है, जो पावन धरा घर–घर में प्रतिदिन किये जाने वाले यज्ञों के धूम और वेद–मन्त्रों की मधुर ध्वनि से सदा जगद्वन्द्या रही, जहाँ मर्यादा पुरूषोत्तम राम और योगेश्वर कृष्ण ने जन्म लिया। गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषियों का पवित्र ज्ञान जहाँ कण–कण में व्याप्त था, परमात्मा की जिस देश पर विशेष कृपा थी, जो देश विश्वगुरू कहलाता था, विश्व के विभिन्न देशों से लोग जहाँ चरित्र की शिक्षा प्राप्त करने आते थे, जो सुख और शान्ति का परम धाम था, जहाँ प्रेम और आनन्द की गंगा बहती थी, उस देश की वर्तमान दशा देखकर दिल रोता है। जल, वायु और ध्वनि प्रदूषण से भी अधिक भयानक प्रदूषण मन, हृदय और बुद्धि का है। जिस देश के ऋषियों ने सम्पूर्ण संसार को जीना सिखाया था, सुख की राह दिखाई थी, वह स्वयं उस मार्ग को विस्मृत कर बैठा। कितना सुन्दर था वह समय जब हम रात्रि में सोते समय प्रार्थना किया करते थे–**"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"**, मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो, **"परोऽपेहि मनस्पाप"**, हे मेरे मन के पाप तू दूर हट जा। **"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव"**, हे जगदुत्पादक प्रभो ! मेरे जीवन के समस्त दुर्गुणों को दूर कर दो। **"धियो यो नः प्रचोदयात्"**, हे प्रभो ! हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करो। केवल प्रार्थना ही नहीं करते थे, अपितु यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योग के अनुष्ठान से जीवन को पवित्रतम


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने का सतत् प्रयत्न करते रहते थे। **"अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या"** अर्थात् एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो, इतना चाहो जैसे गाय सद्योजात शिशु से प्रेम करती है, की भावना सर्वत्र व्यवहार में परिलक्षित होती थी। हमारे परिवार सुख, शान्ति, प्रेम, आनन्द के धाम थे। वृक्षों को देव समझा जाता था, यज्ञ को विष्णु मानकर श्रद्धापूर्वक संपन्न किया जाता था। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, राष्ट्रदेवो भव** की पवित्र भावना कण–कण में व्याप्त थी।

किन्तु समय परिवर्तनशील है। समय बदला, परिस्थितियां बदली। यज्ञ के धूम का स्थान कारखानों और वाहनों से निकलने वाले धूओं ने ले लिया। ऋचाओं की पवित्र ध्वनि के स्थान पर अश्लील, उद्वेगजनक, चरित्र का विनाश करने वाले फिल्मी गीत घर–घर में सुने जा रहे हैं। स्वार्थी मानव अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति माता के सुन्दर स्वरूप को विकृत करने में जरा भी संकोच नहीं कर रहा है। जिन तरूओं की शीतल छाया में बैठकर इस देश के ऋषि–मुनि आध्यात्मिक ज्ञान से परम शान्ति प्राप्त करते थे, उन वृक्षों को निदर्यतापूर्वक काटा जा रहा है। हमने सहस्राब्दियों से जिस गंगा जल को परम पवित्र मानकर गंगा को माँ कहकर पुकारा, गंगा के उस पवित्र जल को दूषित करते समय भी लज्जा नहीं आई।

५ जून को सम्पूर्ण विश्व पर्यावरण दिवस मना रहा है। हम शान्त और शुद्ध हृदय से विचार करें कि पर्यावरण की रक्षा के लिए क्या कर रहे हैं ? केवल धन खर्च करने से पर्यावरण की रक्षा नहीं होगी। न ही सभाओं, व्याख्यानों और शोध गोष्ठियों से पर्यावरण की रक्षा होगी। शुद्ध आचरण से ही हम द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को प्रदूषण से बचा सकेंगे।

आइये ! पर्यावरण दिवस पर हम संकल्प लें कि जिस भूमि माता की स्नेहमयी गोद में हमारा बचपन, यौवन और सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होता है, उसकी पवित्रता और महिमा की रक्षा के लिए हम सर्वात्मना समर्पित रहें। यदि हम प्रकृति की रक्षा करेंगे तो प्रकृति माता निश्चय ही हमारी रक्षा करेगी।

**प्रो० महावीर**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# उपनिषदो में ब्रह्म का स्वरूप

(गतांक से आगे)

**११-बृहदारण्यक–** जैसा कि हम पीछे नाना रूपों में ब्रह्म के स्वरूप का अवलोकन कर आये हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा का अश्व रूप में वर्णन किया है। अथर्ववेद में गवि सूक्त में गौ रूप में परमात्मा का वर्णन हुआ है। वह अश्वरूप परमात्मा कैसा है? इसका प्रतिपादन करते हुये उपनिषद्कार ने कहा है कि उस परमात्मा के ब्रह्म मुहूर्तकाल शिरस्थानीय सूर्य, चक्षु, स्थानीय वायु प्राण स्थानीय, वैश्वानर अग्नि विस्तृत मुख के समान और संवत्सर देह स्थानीय है। इस पूज्य अश्व का प्रकाशपृष्ठ स्थानीय अन्तरिक्ष लोक उदरस्थानीय पृथ्वी पाद स्थानीय है। पूर्व आदि दिशायें पासे और आग्नेयादि–बीच की दिशायें पसलियां हैं। ऋतुयें अंगस्थानीय, महीने तथा पक्ष सन्धियें, दिन और रात्रि ठहरने का स्थान और नक्षत्र अस्थि है। मेघों से परिपूरित आकाश मांसस्थानीय बालू रेत चबाये हुए अन्न के समान नदियां नाड़ि स्थानीय पर्वत यकृत् और क्लोम पिपासा स्थान स्थानीय औषधियों तथा वनस्पतियों लोम स्थानीय उदय होता हुआ सूर्य उस का पूर्वार्द्ध और मध्याह्न का ढलता हुआ सूर्य उस के पीछे का भाग है। जो जंभाई लेता है वह बिजली का चमकना, जो उस के प्रकृति रूप शरीर का हिलाना है, वह बादल का कड़कना है जो उस के प्रकृति रूप शरीर से सूक्ष्म धातुओं का बहना वही वर्षा, और जो इस विराट् में जो गर्जना है वही उस के शब्द समान है।[८४] वास्तव में जैसा कि इस उपनिषद् का नाम बृहत् है, ऐसी ही विराट् स्वरूप की व्याख्या अश्वरूप में उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कर दी है। ऋग्वेद् और यजुर्वेद में तथा उपनिषदों में भी इस प्रकार के परमात्मा के बृहत् स्वरूप का व्याख्यान हुआ है।[८५]

जैसे विराट् अश्व का वर्णन परमात्मा के लिए हुआ है इसी प्रकार आगे इसी उपनिषद् में विराट् पुरूष का विशद वर्णन इस प्रकार किया है--सृष्टि से पूर्व वह आत्मस्वरूप ब्रह्म ही था उस पुरूषाकार आत्मा ने चारों ओर देखा आलोचन किया, तो अपने से भिन्न कुछ न देखकर मैं ही सर्वात्मा हूँ , इस प्रकार कथन किया। यह पुरूष भी प्रथम अहं–अयं कहकर पश्चात् जो इसके माता–पिता कृत अन्य नाम होता है उसे कहता है, जिस कारण इस सम्पूर्ण प्रपंच से पूर्व उस आत्मा ने सब पापों को दग्ध किया अर्थात् जो सृष्टि से पूर्व भी शुद्ध और अपापविद्ध था इस कारण भी उसको पुरूष कहते हैं जो इस प्रपंच से पूर्व पुरूष की तरह होने की इच्छा करता हुआ इससे पूर्व आत्मा की शुद्धता को जानने की इच्छा करता है वह आत्मा की शुद्धता को जानता है। वह पुरूष


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी पाप दग्धकरके पुण्यी होता है। कालत्रय में वहाँ पर कहा स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् की रचना से पूर्व ब्रह्म ने किस प्रकार इस जगत् को रचने का ईक्षण किया है।

प्रियतम रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह आत्मा पुत्र, वित्त तथा अन्य सब पदार्थो से प्रियतम है जो इस आत्मा से अन्य पुत्रादिकों को प्रिय मानता उसके प्रति आत्मवेत्ता का कहना है कि यदि आत्मातिरिक्त तू पदार्थो को प्रिय समझता है तो तू निश्चय रूप में अज्ञानी है।[८७] इसका अभिप्राय यह है कि संसार में अन्य वस्तुयें प्रिय तो हो सकती है परन्तु प्रियतम केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म में सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुर्विज्ञेयता को बतलाते हुए ऋषि कहते हैं कि जहाँ द्वैत होता है वहां दूसरे को सूंघता है, देखता है, सुनता है,.कथन करता है, मनन करता है और दूसरे को मानता है। पर जहाँ आना आप ही है वहां कौन किसको सूंघे, कौन किसको देखे कौन किसको सुने, कथन करे, मनन करे, जाने, जिसकी सत्ता पुरूष सबको जानता है, उसको किससे जाने अर्थात् जो सब का विज्ञाता है उसको किससे जाने। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक हम द्वैत रूप में अर्थात् यह मेरा है, प्रिय है, और वह है, रहेगा तब तक हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते यही द्वैत है। दूसरा वास्तव में यह मनुष्य निश्चय कर लेता है कि एक मात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का परित्याग कर देता है। ऐसा करने के कारण दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता है। वास्तव में यह समस्त जगत् उस परमात्मा की सत्ता के आश्रित है, पीछे दुन्दुभि आदि दृष्टान्त भी इसलिए दिए है। लवण से भी यही बतलाया है कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से भी ग्रहण किया जाय वहां लवण ही लवण प्रतीत होता है, इसी प्रकार इस चराचर जगत् के पीछे अर्थात भीतर व्यापक होने से सर्वत्र ईश्वर दृष्टिगत होता है।[८८] इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् में भी देख आये हैं। इसी भाव को दूसरे रूप में आगे कथन किया गया है कि यह पृथ्वी सब भूतों का मधु उपकारक है। यह तेजोमय प्रकाशक, अमृतमय–आनन्दमय पुरूष है। वह उसी ब्रह्म के आश्रित है। समस्त विश्व को ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म कहा गया है।[८९] इसी प्रकार आप(जल) अग्नि। वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म और सत्यादि दृष्टान्तों से समस्त विश्व को उसके आश्रित बतलाकर उस आत्मतत्व को ब्रह्म कहा है। क्योंकि संसार के पदार्थ उसके आश्रय में रहते है, इसलिए ही महान् है परन्तु इनकी महत्ता ब्रह्म के कारण है। जैसा कि अन्य उपनिषदों में भी हम देख आये हैं। संसार में समस्त वस्तुयें मिलकर उन ब्रह्म का पराभव नहीं कर सकती हैं। क्योंकि वह सभी रूपों में पूर्ण है । वह सर्वत्र आकाश के समान होने के कारण पूर्ण है, उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य कारण रूप संघात्मक जगत् भी पूर्ण कहाता है। उसी पूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही जगत् अव्याकृत से शेष रह जाता है। कौरव्यायणी


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
के पुत्र का मत है कि जो परमात्मा निरतिशय कल्याण गुणाकार होने से ब्रह्म तथा आकाश की तरह सर्वगत होने से उसी को ब्रह्मवेत्ता लोग **ओ३म् पद वाच्य** कहते हैं। समाधि अवस्था में जप करते है, क्योंकि मनुष्य एक मात्र उसी ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा प्रसंख्यान की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सब प्रकार के क्लेशों से रहित हो जाता है।[६०] वास्तव में ब्रह्म सब कार्य कारणात्मक संघात का कर्त्ता--धर्त्ता होने के कारण पूर्ण है। अथर्ववेद में भी यही कहा है कि उस सत्यरूप ब्रह्म के द्वारा ही भूमि, सूर्य द्यौ आदि धारण किये हुए हैं।[६१]

उक्त उपनिषदों में बहुदेवतावाद या बहु ईश्वरवाद के विचार का पूर्णतः अभाव है। क्रमशः संक्षिप्त रूप में सभी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप का प्रतिपादन करने का अभिप्राय यह है कि उपनिषदों की मूल भावना और पूर्वापर संगति लगाकर अर्थ का वास्तविक भाव दूसरा ही है। ब्रह्म विषयक दयानन्द मत का निष्कर्ष इस प्रकार है–

१. बहुदेवतावाद या बहु ईश्वरवाद की गंध भी उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होती है।
२. ईश्वर अमूर्त है इसलिए उसका अवतार कभी भी नहीं हो सकता है।
३. ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं। दयानन्द ने जो ईश्वर का लक्षण किया है कि वह ब्रह्म सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त है उपनिषदों की मान्यता के अनुसार ही है।[६२] ऋषि दयानन्द ने ईश्वर के जितने लक्षण लिखे हैं, वें लगभग सभी उपनिषदों में प्राप्त हो जाते हैं।
४. कुछ उपनिषद् मन्त्रों में इस प्रकार के मन्त्र उपरी दृष्टि से जान पड़ते हैं कि उन की व्याख्या प्रत्ययवादी(अद्वैतवादी) की जाय तो समीचीन प्रतीत होती है। परन्तु पूर्वापरऔर प्रसंगानुसार सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर यथार्थवादी व्याख्या ही समीचीन है।
५. उपनिषदों का ब्रह्म तर्क प्रधान कम है, अनुभूतिपरक अधिक है। यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि युक्ति हेतु और तर्क का विकास दर्शनकाल में अधिक हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पूर्णतः तर्क का अभाव नहीं है।
६. उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है।[६३] विवर्त होकर नहीं अपितु प्रकृति में परिणाम कर के निमित्त कारण रूप में सृष्टि का रचयिता है।
७. तप तथा उपासना के द्वारा जो ऋषि ईश्वर के समीप तक पहुँच जाते हैं। उन सब की प्रायः अनुभूति समान रूप में होती है। हाँ, उस अनुभूति की व्याख्याओं में भेदअवश्य दृष्टिगोचर होता है।
८. उपनिषदों का ब्रह्म विभु है।

ऋषि दयानन्द के लिये ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्म शब्द बृहिं वृद्धों इन धातुओं से बनता है। इसका अभिप्राय है कि जो महान् सर्वव्यापक अनन्त व सर्वशक्तिमान है। परमसत्ता के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों के साथ


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदों में भी हुआ है। वहाँ पर भी सबसे महान् होने से इसको ब्रह्म कहा है। वेद व उपनिषदों में ईश्वर का मुख्य नाम **ओ३म्** कहा गया है।[६४] दयानन्द **ओ३म्** की व्याख्या इस प्रकार करते है कि यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि उसमें जो अ, उ और में तीन अक्षर मिलकर एक **ओ३म्** समुदाय हुआ है। इस नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे आकार से विराट् अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि। मकार से ईश्वर आदित्य और प्रज्ञादि नामों का वाचक ग्राहक है।[६५] सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में दयानन्द ईश्वर के लगभग सौ नामों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। परमात्मा का नाम अग्नि भी है क्योंकि वह सर्वप्रकाशक है।

दयानन्द ने अनादि मानते हुए कहा है कि जिसका कोई आदिकारण नहीं समय न हो वह अनादि है। ये उन सिद्धान्तों की जिनमें ईश्वर, स्वर्ग या आकाश विशेष में स्थित कहा है उनको बच्चों की कल्पना कहकर मज़ाक उड़ाते हैं।

ईश्वर को दयानन्द सर्व शक्तिमान मानते हैं जैसा कि उपनिषदों के मंत्रों से स्पष्ट है परन्तु सर्वशक्तिमान की (नवीन) व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इनका कहना है कि सर्वशक्तिमान का अर्थ यह नही है कि वह ईश्वर असंभव को भी करे। ईश्वर दूसरा ईश्वर कभी नही बना सकता है। क्या वह अन्यायकारी कुकर्मी को क्षमा कर सकता है? कभी नहीं। स्वाभाविक नियमों के विपरीत ईश्वर भी नहीं चल सकता है।[६६] आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ईश्वर के नियम सत्य और पूर्ण हैं इसलिए वह उनमें परिवर्तन नहीं कर सकता है।[६७] सन्त थामस के अनुसार परमात्मा में शुभ गुण हैं और सब बुरे गुण यथा क्रोध, विस्मृति, घृणा और शोक इनका उसमें अभाव है।[६८] सन्त थामस के शब्द देखिए–ईश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता, स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता है।[६९] यहाँ सन्त थामस और दयानन्द में समानता है। उपनिषदों के अनुसार भी यही सिद्धान्त समीचीन है। क्योंकि जो लोग सर्वशक्तिमान का अर्थ यह करते है कि वह सब कुछ कर सकता है चाहे जिसको मोक्ष दे दे, चाहे जो बना दे, इतना ही नहीं इसी आधार पर ये लोग मानते है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है इसलिए वह अवतार भी ले सकता है परन्तु उनकी यह धारणा उपनिषदों की भावना से विपरीत है और दयानन्द की धारणा उपनिषदों के अनुकूल है। इसी का समर्थन प्लेटो भी करता है। परमात्मा असत्य नहीं बोल सकता तथा ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जो उसके शुभ गुणों के विरूद्ध हो।[७००]

उपनिषदों की तरह दयानन्द ईश्वर को निराकार मानते है निराकार का अर्थ जिसका कोई आकार नही अर्थात् सर्वत्र व्यापक। आचार्य शंकर भी ब्रह्म को निराकार मानते हैं परन्तु साथ में जीव प्रतिबिम्बवाद का भी समर्थन करते हैं परन्तु दयानन्द का कहना है कि प्रतिबिम्ब साकार पदार्थों का होता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कभी भी संभव


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नही। उपनिषदें भी जैसा कि हम देख आये हैं ब्रह्म को अमूर्त मानकर निराकार को मान्यता प्रदान करती हैं।

## समालोचना

आचार्य शंकर ने संसार की रचना को, जीव और कर्मफल आदि की जटिल समस्याओं के कारण पारमार्थिक और व्यावहारिक इन दो स्तरों को माना है। क्योंकि बिना व्यवहार को माने प्रत्यक्ष द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध है उसका शुद्ध सन्तोषजनक समाधान नहीं किया जा सकता है। परन्तु पारमार्थिक रूप में वास्तव में शुद्ध को छोड़कर कुछ भी नहीं है, जिसकी समीक्षा हम इस अध्याय में देख आये हैं परन्तु गौड़पाद माण्डूक्य कारिकाओं में संसार की निस्सारता बतलाते हुए कहते हैं न संसार की उत्पत्ति, न निरोध, न कोई बद्ध है और न कोई साधक और न कोई मुक्तात्मा ही है।[१०१] परन्तु उनकी यह मान्यता वेद और उपनिषद् के प्रतिकूल है क्योंकि उपनिषदों में तो संसार की उत्पत्ति आदि का स्पष्ट वर्णन है। संसार विषाण की तरह न हो जाय, इसलिए आचार्य शंकर को व्यवहार का स्तर मानना पड़ा। ब्रह्म के भी दो स्वर इन्होंने माने हैं। परन्तु दयानन्द की तरह जयतीर्थ स्पष्ट कहता है कि ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध है।[१०२] ब्रह्म द्वयवाद वैदिक साहित्य(उपनिषद् दर्शन) में कहीं उपलब्ध नहीं है। अर्थात् ब्रह्म दो नहीं हैं।[१०३] मैक्समूलर कहते हैं कि उपनिषद् साहित्य में दो ब्रह्म का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता है।[१०४]

दयानन्द के मत में और उपनिषदों के अनुसार, न ब्रह्म की कल्पना है उपनिषदों का ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, नियामक, निर्माता, निराकार, सच्चिदानन्द और कर्मफल प्रदाता है। शंकर का ईश्वर और दयानन्द का ब्रह्म प्रायः समान है।(गुणों की दृष्टि से) परन्तु दयानन्द का ईश्वर मायोपहित चैतन्य नहीं है। आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों दार्शनिक दर्शन की आस्तिकवादी विचार धारा के प्रतिनिधि हैं। उनका यह आस्तिक्यभाव वेदों के प्रामाण्यमात्र पर ही अवलम्बित नहीं है, प्रत्युत दोनों दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को युक्तियों द्वारा स्वीकार करते हैं।

दोनों दार्शनिक ईश्वर विषयक इस विषय पर सहमत हैं कि वह अनादि, सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं। दोनों के अनुसार परमात्मा के आदि स्रोत की कल्पना नहीं की जा सकती। उसकी सत्ता त्रिकाल सिद्ध एवं त्रिकाल बाधित है, उसकी सत्ता में न कभी ह्रास आता है और न कभी किसी प्रकार क्षय होता है वह ज्ञानकल्प है। शंकर के ब्रह्म की भांति वह एकान्ततः गुणविहीन नहीं है, प्रत्युत उसमें अन्य अनेक सद्गुणों की भी समुपस्थिति है। वह ज्ञान का आदि स्रोत है। उसका ज्ञान सार्वभौमिक और सर्वत्र व्याप्त है। वह अपने इस ज्ञान के कारण ही कदाचित् सर्वज्ञ है। परमात्मा देशगत, कालगत और वस्तुगत


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
त्रिविध परिच्छिन्नताओं से रहित है। अतः वह अनन्त है। उसकी यह अनन्तता उसकी सर्वशक्तिमत्ता की भी द्योतक प्रतीत होती है।

रामानुज और दयानन्द– दोनों ही दार्शनिक परमात्मा को नित्य विशुद्ध और सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते है। त्रिकालसिद्धि उसकी सत्ता उसकी नित्यता है। किसी भी प्रकार के दुर्विकार से उसके विशुद्धत्व का द्योतक है और उसमें किसी भी प्रकार के रहित विखण्डन का अभाव उसकी अखण्डैकरसता का परिचायक है। वह सर्वत्र है, निखिल ब्रह्माण्ड और जीवात्मा उसके द्वारा व्याप्त है। इसलिए वह सर्वत्र व्याप्त है।

दोनों दार्शनिक परमात्मा को सच्चिदानन्द मानते हैं। सत् से अभिप्राय जहाँ एक और उसकी सत्ता से है, वहीं दूसरी और उसके जगत्कारणत्व के रूप में भी है। वह चित्त होने से चेतन है और चेतन होने से वह ज्ञानाधार है। वह आनन्दमय है। दोनों दार्शनिक इस बात पर सहमत है कि परमात्मा का ध्यानमात्र भी जीवात्मा में आनन्द का उत्सर्जक है। मुक्त्यावस्था में भी जीवात्मा उसको प्राप्त करके अखण्डैकरस आनन्द की उपलब्धि पाता है। इसके अतिरिक्त उसका आनन्दत्व उसके उन गुणों से भी है जो जीवात्मा और जगत् के प्रति कल्याणकारी गुण है। दोनों के अनुसार वह परमात्मा दयालु है। सौशील्य, सौलभ्य उसके कल्याणकत्व को तो पुष्ट करते ही हैं, प्रत्युत जीवात्मा के प्रति कल्याण के साधक या अभिभावक भी है।

रामानुज के अनुसार परमात्मा का दयालुत्व जीवात्मा की भक्ति या कर्मों से प्रसन्न होकर उसको अपनी कृपा के द्वारा स्वसान्निध्य देना है, तो दयानन्द के अनुसार, जैसा कि रामानुज का मत है, परमात्मा का दयाभाव जीवात्मा के दुःखों का प्रतिकार रूप में प्रकट होता है, जो दुष्टात्माओं को दण्ड देकर सदात्माओं को सुख देने के लिए होता है। रामानुज का ईश्वर तो जीवात्मा के दुःखों के दर्शनार्थ अधर्म के विनाशार्थ और सद्धर्म की व्यवस्था के लिए अपने विभिन्न गुणों के माध्यम से स्वरूपावतार की व्यवस्था के लिए या आवेशावतार ग्रहण करता है। दयानन्द परमात्मा–कृत जगत् सृष्टि को और उसके द्वारा सुखकारी उपादानों की उपलब्धि को जीवात्मा पर परमात्मा की दया ही मानते हैं।

रामानुज ने परमात्मा को जीव के कर्मों के फलों का प्रदाता माना है दयानन्द भी उनके इस विचार से सर्वथा सहमत हैं, परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि गुणों से जीवात्मा के कर्मफलों का नियमन करता है और जीवात्मा तत्तकर्मानुरूप फल देता है। इस कर्मफल नियम में परमात्मा किसी के साथ पक्षपात व्यवहृत नहीं करता, इसी हेतु उसे न्यायकारी भी माना गया है।

रामानुज ने एक लम्बी परम्परा के और अद्वैतवादी के विरूद्ध परस्पर विरोधाभासी


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सगुणत्व और निर्गुणत्व धर्मों को परमात्मा में माना है। जिसकी युक्ति उन्होंने अत्युत्तम रूप से दी है। परमात्मा असंख्य कल्याणकारी गुणों के कारण सगुण कहा या माना जाता है। और असतबद्ध दुर्गुणों के राहित्य के कारण निर्गुण भी प्रतिपादित किया गया है। दयानन्द उनके उक्त विचारों से पूर्ण तथा सहमत हैं। दयानन्द और रामानुज के अनुसार निर्गुण से यह तात्पर्य कदापि नही है कि उसमें गुणों का सर्वथा अभाव हो, क्योंकि परमात्मा के सर्वज्ञत्वादि गुण उसके सगुणत्व के प्रतिपादक है। अतः ऐसी कल्पना या अवधारणा किस प्रकार की जा सकती है कि परमात्मा में उचित गुणों का उत्क्षेपण नहीं होता इसलिए उसे निर्गुण कहा जाता है। जीवात्मा और जगत् के जो उससे एक निकट सम्बन्ध रखते हैं, के क्रमशः अल्पज्ञत्व, संसरणत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और जड़त्व एवं भोगत्व पराश्रयत्व आदि दुर्गुण उसमें नही होते हैं। वह सर्वथा विशुद्ध और अखण्डैकरस, निर्विकार और निबद्ध है, अतः इस रूप में वह निर्विकार है। इस प्रकार सगुण और निर्गुणत्वादि की धारणा परस्पर विरोधी न होकर सहास्तित्व सापेक्षा है, इस निष्कलंक ब्रह्म के स्वरूप की मान्यता में आचार्य शंकर भी सहमत हैं।

रामानुज भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की धारणा के साथ ब्रह्म को सगुण स्वीकार करते हैं किन्तु दयानन्द रामानुज के इस विचार के साथ सहमत नहीं है। दयानन्द के मतानुसार न तो परमात्मा उस रूप में सगुण है जिन रूपों से रामानुज का परमात्मा वह भक्त के आह्वान के पाषाणादि में अवतरण करता है। दयानन्द के मतानुसार परमात्मा की मूर्ति या सांसारिक अवतरण सर्वथा वेद विरूद्ध है। जैसा कि हम दयानन्द द्वारा रामानुजीय मत के खण्डन में बता चुके है।

रामानुज परमात्मा को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं। दयानन्द भी उनके उस विचार से सहमत हैं किन्तु रामानुज के उस विचार से दयानन्द सहमत नहीं हैं जिसमें परमात्मा में ही सृष्टि का सम्पूर्ण कारणत्व अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादाकारणत्व प्रस्थापित कर देते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रामानुज जगत् को परमात्मा का शरीर या विशेषण मानते हैं। जिस प्रकार विशेषण और विशेष्य अपृथक् सिद्धभाव से एक में ही रहते है उसी प्रकार जगत् और परमात्मा अन्योन्याश्रित रहते हैं, तस्माद् यदि वह अपृथक्भूत शरीर और विशेषण उपादान कारण है तो वस्तुतः वह उसका शरीरी या विशेष्य ही उपादान कारण है, परमात्मा इसी रूप में जगत् का उपादान है। जगत् अपनी प्रकृति के रूपनामात्मकावस्था से विहीन अपनी कारणावस्था में उस परमात्मा में ही अपृथक्रूप से रहता है। इस प्रकार यह जगत् उस परमात्मा का ही परिणाम है। किन्तु यहाँ यह बता देना पुनः आवश्यक होगा कि जिस प्रकार शरीर के शैशव, यौवन एवं वार्धक्यादि अवस्थाएं शरीरी के विकार न होकर शरीर के विकार हैं, उसी प्रकार यह प्रपञ्चात्मक जगत् परमात्मा का विकार न होकर प्रत्युत तत्शरीरभूत कारणावस्था प्रकृति का ही विकार है। इस प्रकार परमात्मा सृष्टि का उपादान कारण है। रामानुज के मत में परमात्मा अपने सृष्टिकारी संकल्पों के


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण उस सृष्टि का निमित्त कारण है। उसके एकोऽहं बहुस्यां आदि संकल्प के ही उस शरीरभूत प्रकृति का परिणाम उवस्था में परिणत करते हैं। रामानुज ने परमात्मा के ज्ञान, शक्ति, बलादि को सृष्टि का सहकारी कारण माना है।

दयानन्द, रामानुज के उक्त मत से सहमत नहीं है। उनकी प्रकृति अपने शील को किसी अन्य को समर्पित करके निर्व्यक्तितत्वा नहीं है। उसकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है, जो किन्हीं भी अर्थों में अपनी उपादानता के लिए पराश्रित नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र स्वाधीन है, तस्माद् परमात्मा सृष्टि प्रक्रिया में उस उपादानभूत प्रकृति से रचना कार्य करता है। दयानन्द परमात्मा को सहकारी कारण भी स्वीकार नहीं करते। सहकारी कारण जीवों और उस के कर्मों को मानते हैं। परमात्मा को केवल उन्होंने निमित्त कारण माना है।

दयानन्द का दृष्टिकोण रामानुज के दृष्टिकोण से यहाँ अधिक उचित एवं यथार्थवादी है। रामानुज का यथार्थवाद–कि प्रकृति स्वयं ही उपादान कारण है–परमात्मा का अतिशययतामहनीयता पूर्वाग्रह से सन्त्रस्त सा दिखायी पड़ता है। संभवतः रामानुज अद्वैतवाद के प्रति व्यामोह को त्यागने में असमर्थ रहे हैं। क्योंकि प्रकृति की सत्तामात्र उसका विशेषण या अपृथक् सिद्ध होने से ही नहीं बनती, जबकि महर्षि दयानन्द इस जगत् के याथार्थ्य को और भी अधिक महिमा मण्डित कर देते हैं, जब वे उसके साथ व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, अस्तु दोनों दार्शनिक परमात्मा के सृष्टि कर्तृत्व के उस के हेतु पर एकमत है, जिसमें उसके कर्तृत्व को निरंकुशता या स्वच्छन्द न मानकर प्रत्युत जीवात्माओं के कर्म विभावों से प्रेरित माना गया है।

रामानुज परमात्मा के सृष्टि–कर्तृत्व में उसका स्वार्थ, उसका लीलामात्र व्यसनत्व मानते हैं। दयानन्द परमात्मा के कल्याण–कारणत्व को आरोपित करते हैं। अर्थात् परमात्मा की करूणा यह है कि वह अपने दयालुत्वादि स्वभाव के कारण जीवात्माओं के कल्याण के लिए सृष्टि रूप कार्य में व्यापृत होता है। किन्तु प्रतीत यह होता है कि रामानुज का 'लीलामात्र केवल्यात्' परमात्मा के कल्याण गुणगणाकरत्व होने से कल्याणार्थ ही है।

अतः दोनों दार्शनिक परमात्मा के सृष्टि–विषयक, करूणा प्रयोजन पर भी एक मत प्रतीत होते हैं। यहाँ यह पुनः स्पष्ट करना आवश्यक है कि परमात्मा का यह करूणा प्रयोजन उस प्रयोजन का अग्रगामी न होकर अनुगामी है। जिसमें वह जीवात्माओं को उनके कर्मफलों के लिए सृष्टि–कर्तृत्व को वहन करता है।

अद्वैतवादी दर्शन में तीन भेद माने गये हैं–विजातीय, सजातीय और स्वगत। विजातीय भेद वह है, जो भिन्न–भिन्न पदार्थों में पाया जाता है। यथा– मनुष्य और पशु।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सजातीय भेद वह है, जो एक ही प्रकार के पदार्थ में रूपाकारगत होता है। यथा मानव–मानव में। स्वगत भेद किसी पदार्थ के स्वगत आवयविक भेद को कहते हैं। यथा मानव के हस्तपादादि।

रामानुज परमात्मा के प्रथम दोनों प्रकार के विजातीय और सजातीय भेदों को अस्वीकार करते हैं। समस्त पदार्थ उसी परमात्मा के रूप में हैं, प्रकार हैं, विशेषण हैं। अतः वे किसी भी प्रकार से विजातीय नहीं है और वे सजातीय भेद रूप हेतु नहीं है क्योंकि इस प्रकार या विशेषणभूत अभिन्न भेदों के (अचिद् और चिद् में) कोई भी सदृश नहीं है। परमात्मा सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट हैं तो जीवात्मा अल्पज्ञत्वादि गुणों के कारण और अधिक जड़त्वादि गुणों के कारण उस से हीन है। इस प्रकार तद्भिन्न न होने के कारण विजातीय भेद और तत्सदृश न होने के कारण वे किसी भी अन्य पदार्थ को परमात्मा का सजातीय स्वीकार नहीं करते । इसलिए वे चिद् और अचिद् को परमात्मा के स्वगत भेद मानते है।

दयानन्द परमात्मा के किसी सजातीय या स्वगत भेद की कल्पना नहीं करते। अखण्डैकरस, विशुद्ध एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मी परमात्मा के कोई समान नहीं है, अतः उसका कोई सजातीय नहीं है और कोई अभिन्न नहीं है, तस्माद् कोई स्वगत भेद भी नहीं है।

दयानन्द के अनुसार जीवात्मा और जगत् अपनी–अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। वे परमात्मा से गुणों में न्यून हैं और स्वयं जीवात्मा और जगत् भी परस्पर अभिन्न नहीं है। एक ज्ञान और चेतन है, दूसरा जड़। अतः वे भी परस्पर विजातीय रूप ही हैं। इस प्रकार दयानन्द एक मात्र विजातीय भेद को स्वीकार करते हैं।

रामानुज की दार्शनिक विचारधारा एक धर्म और दर्शन का समन्वय प्रस्तुत करती है। भक्तिधारा से आप्लावित उनका मानस परमात्मा की कृपा का पदे–पदे क्षुधार्त प्रतीत होता है। यही कारण प्रतीत होता है कि जिसमें वह किसी प्रकार का जीव और जगत् के कल्याण के लिए उसके साथ जुड़ा हुआ है। कहीं जीवात्मा को कर्तृत्व की प्रेरणा हेतु कहीं उसकी भक्ति की आप्लावित धारा को ग्रहण करने हेतु तो कहीं नियमन हेतु। वस्तुतः प्रतीत होता है कि यह सभी प्रकार परमात्मा के तत्तद् गुणों की भिन्न–भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में ही समाविष्ट है। कहीं वह अपने किन्हीं दो गुणों से आविष्ट हो रहा है तो कहीं अपने किन्हीं अन्य दो गुणों से और वहीं अपने उस अनन्त स्वरूप के सम्पूर्ण गुणदायक स्वरूप से जिससे वह अन्यत्र(बैकुण्ठ) में भी विद्यमान है। जो सब कुल मिलाकर रामानुज के भक्ति संपूरित मानस का कौतुक प्रतीत होता है या उस वासना का–जिसकी वह आराध्य को मानस से महत्तर प्रतिपादित करने की क्षुधा से व्याकुलित है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानन्द रामानुज के उक्त मतों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं कि अखण्डैकरस परमात्मा के विभिन्न गुणों की भिन्न–भिन्न स्थलों पर संस्थापना करके या अवतारणा करके उसके स्वरूप के पूर्णत्व को खण्डित रूप में प्रतिपादित नहीं करना चाहते हैं।

रामानुज ने परमात्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का खण्डन किया है। वे परमात्मा को एक मात्र शास्त्रैकगम्य मानते हैं किन्तु महर्षि दयानन्द अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण रामानुज से आगे बढ़ गये प्रतीत होते हैं। यही कारण हैं कि दर्शन जगत् को एक अपूर्व उपलब्धि देते हुए परमात्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण की संस्थापना करते हैं।

दोनों दार्शनिक इस बात पर भी एक मत हैं कि विश्व का समस्त ब्रह्माण्ड एक ही परमेश्वर है जो सृष्टि, पालक एवं प्रत्याहारक है। अन्य सभी पदार्थ, वे चाहे अलौकिक शक्तियां हों या जागतिक अतुल्यसामर्थ्य प्राप्त मुक्तात्माएं। उसके समक्ष सभी अकिंचन हैं। वही एक परमसत्ता है जो इस जगत् का नियमन करती है, जो सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार दोनों दार्शनिक एकेश्वरवादी हैं।

आचार्य रामानुज ने अद्वैतवाद के ब्रह्मवाद का प्रबल रूप से खण्डन किया है। खण्डन में महत्त्वपूर्ण पक्षों में उन्होंने अद्वैतवादाभिमत ब्रह्म के ज्ञानमात्रस्वरूपत्व, निर्गुणत्व अविद्याश्रयत्व एवं जगत् के सन्दर्भ में तद् विवर्तवाद का खण्डन किया है।

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी पक्षों पर विचार किया है। जहाँ आचार्य रामानुज स्वाभिमत्य सिद्धान्त होने के कारण ब्रह्म के जगत्–उपादानत्व का खण्डन नहीं कर पाये है, महर्षि दयानन्द ने वहां यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर शंकराचार्य स्वीकृत ब्रह्म के जगदुपादान विषयक सिद्धान्त का भी प्रबल तर्कों के आधार पर उच्छेदन किया है।

ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति के विषय में दयानन्द की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्मा की सत्ता की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से होती है, क्योंकि श्रोत्र, त्वचा, नेत्रादि का शब्द स्पर्श रूप आदि सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से उन का ज्ञान होता है, यही प्रत्यक्ष कहलाता है। मन और इन्द्रियों के संयोग से गुणों का प्रत्यक्ष होता है न कि गुणी का। गुणी का प्रत्यक्ष आत्मा युक्त मन से होता है। ऐसे ही इस संसार की प्रत्यक्ष रचना को देखकर उस के नियम ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से ईश्वर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। गुणों से भिन्न गुणी नहीं जाना जा सकता है। अतः गुणों के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही गुणी का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सम्भव है, इसलिए ईश्वर के दयालुता, न्यायकारिता और सृष्टि कर्तृत्व वैचित्र्यादि गुण प्रत्यक्ष होने से ईश्वर का मानस प्रत्यक्ष हो जाता है। **"त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि"** श्रुति का वचन दयानन्द के मत के समर्थन में प्रमाण है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## सन्दर्भ संकेत

८४. अश्नुतेव्याप्नोति सर्व जगदिति अश्वः। कालो अश्वोवहति–अथर्ववेद,१६–६–५ ।। बृहदा०, १–१–१ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्यशिरः।

८५. यजुर्वेद का पुरूष सूक्त– ३१ ।।

८६. बृहदा०, १–४–१ ।।

८७. बृहदा०, १–४–८ ।।

८८. बृहदा०, २–४–१४ ।।

८९. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां.....स योऽयमात्मा इदममृतामिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।। बृहदा० २–५–१ ।।

९०. बृहदा० ५–१–१ ।।

९१. सत्येनोत्तभिताभूमि.....दिविसोमो.....अथर्व० १४–१–१–१ ।।

९२. ईश्वर जिसके कि ब्रह्म परमात्मा आदि नाम हैं। जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिसके गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि कर्त्ता–धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों के कर्मानुसार सत्य न्याय के फलदाता आदि लक्षण युक्त है। उसी को परमेश्वर मानता हूँ। (स० प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश), पृष्ठ ७३५–लक्षण ।।

९३. यतो इमानि भूतानि जायन्ते–तै० उ० भृगुव० अनु० १ ।।

९४. ओ३म् खं ब्रह्म–यजु० ४०–१ ।।

९५. सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ–१ ।।

९६. सत्यार्थ प्रकाश–७ समु०, पृष्ठ २१५ ।।

९७. सत्यार्थ प्रकाश–७ समु०, पृष्ठ २१५ ।।

98. Ibid, p. 480

99. He can not undo the past commit since, make another God or make him himself not exist. History of western Philosophy-B. Russel, p. 480.

100. Well we can not you imagine that God will be willing to be, whether in words or deeds or to put forth a phantom of himself? "I can not say" republic in five Great Dialogues-p. 285-Plato. Translated by B. Jowett, Published by Walter.J.Block.

१०१. गौडपादीय माण्डूक्य कारिका, २–३२ पर शांकर भाष्य।

१०२. जयतीर्थ की न्याय सुधा, पृष्ठ १२४ ।।

१०३. एवमेवाद्वितीयम्, छान्दोग्य–६–२–१–न द्वितीयो न तृतीय न चतुर्थ–यजु० दयानन्दभाष्य।

104. The Vedanta Philosophy, p. 72- Max Muller- 2 nd. Rs.pt. Calcutaa-1955.

**प्रो.जयदेव वेदालङ्कार**
**अध्यक्ष-दर्शन विभाग एवं**
**डीन-प्राच्य विद्या संकाय,**
**गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,हरिद्वार**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# वेदों में राष्ट्रिय भावना

अपने राष्ट्र की भूमि, जनसमूह, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, जीवनदर्शन आदि के प्रति देशवासियों के हृदयों में नैसर्गिक स्वाभिमान राष्ट्रिय भावना कही जाती है। यही वह भावना है जिसके वशीभूत होकर लोग अपने राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व हंसते–हंसते न्योछावर कर दिया करते हैं। इस उदात्त भावना के बिना कोई राष्ट्र स्वाभिमान से जीवित नहीं रह सकता । परतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र कराने के लिए अनेक वीर इसी गरिमामयी भावना से ओत–प्रोत होकर अपना सर्वस्व राष्ट्र यज्ञ में आहूत कर देते हैं।

हमारा सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है। आदिकवि की अमर कृति रामायण, महर्षि वेदव्यास की महनीय कृति महाभारत, कविकुलगुरू कालिदास के काव्य संसार रघुवंश आदि समस्त श्रेष्ठ रचनाओं में राष्ट्रीयता की यह भावना भास्वर रूप में विद्यमान है। इन समस्त काव्य–सरिताओं में यह जो राष्ट्रीयता का पीयूष प्रवाहित हो रहा है, इसकी गंगोत्री है–सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के पावन अन्तःकरणों में प्रवाहित वेद–ज्ञान।

हमें सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों की वाणी में राष्ट्रीयता का गौरव–गान सुनायी देता है। परन्तु लौकिक कवियों एवं वैदिक ऋषियों की राष्ट्रीयता में एक मौलिक अन्तर यह है कि लौकिक कवियों का राष्ट्र–प्रेम अपने देश की सीमाओं एवं स्वदेशवासियों तक सीमित है, जबकि वेद की राष्ट्रीयता सम्पूर्ण वसुधा और प्राणिमात्र को अपने आंचल में समेटे हुए है। वेद–प्रतिपादित राष्ट्रीयता की भावना प्रत्येक देशवासी को समान रूप से प्रेरित करती है।

वेदों में स्थान–स्थान पर मातृ–भूमि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। वैदिक ऋषि अपनी मातृ–भूमि के वन–पर्वत, सरित्सागर आदि के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं, वहां निवास करने वाली प्रजाओं के सांस्कृतिक जीवन पर भी वह मुग्ध है। भिन्न–भिन्न भाषा–भाषी, भिन्न–भिन्न प्रकार की वेशभूषा धारण करने वाले लोगों को देखकर उसका मन–मयूर प्रसन्नता से नृत्य करने लगता है।

अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व साहित्य में अनुपम है। इस सूक्त में राष्ट्र–प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित हो रही है, जिसमें अवगाहन कर रोम–रोम


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
राष्ट्र–भक्ति की भावना से पुलकित हो उठता है। अथर्ववेद का ऋषि जन्म–भूमि के प्रति दिव्य–भावों के स्फुरण के लिए कहता है–यही वह भूमि है जिसमें हमारे पूर्वजों ने नाना प्रकार के महान् कार्य किये, यहीं पर देवों ने असुरों को पराजित किया। यहीं गौ आदि अमृततुल्य दुग्ध प्रदान करने वाले, अश्वादि द्रुत गति से दौड़ने वाले पशुओं का और मुक्त गगन में उड़ने वाले पक्षियों का सुन्दर निवास है। ऐसी यह मातृ–भूमि हमें तेज और ऐश्वर्य से परिपूर्ण कर दे–

**यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।**
**गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।**

(अथर्व० १२/१/५)

यह मातृभूमि कितनी श्रेष्ठ है जिसकी रक्षा देवों के समान कुशल विद्वान् राजा और प्रजा सदैव जागरूक रहकर बिना प्रमाद के करते है–

**यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।**

(अथर्व० १२/१/७)

सम्पूर्ण विश्व में स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य वह वाक्य जिसके प्रत्येक वर्ण में देश–प्रेम का ज्वालामुखी छिपा हुआ है। इसी पृथिवी सूक्त में है–

**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।**

(अथर्व० १२/१)

भूमि को माता कहकर पुकारना और पर्जन्य अर्थात् मेघ को पिता कहकर सम्मानित करना, क्या यह नहीं दर्शाता कि देश की सम्पूर्ण समृद्धि अथवा अर्थनीति वर्षा पर अर्थात् वर्षा पर आश्रित कृषि पर निर्भर है। यह मातृभूमि सबको उत्पन्न करने वाली, सब प्रकार के अन्न–औषधियों की माता, स्थिर रूपा, सबको आश्रय देने वाली, धर्म से धारण की हुई, कल्याणकारिणी और सुख–दात्री है, ऐसी इस मातृभूमि की सेवा हम सदा करते रहें–

**विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।**
**शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा।।** (अथर्व० १२/१/१७)

भूमि सूक्त में भाव–प्रवण प्रार्थना करते हुए निवेदन किया गया है–हे मातृभूमि! तुमसे जो गन्ध उत्पन्न हो रहा है, जिस गन्ध को औषधियां धारण करती हैं, जिसको जल धारण कर रहे हैं, जिसको सुन्दर युवक और युवतियां प्राप्त कर रही हैं, उस अपनी गन्ध से मुझ को भी सुन्दर गन्ध वाला बना दो। और कोई भी हमसे द्वेष न करे–

**यस्ते गन्धः पृथिवी संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।**
**यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु।**
**मा नो द्विक्षत कश्चन।** (अथर्व० १२/१/२३)

हमारे राष्ट्र की यह भूमि स्थूल रूप से देखने पर केवल शिलाओं, पत्थरों और


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धूल मिट्टी का ढेर प्रतीत होती है किन्तु राष्ट्रवासियों द्वारा सम्यक् रूप से धारण किये जाने पर, इसे प्राणों से भी प्रिय समझ लेने पर यह धरती राष्ट्रवासियों को आश्रय देने वाली मातृभूमि बन जाती है। इस माँ के वक्षःस्थल में हिरण्यादि पदार्थ छिपे हुए हैं। यह अपने भक्तों को इन सुवर्णादि से परिपूर्ण कर देती है, ऐसी मातृभूमि को हम नमन करते हैं–

**शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।**
**तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।।**

(अथर्व० १२/१/२६)

ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, वसन्त, हेमन्त और शिशिर ये ६ ऋतुएं इसकी शोभा बढ़ाती हैं। इसी भूमि पर यजुर्विद् यज्ञीय स्तूपों का निर्माण करते हैं, ब्राह्मण ऋग्वेद के मन्त्रों एवं सामवेद के मधुर गान से परमात्मा की अर्चना करते हैं। इसी भूमि में हम मानव गाते हैं, नाचते हैं, योद्धा युद्ध करते हैं, शोर मचाते हैं, दुन्दुभि बजाते हैं, ऐसी यह पृथिवी माता हमारे शत्रुओं को मार भगावे ओर हमें शत्रुरहित कर देवे–

**यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याव्यै लबाः।**
**युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।**
**सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु।।**

(अथर्व० १२/१/४१)

अथर्ववेद के अतिरिक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद में वर्णित राष्ट्रीयता के दिव्यभाव हृदय आनन्द विभोर कर देते हैं।

एक देश में जन्म लेने वाले हम सब देशवासियों में एक रागात्मक सुदृढ़ बन्धुता का उदय होता है जिससे प्रेरित होकर हम लोग छोटे–बड़े(ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व) का भेदभाव भूलकर और सबको एक ही धरती माता की गोद से उत्पन्न हुआ(पृश्निमातरः) मानकर अपनी मातृभूमि के विकास एवं रक्षा में पूर्ण शक्ति से लगने में ही गौरव अनुभव करते हैं–

**अज्येष्ठास अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।**

(ऋग्० ५/६०/५)

वैदिक संहिताओं में मातृभूमि की रमणीयता, सम्पन्नता तथा उपयोगिता का वर्णन करके देशवासियों की मनोभूमि में अपनी जन्मभूमि के प्रति आत्मगौरवपूर्ण ममता के बीज बोए हैं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में मातृभूमि का स्थान बहुत ऊंचा है। वे इसे स्वर्ग और अन्तरिक्ष, माता और पिता तथा साक्षात् देवता मानते हैं। उन्हें समाज के पांचों वर्गों में इसी का रूप दृष्टिगोचर होता है। वे इसे ही अपना अतीत और अनागत समझते हैं। वे इसके प्रति कृतज्ञ होकर इसका गुण–गान करते हैं, क्योंकि यह उनकी कल्याण–कारिणी माता है, निश्चित एवं पवित्र नियमों का पालन करने वाली है, विपुल शक्तिदायिनी,


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
नित्यनूतन, विशाल, सुखद एवं यशदायिनी है। उनका विश्वास है कि सुदृढ़ एवं सुरक्षित नौका पर चढ़कर लोग जिस प्रकार दुर्गम नदी को निर्विघ्न पार कर लेते हैं, उसी प्रकार वे भी सर्वसुखसम्पन्न मातृभूमि में रहकर अपनी जीवन सरिता को आराम से पार कर लेंगे। उन्हें विश्वास है कि उनकी मातृभूमि उनका त्रिविध कल्याण अवश्य करेगी –

**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।**
**विश्वे देवा अदितिः पंच जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।**
**महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।**
**तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।।**
**सुत्रामाणं पृथिवीं धामनेह सं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।**
**दैवी नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारूहेमा स्वस्तये।।**
**वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।**
**यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्।।**

(अथर्व० ७/६/१–४)

कोषाकारों ने अदिति शब्द का अर्थ पृथिवी भी किया है।[१]

अनेक पाश्चात्य चिन्तकों तथा उनके अनुगामी भारतीय राजनीतिशास्त्र के लेखकों का विचार है कि राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता भारत को पश्चिम की देन हैं। वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने पर यह धारणा सर्वथा भ्रान्त एवं मिथ्या प्रतीत होती है। वेदों में राष्ट्र की परिकल्पना स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है। राष्ट्र के सर्वविध कल्याण के लिए राष्ट्र प्राप्ति यज्ञ का वर्णन यजुर्वेद के ६, १०, अध्याय में विस्तार से किया गया है। यहाँ तक कि विवाह संस्कार के अवसर पर भी राष्ट्रभृत् यज्ञ का विधान किया गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १७३वें सूक्त में ऋषियों तथा राष्ट्रनायकों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे दृढ़ता एवं स्थिरता से अपने राष्ट्र की रक्षा करें और प्रजाजनों की श्रद्धा प्राप्त करें। राष्ट्र रक्षा के लिए राष्ट्रनायक अपने कुल पुरोहितों से प्रार्थना करते थें कि युद्धभूमि में विजयश्री प्रदान करने वाली अभीवर्त नामक मणि को वे उनकी भुजा में बांधे, ताकि उसके प्रभाव से वे अपने राष्ट्र के आक्रामक शत्रुओं को पराजित कर सकें और अपने राष्ट्र को समृद्ध कर सकें।[२]

ऋषियों की दृष्टि में विशाल एवं प्रजा में प्रसन्नता का आधान करने वाला राष्ट्र ही प्रशंसनीय होता है–

**युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यो सेनृभिररज्जुभिः सिनीथः।**
**परि नो हेळो वरूणस्य वृज्या उरूं न इन्द्रः कृणवदु लोकम्।।**

(ऋग्० ७/८४/२)

यजुर्वेद में एक महान्, शक्ति सम्पन्न, आनन्द एवं ऐश्वर्य से परिपूर्ण राष्ट्र की कल्पना करते हुए जो प्रार्थना की गयी है, वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।[३]


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्र की समृद्धि के लिए इससे उत्तम प्रार्थना हो ही नहीं सकती। नवदम्पती को आशीर्वाद देते समय भी वेद उन्हें अपने राष्ट्र का स्मरण कराता है। वर–वधू को राष्ट्र की समृद्धि करते हुए अपनी समृद्धि करते रहने का आशीर्वाद दिया गया है–

**अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।**
**रम्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ।।**

(अथर्व० ६/७८/२)

ऋग्वेद में राष्ट्रनायक को पांचजन्य कहा गया है–

**स वज्र भृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा।**
**चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो भरूत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।।**

(ऋग्० १/१००/१२)

इसका भाव यह है कि–समाज के पांचों प्रकार के जनों का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद जाति के जनों का अर्थात् समाज के सभी प्रकार के जनों का हित करने वाला। राष्ट्रनायक से यह भी आशा की गई है कि वह बिना किसी संकोच के समाज के पांचों ही प्रकार के जनों के घरों में जाया करे–

**यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद् दमे दमे। कविर्गृहपतिर्युवा।।**

(ऋग्० ७/१५/२)

ऋग्वेद की समाप्ति जिस संगठन सूक्त से होती है, उसमें राष्ट्रवासियों को संगठित होकर राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने का उपदेश दिया गया है। हम मिलकर चलें, मिलकर बोलें, मिलजुलकर ज्ञान प्राप्त करें, हम सबके हृदय समान हों .....आदि।

**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
**देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।**

(ऋग्० १०/१६१)

हमें वैदिक ऋचाओं में राष्ट्र की सरिताओं, पर्वतों, वनों आदि के प्रति असीम प्रेम की भावना उपलब्ध होती है। पृथिवी के समान सरिताओं के प्रति भी मातृत्व की भावना वेदों में विद्यमान है–

**या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा।**

(ऋग्० १/४६/२)

**अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।**
**अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।।**

(ऋग्० २/४१/१६)

पर्वत वर्षा करते हैं, अपनी वनस्पतियों द्वारा आरोग्य प्रदान करके मनुष्यों का कल्याण करते हैं–

**शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।**
**आदित्यैर्नो अदितिः श्रृणोतु यच्छन्तु नो मरूतः शर्म भद्रम्।।**

(ऋग्० ३/५४/२०)


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सबसे बढ़कर अथर्ववेद के स्वराज्य सूक्त में राष्ट्रीयता और स्वराज्य प्राप्ति की भावना कूट–कूट कर भरी हुई है। १६ ऋचाओं में स्वराज्य के जो गीत गाये गये हैं, इन्हें सुनकर मृतप्राय शरीर में भी नवजीवन का संचार हो सकता है।

राष्ट्रनायकों को देश की रक्षा किस प्रकार करनी चहिए, इस विषय को प्रतिपादित करने वले सैकड़ों मंत्र वेदों में विद्यमान हैं। अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों का वर्णन राष्ट्र की सुदृढ़ता एवं अपराजेयता की ओर स्पष्टसंकेत करता है।

वेदों की अनेक ऋचाओं में इला(मातृभूमि) सरस्वती (मातृ संस्कृति) और अपनी मही किं वा भारती(मातृभाषा) के प्रति आदर प्रकट किया गया है, जो राष्ट्र की एकता का संवाहक है–

**इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।।**

(ऋग्० ५/५/८)

ऋषियों ने समग्र राष्ट्र की परिकल्पना राष्ट्र देवी के रूप में की है, जो अमूर्त्त राष्ट्र शक्ति अथवा राष्ट्र चेतना का ही मानवी करणात्मक मूर्त्तरूप है। ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त में और अथर्व वेद के चतुर्थ काण्ड के ३०वें सूक्त में इसका हृदयहारी वर्णन देखा जा सकता है।

राष्ट्र को समुन्नत करने के उत्तमोत्तम उपाय वेदों में बताये गये हैं। राष्ट्र मंगल–कामना की प्रचुरता भी मन्त्रों में निहित है। इस ब्रह्माण्ड के समस्त देवों ओर प्राकृतिक तथा वैकृतिक तत्त्वों से विस्तारपूर्वक राष्ट्र मंगल की प्रार्थना की गयी है।[४] न केवल राष्ट्र मंगल की अपितु अन्तर्राष्ट्रीय मंगल की कामना भी हमें वेदों में दृष्टिगोचर होती है।

वेदों में वीरता की भावना विपुल मात्रा में प्राप्त होती है, जो कि राष्ट्रीयता की पोषिका है। राष्ट्र प्रेम एवं वीरता के भावों में रंगा हुआ युवा गा उठता है–

**प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो,**
**निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः।**
**ऊर्वन्तरिक्षमन्वेमि।**

(यजु० १/७)

राक्षसों को मैंने दग्ध कर दिया है, पूर्णतया दग्ध कर दिया है। शत्रुओं को मैंने दग्ध कर दिया है। कोई राक्षस ओर कोई शत्रु बाकी नहीं छूटा है। अब मैं स्वच्छन्द आकाश में विचरण कर रहा हूँ। इसी प्रकार–

**बाहू में बलमिन्द्रियं, हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।**
**आत्मा क्षत्रमुरो मम।**

(यजु० २०/७)


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् मेरी भुजाओं में इन्द्र की सी बल है, हाथों में कर्म और सामर्थ्य है। मेरी आत्मा दुःखियों के दुःख दूर करने वाली और वक्षःस्थल प्रहारों को सहने वाला है।

वेद के उद्बोधनों में शत्रु सेना को पराजित कर विजय–प्राप्ति का सन्देश राष्ट्रीयता को मुखरित करता है–

**स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीड् उत प्रतिष्कमे।**
**युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।।**

(ऋग्० १/३६/२)

हे वीरो! सुदृढ़ होकर तुम्हारे शस्त्र शत्रुओं को भगा दें। तथा शत्रु के प्रहारों को रोक सकें। तुम्हारी सेना, तुम्हारा संगठन प्रशंसा के योग्य हों–

**उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।**
**सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावता।।**

(अथर्व० ११/१०/१)

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में राष्ट्रीयता का शाश्वत सन्देश देशवासियों को राष्ट्र–प्रेम की प्रेरणा देता रहेगा।

**सन्दर्भ संकेत**


१. (क) वामन शिवराम आप्टे– संस्कृत हिन्दी कोष पृ० २२
(ख) एम० एम० विलियम, संस्कृत –इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १८
२. ऋग्वेद, १०/१७४
३. यजुर्वेद, २२/२२
४. ऋग्वेद, ७/३५



**प्रो० महावीर, डी०लिट्०**
**कुलसचिव,**
**गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# क्रान्ति का सूरज

देखो, देखो,
वह क्रान्ति का सूरज उदय हो रहा है.....
सुनहरी आग की लपटें निकल रही हैं.....
भारत जाग रहा है....
नव–निर्माण के सुपथ पर
भारत अग्रसर है।

पाखण्ड के, भ्रष्टाचार के,
विलासिता के विरूद्ध,
विद्रोह का झंडा बुलन्द है।

इस सुनहरी आग में जलेंगे,
दोमुखी बातें करने वाले।
भ्रष्टाचारी, आततायी, विलासी,
जो हर दम भोग–विलास में लिपटे रहते हैं
और गरीबों के पेट काटते हैं।

इस सुनहरी आग में जलेगी
नपुंसकता; कमजोरी,
मुखमरी और गरीबी।

देखो, देखो,
नई उषा आई।
क्रान्ति का सूरज लाई,
नव जीवन लाई,
नवोत्साह लाई,
नव–निर्माण के रथ पर सवार होकर
नई उषा आई।
देखो, देखो,
वह क्रान्ति का सूरज उदय हो रहा है।

कुमार भारती (बलभद्र भारती)
'गौवर्धन' ए-१५ ए, विजय पथ,
तिलक नगर , जयपुर -३०२००४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# आओ माँ का श्रृंगार करें

आओ, भारत माँ का श्रृंगार करें।
हजारों दुःशासन,
उसका चीर हरण करने पर उतारू है।
आओ, गोपाल कृष्ण बनकर,
माँ का चीर विस्तार करें।

प्रकृति ने जिसको कश्मीर रूपी मुकुट प्रदान किया है,
हिमालय जैसे धवल केश।
पंजाब, राजस्थान जिसके खड्ग भुज है,
असम, नागालैंड, मणिपुर जिसका त्रिशूल।
दिल्ली जिसका दिल है,
और नागपुर जिसकी नाभि।
सिन्धु और गंगा जिसके पयोधर हैं,
झरियां जिसका जठर।
गुजरात और उड़िसा जिसके नितम्ब है,
बन्ग जिसकी तर्जनी।
आन्ध्र और महाराष्ट्र जिसकी जंघाएं है,
केरल और तमिल जिसके पद श्री।
जिसके चरण कमलों को
प्रतिक्षण धोते हुए सागर भी फूला नहीं समाता।

आओ, भारत माँ का श्रृंगार करें।
दुष्ट दुःशासनों का संहार करें।
गोपाल कृष्ण बनकर,
माँ के चीर का विस्तार करें।

**कुमार भारती (बलभद्र भारती)**
**'गौवर्धन' ए-१५ ए, विजय पथ,**
**तिलक नगर, जयपुर-३०२००४**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः
## इन्द्रदेवता- लघुमन्त्रसप्तकम् (३)
## इन्द्र देवता के अधूरे छन्दों वाले मन्त्र

*(१) विश्वतो दावन् ! हम याचक साधकों को धन व बल से भर दे।*

**विश्वतोदावन् विश्वतो न आभर। यं त्वा शविष्ठमीमहे।।** साम ४३७

ऋषिः –त्रसदस्युः, वामदेवो वा। देवता–इन्द्रः। छन्दः –द्विपदा पङ्क्तिः।

**शब्दार्थ-** हे(विश्वतोदावन्)सब ओर से दानों की वर्षा करने वाले, ऐश्वर्य शालिन्! (नः विश्वतः आभर) आप हमारे शरीर, मन, बुद्धि का सब दृष्टियों से भरण कीजिये। क्योंकि हम (त्वा) तेरे पास, (यं शविष्ठम्) जो सर्वाधिक बली और धनी है, (ईमहे)आए हैं, और याचना कर रहे हैं।

ईमहे–ईङ्गतौ, ईमहे याञ्चायाम्, कौत्सनि०। शवः धनं नि० २–१०, बलम् नि० २–६।

*(२) समय(ऋतु) अनुकूल काम करने वाला ब्रह्मा (प्रमुख) बनता है।*

**एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे।।** साम ४३८

ऋषिः –त्रसदस्युः, वाम देवो वा। देवता–इन्द्रः। छन्दः –द्विपदाविराट्।

**शब्दार्थ-** (एषः) यह सर्वतोदावन्, सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही (ब्रह्म) ज्ञान, बल, गुण आदि में सर्वतोमहान् अथवा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अथवा सबको बढ़ाने वाला है। (यः ऋत्वियः) यही सब ऋतुओं का रचयिता तथा सब ऋतुओं में सदा स्तुति करने योग्य है। अत एव(इन्द्रः नाम श्रुतः) परमेश्वर नाम से विख्यात है। (गृणे) मैं इसी की स्तुति करता हूँ।(इदि–परमैश्वर्ये)

**द्वितीय अर्थ-** (यः ऋत्वियः) जो समय को देखकर काम करता है, (एषः ब्रह्मा) यही महान् बनाता है, अथवा किसी वस्तु का उत्पादन कर सकता है, और (इन्द्रो नाम श्रुतः) ऐश्वर्यशाली या दानी नाम से विख्यात हो जाता है। (गृणे) मैं ऐसे ही व्यक्ति का गुणगान करता हूँ।

**तृतीय अर्थ-** (यः ऋत्वियः) जो ऋतु के अनुसार खान, पान कर के स्वस्थ रहता है, और (इन्द्रः नाम श्रुतः) इन्द्रियजयी होने से सदाचारी या सन्त महात्मा नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।(एषः ब्रह्म) ऐसे ही व्यक्ति को महापुरूष या महात्मा कहते हैं। (गृणे) ऐसे ही व्यक्ति का गुणगान व स्मरण किया जाता है–करता हूँ।

**चतुर्थ अर्थ-** (यः ब्रह्मा) जो सब गुणों, कर्मों और स्वभावों की दृष्टि से सर्वतोवृद्ध,


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
होने के कारण ब्रह्मा कहलाता है, और (इन्द्रः नाम श्रुतः) सब ऐश्वर्यों का स्वामी होते हुवे भी, इन्द्रियजयी संयमी होने और इन्द्र का समान ख्यान=सखा होने के कारण इन्द्र (राजर्षि या राजा) नाम से विख्यात हो जाता है, वही (ऋत्वियः) प्रत्येक ऋतु=वातावरण=देश में स्तुत्य होने के कारण 'सम्राट्' बनता है। ऐसे ही व्यक्ति की स्तुति करता हूँ।

### *(३) निष्क्रिय व्यक्ति को धन और धन लोभी को शान्ति नहीं मिलती।*

**शं पदं मघ रयीषिणे, न, काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम्।।** साम ४४१

ऋषिः –त्रसदस्युः, वार्भ देवो वा। देवता–इन्द्रः। छन्दः –द्विपदा पंक्ति।

**शब्दार्थ-** (रयीषिणे मघं शं पदं न) धन की कामना करने वाले को, पापशून्य सम्पद् रूप शान्त स्वरूप प्राप्य परमेश्वर नहीं मिलता है। (अव्रतः कामं न हिनोति) अव्रती और अकर्मण्य व्यक्ति अपनी कामना को पूर्ण नहीं कर पाता है, इतना ही नहीं, (शं पदं रयिंन स्पृशत्) शान्तिप्रद और प्राप्त करने योग्य सम्पत् (परमेश्वर) की झलक भी नहीं पा सकता है। पदम्–परमेश्वर–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। कठोपनिषद् मघम्–मा+ अधम्=पाप शून्य=पवित्र।

### *(४) प्राण साधक और सात्विक अन्नभोजी ही पूजनीय की अर्चना कर पाते हैं।*

**अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः।।** साम ४४५

ऋषिः –त्रसदस्युः वाम देवो वा। देवता– इन्द्रः। छन्दः – द्विपदा विराट्।

**शब्दार्थ-** (स्वर्काः) सात्विक अन्न खाने वाले, और (मरुतः) प्राण साधना करने वाले मानव (अर्कं अर्चन्ति) पूजनीय परमेश्वर की अर्चना करते हैं। (स इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (युवा श्रुतः) दुःख, दोषनाशक और सुख शान्ति प्रापक प्रसिद्ध है। वह परमेश्वर (आस्तोभति) सब को सहारा देता है और कष्टों को रोकता है।

सु+अर्काः – अर्कः अन्ननाम। नि० २–७, मरुतः =प्राणा वै मारुताः। शत० ६–३–१–७। युवा–युमिश्रणामिश्रणयोः। स्तोभति–स्तु भु स्तम्भे। अर्कः देवो भवति यदेनमर्चन्ति। निरु० ५–५

### *(५) वासना विनाशक परमेश्वर की स्तुति किया करो, इससे वह प्रसन्न होता है।*

**प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते।।** साम० ४४६

ऋषिः –त्रसदस्युः वामदेवो वा। देवता–इन्द्रः। छन्दः –द्विपदा पंक्तिः।

शब्दार्थ– (वृत्र हन्तमाय) पाप वासनाओं और पपियों को नष्ट करने वाले, (विप्राय) साधकों की कामनाओं को विशेष रूप से पूरण करने वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गाथं गायत) ऐसे स्तोत्र का गायन करो, (यं जुजोषते) जिसे वह प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

### *(६) परमेश्वर के स्तुतिगान से कुटिलता और कर्महीनता दूर होती है।*

**ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ।।** साम० ४३६

ऋषिः –त्रसदस्युः। देवता–इन्द्रः। छन्दः –द्विपदा पंक्तिः।

शब्दार्थ– (ब्रह्माणः) ब्रह्म=परमात्मा, ज्ञान और तप की कामना करने वाले साधक (अर्कैः) वेदवचनों व स्तोत्रों द्वारा (इन्द्रं महयन्तः) परमेश्वर की महिमा का वर्णन करते हुवे (अहये हन्तवा) अकर्मण्यता व कुटिलता और इनके प्रयोक्ताजनों को नष्ट करने के लिए, स्वयं वैसा बनकर, उसके अनुयाइयों की संख्या को (अवर्धयन्) बढ़ाते हैं।

परमेश्वर पूर्ण होने से न घटता है, न बढ़ता है। उसके जैसा उसका सखा बनकर साधक मानो उसे बढ़ाता है।

### *(७) नदीजल की तरह तेरी नियामतें सब को मिलती रहें।*

**वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद् यन्तु रातयः।।** साम० ४५३

ऋषिः –वामदेवः। देवता–इन्द्रः(विश्वे देवाः)। छन्दः –द्विपदा गायत्री।

शब्दार्थ– हे(इन्द्र) परमेश्वर और तेरी व्यवस्था में कार्यकरने वाली सभी दिव्य शक्तियों ! (त्वत् रातयः वियन्तु) आप के दान या नियामतें, वैसे ही विविध दिशाओं में, विविध प्राणियों को प्राप्त होती रहें, (यथा) जैसे (स्रुतयः) नदियों के प्रवाह (पथा वियन्ति) स्वाभाविक रूप से अपने मार्ग से चलते हुवे विविध दिशाओं में पहुंचकर विविध प्राणियों को लाभान्वित करते रहते हैं।

**इन्द्रो विश्वस्य राजति।।** साम ४५६

ऋषिः –मैत्रा वरूणो वसिष्ठः। देवता–इन्द्रः। छन्दः –एकपदा गायत्री।

शब्दार्थ– (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वस्य राजति) विश्व का राजा या व्यवस्थापक है। अथवा कह सकते हैं कि वह सम्राट है, और अग्नि, वायु, सूर्य आदि 'विश्वे देवाः' उसकी शक्तियां है। इसलिये सर्वानुक्रमणीकार ने मन्त्र में 'इन्द्र' देवता का स्पष्ट उल्लेख होते हुवे भी, इस मन्त्र का देवता 'विश्वे देवाः' लिखा है।

**मनोहर विद्यालङ्कार**
**श्यामसुन्दर, राधेश्याम, ५२२**
**कटरा ईश्वर भवन, खारी बावली**
**दिल्ली-६**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण क्या वैज्ञानिक है?

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने विचारों को प्रचुर मात्रा में मौखिक एवं लिखित रूप में व्यक्त किया है। टंकारा, सौराष्ट्र में १३ वर्ष की आयु में शिवलिंग पर चूहों को उछल–कूद मचाते हुए अक्षत खाने की घटना ने उनके मन पर अमिट छाप छोड़ी थी। वह अविस्मरणीय घटना बालक मूलशंकर को स्वामी दयानन्द सरस्वती बनाने के मूल में थी। अपने भाषणों मे निराकार ईश्वर और वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए, स्वामी जी मूर्ति पूजा का खंडन करते हुए नहीं थकते थे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपने विचारों को लिपिबद्ध किया। वेदभाष्य और अनेक छोटे–बड़े ग्रंथों के साथ–साथ सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका उनके अनुपम ग्रंथ हैं। पथ प्रदर्शन के लिये, यें अमूल्य कृतियाँ मनुष्य मात्र की धरोहर हैं। विभिन्न विषयों पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का क्या दृष्टिकोण था?, उनकी विचारधारा का प्रवाह किस दिशा में था?, यह इन अमूल्य कृतियों के माध्यम से जग–विदित है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों का प्रचार मौखिक रूप से बहुत हुआ है। २२ वर्ष की अवस्था में वैवाहिक बन्धन में न फँसकर, मानव मात्र के मोक्ष का मार्ग खोजने का संकल्प करते हुए जब उन्होंने गृह त्याग किया तो अपने सपनों को जन–जन तक ले जाने के लिये जन भाषा को वाणी दी। प्रवचन, गोष्ठी और भाषण स्वामी जी के प्रचार का माध्यम बने। लेखनी और लिपि अभी प्रचार कार्य और विचार–विमर्श से अछूती रही। विचारों का रूप, शैली और तथ्य वैज्ञानिक थे, उनमें सत्य का पुट था। प्रचार कार्य के प्रथम १७ वर्ष स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गंगा तट, गंगा–यमुना के दोआब, हिमालय के वन–उपवन और नर्मदा तट पर बिताये थे। उनकी वैज्ञानिक विचारधारा से स्वदेशी और विदेशी, कामगर और बुद्धिजीवी सभी प्रभावित हुए थे। विदेशी पादरी रेवरेन्द्र स्कॉट पहले गंगा तट पर ही स्वामी जी से मिले थे और फिर "भक्त स्कॉट" कह कर स्वयं स्वामी जी उन्हें बुलाते थे।

प्रश्न यह उठता है कि कौन सा दृष्टिकोण वैज्ञानिक माना जाता है? कौन सी विचारधारा अवैज्ञानिक है? विचारों के प्रतिपादन में विज्ञान का क्या महत्त्व है? किसी भी तर्क को हम विज्ञान की कसौटी पर क्यों कसते हैं? ऐसा इसलिये किया जाता है


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि विज्ञान का आधार है, वह ज्ञान जिसका परीक्षण न केवल प्रयोगशाला की चार दीवारों के भीतर किया गया है अपितु जीवन की शाला में किया गया है और वह खरा उतरा है। मध्य युग में युरोप में पोप और क्रिस्तानी पृथ्वी को स्थिर मानते थे और कहते थे कि सूर्य ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इसके विपरीत भारतीय मनीषी वेद के आधार पर कहते थे कि पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है। आधुनिक भूगोल और खगोल–शास्त्रियों ने भारतीय मनीषियों की वैदिक विचारधारा को वैज्ञानिक माना। विज्ञान के मूल में है परीक्षण। परीक्षण की कसौटी पर कपोल–कल्पित बातें कभी भी खरी नहीं उतरती। किसी भी वस्तु या पदार्थ का क्या गुण–दोष है?, यह हम उसका परीक्षण करके ही जान जाते हैं। इस प्रकार सही बात की जानकारी करना ही सत्य ज्ञान का पाना है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण क्या श्रोता और पाठक को सत्य का ज्ञान कराता है? यदि हाँ, तो वह वैज्ञानिक है अन्यथा नहीं। आइये, हम सबसे पहले ऋषि कृत प्रमुख ग्रंथ "सत्यार्थप्रकाश" को लेते हैं। इसे लिखने का उद्देश्य क्या था? महाराणा जी का उदयपुर, भाद्रपद शुक्लपक्ष, संवत् १६३६(सन् १८८२ ई०), सत्यार्थ प्रकाश(द्वितीय संस्करण) की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं – **"मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात जो सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। ....जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।...इसलिये विद्वान आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।"**

महर्षि दयानन्द सरस्वती का उपरोक्त मन्तव्य और उसके आधार पर प्रतिपादित विचारधारा शत प्रतिशत वैज्ञानिक है। सत्य की खोज से बढ़कर और क्या बात हो सकती है? महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर मनुष्यमात्र के लिये 'आनन्द' का द्वार खोला है। आइये, हम अपने जीवन में झाँकते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुष्य के व्यक्तित्व–विकास के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रोत्साहन दिया। आधुनिक मनोविज्ञान का मानना है कि आनुवांशिकता(हेरीडिटी) और वातावरण(एनवायरनमैंट) दोनों ही के मिले–जुले प्रभाव से एक मनुष्य का व्यक्तित्व बनता या


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिगड़ता है। बिना अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षाविद् के सम्पर्क में आये हुए ऋषिवर ने अपने संस्कृत ज्ञान, आर्ष ग्रन्थ अध्ययन और समाज पर्यवेक्षण के आधार पर व्यक्तित्व विकास का केन्द्र माना 'बीज और माहौल' को। 'संस्कार विधिः' में गर्भाधान के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा– "जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ उत्तम होते हैं। वैसे ही उत्तम बलवान स्त्री–पुरूषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं।"

आज 'आनुवांशिकी' जानकार गर्भाधान के समय वीर्य और रज की गुणवत्ता पर ध्यान देते हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर आने वाली संतान के व्यक्तित्व का मूल आधार गर्भाधान है। गर्भाधान संस्कार के समय मंत्रपाठ, हवन, अनुकूल माहौल, पौष्टिक पेय एवं पति–पत्नी का परस्पर प्रेम आधार है–स्वस्थ, सुडौल एवं संतुलित व्यक्तित्व वाले संतान का। लेखन और प्रवचन में ऋषिवर का दृष्टिकोण आधुनिक, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। स्वयं बाल–ब्रह्मचारी सन्यासी होते हुए शास्त्रों के आधार पर उन्होंने आर्य गृहस्थों का गर्भाधान में उचित मार्गदर्शन किया। स्वस्थ, सशक्त और समृद्ध आर्यावर्त की योजना के कार्यान्वयन के लिये शास्त्रोक्त गर्भाधान ही प्रथम सोपान है। पुंसवनम्, सीमन्तोन्नयनम् और जातकर्म दशा सुदृढ़ करने की दिशा में संतान जन्म से पूर्व के तीन संस्कार महत्त्वपूर्ण हैं।

अब आइये वातावरण(एनवायरनमेंट) पर एक दृष्टि डालते है और देखते है कि मनुष्य के व्यक्तित्व विकास पर इसके योगदान के बारे में स्वामी दयानन्द सरस्वती का क्या दृष्टिकोण था? 'वातावरण महत्त्वपूर्ण है किन्तु सर्वोपरि नहीं है', कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं। यों मनोवैज्ञानिकों में भी मतभेद है। मैन्डेल सिद्धान्त में वंश परम्परा का प्रभाव कई पीढ़ियों तक रहता है। माता–पिता के अर्जित गुणों का प्रभाव स्वाभाविक रूप से नयी पीढ़ी में आ जाता है। 'वातावरण' सिद्धान्त के पोषक मिट्टी, खाद और जलवायु पर, बीज की गुणवत्ता की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। ऋषिवर ने सुन्दर समन्वय किया है। सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में 'शिक्षा' विषय पर उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का वचन उद्धरित किया है– **"मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरूषो वेद"**, अर्थात् माता–पिता और आचार्य तीनों ही अच्छे हों तो व्यक्ति ज्ञानवान होता है। यहाँ बीज और माहौल पर समान बल दिया गया है। सुन्दर सामंजस्य है। भावी संतान की शिक्षा तो माता के गर्भ में ही आरम्भ हो जाती है। महाभारत के वीर अभिमन्यु इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। चक्रव्यूह भेदन और प्रवेश की बात कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती। शिक्षा के संदर्भ में ऋषिवर लिखते हैं– **"धन्य वह माता है, जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।"**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के विदेशी एवं स्वदेशी समाज में नयी पीढ़ी में सुशीलता का अभाव, नयी पीढ़ी पर पुरानी पीढ़ी की प्रभावहीनता का परिचायक है। अच्छे बीज को प्रतिकूल माहौल अंकुरित नहीं होने देता। कहीं ऐसा न हो कि थोड़े दिनों में अच्छे बीज का अभाव हो जाए। राजा जनक को कहीं फिर न कहना पड़े– **"बीर बिहीन मही मैं जानी"।** उस प्रतिकूल परिस्थिति का उन्मूलन करने के लिये महर्षि दयानन्द सरस्वती के वैज्ञानिक विचारों के आधार पर संतान को अच्छी तरह जन्म देकर अनुकूल धार्मिक वातावरण में पालना होगा। अच्छी शिक्षा देते समय 'लाड़न–ताड़न' के निर्दिष्ट मार्ग पर चलना होगा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का वैज्ञानिक दृष्टिकोण सोलहवें संस्कार अर्थात् अन्त्येष्टि कर्म में ओर भी मुखरित हो जाता है। यजुर्वेद का मंत्र है–**'भस्मान्तꣳ शरीरम्'**, अर्थात् इस शरीर का संस्कार(भस्मान्तम्) भस्म करने पर्यन्त है। शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है। आधुनिक वैज्ञानिक दाह कर्म को उत्तम मानते हैं न कि धरती में गाड़ने को या वृक्ष पर चिड़ियों–गृद्ध को खिलाने को। ऋषिवर ने अपनी अंतिम सांस के बाद अपने शरीर को भस्म करने का निर्देश दिया था और वही किया गया। अब तो अनेक मनीषी जो वैदिक धर्मी नहीं है, दाह संस्कार के पक्षधर हो गये हैं।

परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि हम वैदिक धर्मी परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें और हमें परम प्रीति से आनन्द की प्राप्ति हो। ज्ञान और विज्ञान में तालमेल रखते हुए हम महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर सदैव चलते रहें। वेद का आदेश शिरोधार्य है–**चरैवेति, चरैवेति।**

**ब्रिगेडियर चितरंजन सावन्त**
**वी.एस.एम, 'उपवन', ६०६**
**सेक्टर २६,नोएड़ा-२०१३०३**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए?

## १. स्वस्थ शरीर

मानव जीवन एक यात्रा है। क्रियाशीलता तथा विभिन्न गतिविधियाँ इसके जरूरी अंग हैं। इस सब को करने का मुख्य साधन हमारा शरीर ही है। अतः शरीर का स्वस्थ, निरोग, फुर्तीला होना अत्यावश्यक है। इसलिए शरीर को जिस्मानी तौर पर तन्दुरुस्त अथवा स्वस्थ रखना बहुत जरूरी है। जीवन यात्रा के शरीर रूपी वाहन को ठीक–ठाक एवं निरोग रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में नियमित रूप में समय पर शुद्ध, सात्त्विक, पौष्टिक भोजन का मिलना अनिवार्य है। हमारे लिए सन्तुलित आहार का मिलना और इसका खाया जाना बहुत आवश्यक है। मानव मूलतः एक शाकाहारी प्राणी है। तभी तो इसके दांत घोड़े जैसे हैं, न कि शेर अथवा कुत्ते जैसे। अतः मुख्यतयाः मनुष्य को सब्जियां, दालें, फल इत्यादि का ही भोजन करना चाहिए। माँस, मदिरा, तम्बाकू, सिगरेट इत्यादि तो इस शरीर की बुनियादी बनावट के विरुद्ध हैं और हानिकारक हैं। जो इन्सान प्रायः ऐसा भोजन करते हैं, वे कुछ ही वर्षों में रोगों से जकड़े जाते हैं। विभिन्न प्रकार के साध्य एवम् असाध्य रोग उनके जीवन का भाग बन जाते हैं। उनकी जीवन रूपी गाड़ी चलती तो जरूर है लेकिन वह भी लड़खड़ा कर सीमित समय तक। ऐसे मानव रोगी होकर दुःखी रहते है और प्रायः अल्प आयु भोग कर ही इस नाशवान् जगत् से प्रस्थान कर जाते हैं। ऐसे कई लोग लम्बे काल अथवा वर्षों तक शय्या–गत होकर शरीर छोड़ते हैं। यह तो अत्यन्त दैन्यावस्था का नाम–मात्र जीवन है। अतः सारांश में ठीक प्रकार का सात्त्विक, साफ–सुथरा, यथार्थ मात्रा में समयबद्ध किए जाने वाला भोजन ही इस शरीर के स्वस्थ एवं कार्यरत रहने के लिए सर्वथा और प्रायः सर्वदा लाजमी है। इसकी पुष्टि छांदोग्योपनिषद् का निम्न मंत्र करता है–

**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।**
**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।** (७.२६.२)

अर्थात् भोजन के शुद्ध होने पर मानव की प्रकृति अथवा स्वभाव ही मूलतः शुद्ध हो जाता है। स्वभाव के पवित्र होने पर, अन्तःकरण की मलिनता दूर हो जाती है, अन्तःकरण के शुद्ध होने पर स्मरण शक्ति अथवा सोच–विचार ही स्थिर हो जाते हैं। स्थिर चेतना शक्ति होने पर मानव की अज्ञान रूपी गांठें खुल जाती हैं।

**(क) शरीर और व्यायाम-** मानव शरीर की रचना बड़ी अद्भुत एवं जटिल है। तभी तो इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए डाक्टरी विज्ञान(मेडिकल सांइस) ने इतना


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार पकड़ा है और वह संसार के सूक्ष्मतम विज्ञानों में से एक है। अभी तो मानव शरीर छोटा सा है, यदि यह विस्तृत आकार का होता तो भगवान् जानें कि चिकित्सीय अथवा डाक्टरी विद्या का और कितना बड़ा विस्तार होता। इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जहाँ उचित आहार की आवश्यकता है, वहां नियमित रूप से प्रतिदिन व्यायाम, सैर, योगासन इत्यादि करने अत्यन्तावश्यक हैं। योगासन शरीर के प्रत्येक अंग की क्रियाशीलता एवं लचक को बनाए रखने के लिए बहुत लाभकारी हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्न दो मंत्र योगी पर शारीरिक प्रभावों का इस प्रकार उल्लेख करते है–

**पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते, पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।**
**न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगग्निमयं शरीरम्।।**
**लघुत्वम् आरोग्यम् अलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वर-सौष्ठवं च।**
**गन्धः शुभो मूत्र-पुरीषम् अल्पं योग-प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।**

(२/२/१३)

'जब पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का शरीर में ठीक–ठीक अनुपात में संमिश्रण होने पर उनका क्रियात्मक रूप में प्रभाव होता है, तो योगी के शरीर में न तो कोई रोग रहता है, न ही वृद्धावस्था और न ही मृत्यु उसको सताती हैं क्योंकि उसके शरीर में योगाग्नि का सर्वत्र संचार हो जाता है।'

'योगी का शरीर हल्का एवं निरोग तथा काम वासनाओं से विमुक्त होकर उसका मन सुस्थिर हो जाता है। उसका रंग बिल्कुल साफ और शब्दोच्चारण नितान्त स्पष्ट हो जाता है। उसके शरीर से एक प्रकार की मीठी सुगन्ध आने लगती है तथा उसके द्वारा मल–मूत्र का विसर्जन भी कम हो जाता है।'

वस्तुतः योगासन तो प्रभु मिलन की सीढ़ी का एक प्रारम्भिक डण्डा है। लगन से योगाभ्यास करने वाले का न केवल शरीर स्वस्थ रहता है बल्कि वह प्रसन्नचित्त तथा कार्यकुशल भी रहता है।

**(ख) कमाई की शुद्धता-** जीवन को सुचारू ढंग से चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में धन का होना अत्यावश्यक है। इसलिए मानव को परिश्रम करके खूब धन कमाना चाहिए। तभी तो यजुर्वेद का एक सुप्रसिद्ध मन्त्र कहता है कि हम 'काम करते हुए सौ वर्ष तक जीएँ।' ऋग्वेद(१०.१२१.१०) कहता है– **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** अर्थात् 'हम धन और ऐश्वर्यों के स्वामी होवें'। निर्धनता एक अभिशाप है। अतः इससे बचने के लिए हमें मेहनत तथा लगन से खूब धन कमाना चाहिए। किन्तु यजुर्वेद(४०.१८) ने इस पर एक कड़ी पाबन्दी लगा दी है कि धन शुभ और ईमानदार तरीकों से कमाना चहिए–**'अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्।'** मनुस्मृति भी इस बात पर बल देती है कि सब प्रकार की पवित्रताओं में से कमाई की पवित्रता सर्वोत्तम है– **'सर्वेषामेव शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतम्'।**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**(ग) समय पर सोना और जागना**- अंग्रेजी भाषा में एक बड़ी सुप्रसिद्ध कहावत है– 'Early to bed and early to rise, makes a man healthy, wealthy and wise' अर्थात् 'रात्रि को जल्दी सोना और सुबह जल्दी उठना, आदमी को स्वस्थ, धनी तथा बुद्धिमान बना देता है।'

इस सूक्ति में बहुत सी सत्यता छिपी हुई है। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, वे प्रातःकालीन वायुमण्डल का अमृतमय आनन्द ले सकते हैं। सुबह वायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। मानव थोड़ा सा व्यायाम, भ्रमण, प्राणायाम इत्यादि करके अध्ययन कर सकता है। ऐसा अध्ययन भी अधिक चिर–स्थाई और चेतना वर्धक होता है। प्रातःकाल पढ़ाई के लिए बिजली, पंखे इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती। इस समय में श्रद्धा एवं सूझ–बूझ के साथ किया हुआ सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय साधक में प्रभु भक्ति को बढ़ाने वाला तथा हमारे अन्दर आध्यात्मिकता, नैतिकता, मानसिक शान्ति एवं स्थिरता को परिपुष्ट करने वाला होता है। यहाँ पर यह लिखना भी युक्ति–युक्त प्रतीत होता है कि परिवार के सभी सदस्य जब प्रातःकाल मिलें, तो एक दूसरे को नमस्ते करें। इस से परिवार में परस्पर स्नेह तथा अपनापन बढ़ता है।

प्रातः उठते ही मूत्र करके २–३ कुल्ले करके अच्छी तरह से मुंह साफ करना चाहिए। तत् पश्चात् एक लिटर या आधा लिटर बिल्कुल साफ पानी पीना चाहिए। दोनों आँखों में शनैः शनैः १०–१० ताज़े पानी के छींटे मारने चाहिए, यदि बिल्कुल थोड़ा सा साफ नमक लेवें तो और भी अच्छा है। साफ पानी से आँखें दिन में दो बार खाना खाने से पूर्व साफ करनी चाहिए। इस तरह दीर्घ आयु तक कोई विशेष नेत्र रोग नहीं होगा। प्रत्येक भोजन अथवा चाय पीने इत्यादि के बाद मुंह और दांत अच्छी तरह से अंगुलि रगड़ कर साफ करने चाहिए ताकि भोजन का कोई अंश दांतों में न रह जाए। सुबह और रात्रि के अन्तिम भोजन के पश्चात् दांतों को अच्छी तरह बढ़िया दांतों के ब्रुश तथा पेस्ट से साफ करना स्वस्थ एवं निरोग रहने के लिए अत्यावश्यक है।

## २. मानसिक तथा बौद्धिक स्वास्थ्य

मन और बुद्धि का परस्पर बड़ा गहरा सम्बन्ध है। केवल ऐसे व्यक्ति ही मानसिक तौर पर शान्त एवं सन्तुलित हो सकते हैं जिनकी सोच–विचार, कर्म, व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार न्याययुक्त एवं सदाचार पर आधारित हों। झूठ, फरेब, लड़ाई–झगड़ा इत्यादि करने वाले स्त्री या पुरुष का मन कभी शान्त नहीं होता। लोभी मानव भी प्रायः जीवन में दुःखी देखे गए हैं। **फिर मानसिक तथा बौद्धिक सन्तुलन कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसके कुछ निम्न साधन हैं -**

१. मेहनत करके अपने सभी काम करें और पर्याप्त मात्रा में धन कमाएं ताकि गरीबी हम को तंग न करे। यदि अपना खर्च ठीक–ठीक करें, तो थोड़े धन से भी सुखपूर्वक


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन व्यतीत किया जा सकता है। जीवन के विविध कार्यों को पूरा करने के लिए यथा–संभव असत्याचरण, छल–कपट, कटु वचन, दुर्व्यवहार इत्यादि कभी न करें। हमारा व्यवहार परिवार में तथा बाहर सब के साथ निम्न मंत्र की शिक्षा पर आधारित होना चाहिए। यथा–**"मधु मनिष्ये मधु जनिष्ये मधु वक्ष्यामि मधु वदिष्यामि"।** तैत्ति० (४.१.७) अर्थात् 'मेरे संकल्प विकल्प सदा मधुर एवं न्यायसंगत फल देने वाले हों, मेरे कर्म भी मधुमय तथा सुखदाई हों(comforting action may follow), मेरा व्यवहार भी मधुर हो और मैं सदा मधुर बोलूं'।

२. स्वाध्याय, संध्या–वन्दना, विद्वानों के प्रवचनों इत्यादि को सुनना हमारे जीवन के अविभाज्य अंग होने चाहिए। गायत्री मंत्र हमें सदा सद्बुद्धि एवं शुभ कर्मों की प्रेरणा करता है। ऋग्वेद का एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र है कि 'हे तेजस्वरूप परमात्मन् ! हमारे जीवन से सब पाप–तापों को दूर कर दीजिए और जो भद्र अथवा मंगलकारी बातें और कर्म हैं, उनको हमारे जीवन में कूट–कूट कर भर दें।'

३. (क) सुबह जब आप निद्रा से प्रबुद्ध होते हैं, तो सर्वप्रथम परमपिता परमात्मा को नमस्कार करें–पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ। इसके लिए अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भली–भांति तज़वीज़ अथवा प्रस्तावित किया जा सकता है–**'नम्मतेऽस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।'** (१३.४.५५) अर्थात् 'हे सर्वदर्शी ! आपको मेरी नमस्ते। हे सर्वदर्शी ! आप (कृपा दृष्टि से) मेरी ओर देखो।'

(ख) दूसरे समस्त सृष्टि में सब प्राणियों का भला मांगे। जैसे–

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भ्रद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।**

(ग) जाग्रत अवस्था(और प्रायः स्वप्न अवस्था में भी) मन बाहरी विषय भोगों के चिन्तन में लगा रहता है। इस प्रकार हमारे में से बहुत अधिक प्रतिशत नर–नारी सारा जीवन इसी उधेड़–बुन अथवा सोच–विचारों में जीवन व्यतीत करके संसार में प्रस्थान कर जाते हैं। हम **flesh and blood** अथवा शरीर और शारीरिक द्रव्यों के जीवन से कभी ऊपर उठते ही नहीं। क्या यह पशुतुल्य जीवन नहीं है कि सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान चार बातें यानी **आहार, निद्रा, भय** और **मैथुन** के अतिरिक्त और कुछ न ही सोचा और न ही किया? हमारे अन्दर उपस्थित तथा शरीर के संचालन की मूलाधार सूक्ष्म ज्योति–स्वरूप और पवित्र आत्म–सत्ता का जीवन भर कभी ध्यान ही नहीं किया। अतः मानसिक शान्ति को पाने तथा अपने जीवन का अभिन्न अंश बनाने के लिए अत्यावश्यक है कि सांसारिक धन्धों को भली प्रकार करते हुए, हम आत्म चिन्तन अथवा प्रभु का पूजन एवं ध्यान अवश्य करें। वेद तथा विशेषकर उपनिषद् ग्रन्थ इस ज्ञान का असीम खज़ाना है। ग्रहण कर सकते हो तो करो ताकि हम अपनी आध्यात्मिक सत्ता


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
(supramental existence) को क्रियात्मक रूप में अनुभव कर सकें।

### ३. उपभोक्तावाद(Consumerism)

आजकल के उपभोक्तावाद में फंसे हुए बहुत से बुद्धिजीवी नैतिकता, न्यायशीलता, सत्यवादिता, आध्यात्मिकता इत्यादि को दिन प्रति दिन के कामों में अव्यवहार्य (Impracticable) मानते हैं और उपर्युक्त शुभ गुणों को परलोकवाद अथवा other worldliness का एक ढकोसला या पाखंड बता कर ठुकरा देते हैं। यह सरासर गलत है। यदि बिल्ली के आने पर कबूतर आँख बन्द कर ले तो इसका यह मतलब तो नहीं कि बिल्ली का अस्तित्व ही नहीं रहा और वह अपना घातक प्रहार नहीं करेगी। करेगी, अवश्य करेगी और कबूतर की जान नहीं बचेगी। बिल्कुल ऐसी ही विनाशकारी दुर्दशा होगी, एक न एक दिन ऐसे ही अल्पबुद्धि एवं अदीर्घदर्शी उपभोक्तावाद के समर्थकों की। अंधाधुंध भौतिकवाद में फंसे हुए आजकल के बड़े–बड़े लोग भी प्रायः मुकदमों, अपयश, अपकीर्ति, रोगों का शिकार होते हैं। अतः बहुत बार अकाल मृत्यु का ग्रास बनते देखे जाते हैं। तो हमे अपने जीवन के विभिन्न कार्यों में भौतिकता और नैतिकता(Materialism and Morality) का संतुलन रखें ताकि अन्त में हमारी यह हालत न हो कि **'लोक गयो परलोक गँवाओ'**।

### ४. अन्तर्मुखता(Introversion)

मनुष्य स्वभावतः बहिर्मुखी जीव है क्योंकि इसकी पांचों की पांचों ज्ञानेन्द्रियां बहिर्मुखी हैं और बाहरी स्थूल जगत् का परिज्ञान कराती हैं। तभी तो मानव नाच, गानों, रंगोली, चित्रहार, सिनेमा, टी.वी., होटलों, क्लबों, मौज–मेलों, नॉवलों, फोटोग्राफी, भांति–भांति के Musical Systems (गंधर्व विद्या), सामाजिक संगठन–विगठन आदि में निरत रहता है। इन तथा–कथित मनोरंजन (So-called recreation) के साधनों को मद्यपान, संभोग इत्यादि बहुत प्रोत्साहन देते हैं। इस प्रकार अधिकतर नर–नारी कुमारावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक इनमें फंसे रहते हैं। हटते तब ही हैं जब इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं। फिर भी ज्यादातर की मानसिक आसक्ति विषयभोगों में बनी रहती है। वृद्धावस्था, इन्द्रिय–दुर्बलता, रोग, मानसिक अशान्ति, उदासी(Depression), पारिवारिक एवं सामाजिक अवहेलना, आर्थिक न्यूनता अथवा कमी इत्यादि मानव को बन्दूक की खाली गोली यानि कारतूस की तरह व्यर्थ एवं निष्क्रिय बना देती है। अतः आवश्यक है कि हमे जीवन में शुरू से अपने आपको दुर्व्यसनों से बचा कर रखें। यदि हमे कभी–कभी घूमना–फिरना हो और किसी मौज मेले में जाना पड़े तो इस बात का ध्यान रखें कि ये हमारे रोज़मर्रा के जीवन का अंग न बन जाए। हम अपने आपको परिवारिक और निजी जीवन तक सीमित रखें। प्रतिदिन अन्तर्मुख अथवा आत्मरत होकर शरीर के अन्दर विद्यमान आत्म–सत्ता का चिन्तन करें तथा चुगली, निन्दा, गप–शप इत्यादि


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहरी विषयों को छोड़ कर किसी सद्ग्रन्थ(विशेषकर उपनिषदों) का स्वाध्याय नियमबद्ध प्रतिदिन प्रातः सायं अथवा सोते समय अवश्य करें। इससे मानसिक शान्ति मिलेगी और मानसिक बल बढ़ेगा। आपकी अन्तरात्मा आपकी प्रमुख पथ प्रदर्शक बन जाएगी।

## ५. सन्तुलित व्यक्तित्व प्रस्फुट करना (To develop a balanced personality)

जैसे दो पंखों के बिना कोई भी पक्षी उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार कोई भी मानव भौतिकवाद(Materialism) और सदाचार(Morality)का अपने जीवन में संतुलन रखे बिना जगत् में वास्तविक सुख एवं आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। इस की प्राप्ति के लिए धर्म अथवा नैतिकता के मूल सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप में ग्रहण किए बिना समस्त सांसारिक वैभव ढोल की भांति खोखला है। अतः दुनिया की खूब दौड़–धूप होते हुए भी हमारा आधार तथा प्रमुख मार्गदर्शक केवल एक परमेश्वर होना लाज़िमी है। इसका कोई दूसरा विकल्प नहीं। तभी तो महर्षि वेदव्यास महाभारत में लिखते हैं कि **"वेद आर्य जाति का प्राण हैं, उसका परम चक्षु, परम बल, परम धाम और परमब्रह्म हैं।"** (१२/३३५/२६) महानाम्न्युपनिषद् का एक मन्त्र इस प्रकार है–**"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"।** (१७.६) अर्थात् "धर्म सम्पूर्ण जगत् का आधार है।" फिर प्रश्न उठता है कि धर्म की प्रतिष्ठा अथवा मूल क्या है? मनुस्मृति कहती है–**"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"** (२.६) अर्थात् सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है। फिर दूसरा प्रश्न उठता है कि वेदों का आधार क्या है? इसका उत्तर महर्षि दयानन्द देते हैं कि **"सब सत्य, विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।"** तो आइए हम अड़िग रूप से प्रभु को अपने जीवन में सर्वप्रथम स्थान दें और वेदों अथवा वैदिक साहित्य का सदा प्रतिदिन स्वाध्याय, मनन एवं निदिध्यासन करते रहें।

## उपसंहार

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन एक नदी की धारा के समान नहीं कि जिधर ढलवान हुई, उधर ही बहती चली जाए। इसको सोच–विचार कर परिश्रम तथा सद्बुद्धि से चलाना होगा। असल में सफल व्यक्ति वही है जो संसार में नियमित रूप से प्रयास करता हुआ सदाचारमय जीवन–यापन करे। यदि सभी लोगों का जीवन ऐसा सन्तुलित तथा सुव्यवस्थित हो जाए तो समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व में प्रेम और मानवीय भाईचारें की सर्वत्र लहरें चलने लगें। पृथिवी मण्डल पर ही स्वर्ग का अवतरण हो जाए जिसमें परस्पर घृणा, कलह, विरोध, युद्ध, महायुद्ध, परमाणु–युद्ध, विनाश और समस्त जीवधारियों के विध्वंस (Annihilation) का कोई स्थान ही नहीं होगा।

**डॉ० ब०द० धवन**
**चण्डीगढ़**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ऋग्वेद के आधार पर सविता और सूर्य की तुलनात्मक समीक्षा

वैदिक आर्यों के जीवन में धर्म का विशेष महत्त्व था। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा सर्वव्यापकता पर दृढ़ विश्वास था। आर्यों की प्राचीन धारणा देवताओं के सन्दर्भ में बहुत व्यापक थी। कारण यह है कि उनके सम्मुख प्रकृति की विचित्र लीलाएँ नित्य–प्रतिदिन के अनुभव का विषय थीं। इस मनोहर धरा पर जन्म लेते ही मानव अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों द्वारा चारों ओर से घिरा पाता है, जो मानव मन–मस्तिष्क पर अपना विशेष प्रभाव छोड़ते हैं। वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक पदार्थों को भली प्रकार समझने के लिए इनमें भिन्न–भिन्न देवताओं की कल्पना की। उन्होंने सृष्टि के तीन लोकों–पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में अनेक देवताओं की सत्ता मानी। वैदिक मन्त्रानुशीलन से भी बहुदेववादी धार्मिक आस्था के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिसे विद्वान् पालीथीइज़्म(बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं।

अन्य लोकों की भांति ही द्युलोक में अनेक देवताओं की पृथक् सत्ता का प्रमाण अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है। द्युस्थानीय देवों में सविता और सूर्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं–इस तथ्य की पुष्टि तन्निमित्त आये मन्त्रगत भावों पर विचार करने से होती है। कहा भी गया है– **प्रत्यक्षदेवो दिवाकरः।** सूर्य या सविता नित्य दृष्टिगत होने वाले देव हैं। अतः उनका आर्यों के धार्मिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु होना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। वेदों में तो दोनों देवताओं के मध्य इतनी अधिक समानता है कि कहीं–कहीं तो दोनों देवताओं में विभेद करना ही कठिन हो गया है, परन्तु सविता और सूर्य अतिसूक्ष्म विवेचन के आधार पर पृथक्–पृथक् ही माने गये हैं। यही प्रायः सभी वैदिक विद्वानों की भी मान्यता है।

सर्वप्रथम सविता और सूर्य की साम्यता पर विचार किया जा रहा है, जहाँ सविता को सूर्य के सदृश तथा सूर्य को सविता के सदृश कार्यों का निष्पादन करते हुए वर्णित किया गया है। जैसे सुवर्ण पाणि सविता दोनों लोकों में गमन करता है, रोगादि का निवारण करता है, उदय होता है तथा तमोनाशक तेज से आकाश को व्याप्त करता है। (ऋ० १/३५/६) एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि सविता देवता समस्त भुवन को आलोकयुक्त करके उन्मुख किरणों का आश्रय लेता है। सबको विशेष रूप से देखने वाले सूर्य ने अपनी किरणों से द्यावा–पृथिवी और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण किया है। (ऋ० ४/१४/२) वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि प्रातःकाल सूर्य मानव जाति के लिए उद्बोधक बनकर उदित होता है। उसके द्वारा प्रेरित मनुष्य अपने लक्ष्यों की ओर


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
निकल पड़ते हैं और स्वकर्तव्य को पूर्ण करने में व्यस्त हो जाते हैं। (ऋ० ७/६३/१,२,३) सर्वद्रष्टा सूर्य अशेष जगती का सर्वेक्षक है। वह मनुष्यों के समस्त शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा है। सूर्य नित्य प्रातः उदित होकर अन्धकार का नाश करता है। जगत् के उद्बोधक तथा सर्वेक्षक के रूप में सविता को भी अनेक मन्त्रों में स्तुत किया गया है। यथा–

**आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।**
**हिरण्येन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन्।।**

(ऋ० १/३५/२)

अर्थात् अन्धकार पूर्ण अन्तरिक्ष से बार–बार भ्रमण कर देवताओं और मनुष्यों को सचेतन करके सविता देवता सोने के रथ से समस्त भुवनों को देखते हुए भ्रमण करते हैं।

दशम मण्डल के १५८वें सूक्त के कुछ मन्त्रों में सविता को सूर्य मानकर उससे यज्ञ में आने, रक्षा करने तथा नेत्र प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद में दो–तीन स्थलों पर सूर्य को भी मनुष्यों का प्रसविता कहा गया है– **'नूनं जनाः सूर्येण प्रसविता'**। जबकि प्रसव कर्म सविता के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। यास्क ने सविता की परिभाषा करते हुए कहा है कि–**सविता सर्वस्य प्रसविता** (नि० १०/२०) अर्थात् सविता सबका प्रेरक है। सविता शब्द 'सू' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'षूङ् प्राणिप्रसवे' अर्थात् जो प्राणियों का प्रसवकर्त्ता है, वह सविता है। यजुर्वेद में भी सविता और सूर्य का स्पष्ट तादात्म्य उल्लिखित है। (य०वे० १७/५८) ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों की एकता पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी थी। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि आकाश में तपने वाला तथा विचरण करने वाला सविता है। (३/२/३/१८) पुनः कहा गया है कि यह सूर्य है जो तपता है, (२/६/३/८) शतपथ में ही सूर्य को अग्नि का आकाशस्थ रूप माना गया है (६/३/१/६) और सविता को भी अग्नि कहा गया है। (६/२/३/१२) ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण में तो सविता की पुत्री सूर्या से सोम के विवाह का वर्णन है। (४/२)

पौराणिक युग आते–आते सविता, विवस्वान्, पूषा, मित्र आदि देवों का व्यक्तित्व पूर्णतः सूर्य में समाहित हो गया। विष्णु पुराण में सूर्य के लिए ही सविता तथा विवस्वान् विशेषण आये हैं। उन्हें जगत् को प्रेरित करने वाला कहा गया है। (वि०पु० ३/११/३६) ब्रह्मपुराण में तो 'सविता' शब्द पूर्णतः सूर्य के लिए आया है–**'तत्पुत्र वचनं श्रुत्वा सविताऽचिन्तयत् तदा'**। (ब्र०पु० ८६/१२) श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि राजा भरत आदित्य की निम्नलिखित श्लोक से स्तुति किया करते थे–**'परो रजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान'**। (५/७/१४) श्रीवाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड में 'आदित्य हृदय' स्तोत्र के द्वारा भगवान् सूर्य की स्तुति की गयी है। जहाँ सविता, पूषा आदि देवों को सूर्य का ही रूप माना गया है–

**आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान्।**
**सुवर्णसदृशो भानुर्हिरण्यरेता दिवाकरः।।**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरुक्तकार यास्क ने एक स्थल पर स्पष्ट रूप से सविता और सूर्य को एक माना है– **आदित्योऽपि सवितोच्यते।** (नि० १०/३२) अमरकोश में भी सविता को सूर्य का ही पर्यायवाची माना गया है– **भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः।** (अमरकोश १/३/३८) अर्थात् भानु, हंस, सहस्रांशु, तपन, सविता, रवि ये सब सूर्य के ही अनेक नाम हैं, अतः सविता सूर्य ही है।

इस प्रकार वैदिक तथा वैदिकोत्तर साहित्यों में सविता और सूर्य की एकता के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं, परन्तु ऋग्वेद के अन्तर्गत सविता और सूर्य दोनों पृथक्–पृथक् देवता के रूप में स्तुत हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। वास्तव में ऋग्वेद के अन्तर्गत सविता और सूर्य का सम्बन्ध आत्मा और शरीर का सम्बन्ध माना जा सकता है। स्थूल शरीर की भांति ही सूर्य भी दृष्टिगत होता है, परन्तु सविता आत्मा के समान अतिसूक्ष्म और महान् तत्त्व है। यह सविता आत्मा की भांति शरीर रूपी सूर्य के भीतर रहकर भी सूर्य से भिन्न है। वैदिक ऋषि इस तथ्य से भली भांति परिचित थे।

सविता और सूर्य के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक मन्त्र में कहा गया है कि सविता मनुष्यों के पाप–पुण्यों को सूर्य से कहता है–**'देवो नो अत्र सविता ढमूना अनागसो वोचति सूर्याय'।** (ऋ० १/१२३/३) दशम मण्डल में एक स्थल पर कहा गया है कि सविता सूर्य–रश्मियों से संयोग कर उन्हें प्रकाशित करता है। (ऋ० १०/१३६/१) सूर्य की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि सूर्य की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि सूर्य की उत्पत्ति विराट् पुरूष के नेत्र से हुई है–**चक्षोः सूर्यो अजायत्।** (१०/६०/३) जबकि सविता की उत्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट संकेत ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता। यद्यपि अथर्ववेद में सविता की उत्पत्ति हिरण्यमय जल से बतायी गयी है। (अ० वे० १/६३/१) सायण ने ऋग्वेद के मंत्र ५/८१/४ की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि सूर्य को उदय के पूर्व सविता कहते हैं और उदय से अस्त तक वह सूर्य होता है–**उदयात् पूर्वभावी सविता। उदयास्तमयवर्ती सूर्यः।**

सविता के काल के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि सविता का काल अन्धकार की निवृत्ति के बाद आता है। जब आकाश में प्रकाश हो जाता है और प्रकाश की किरणें नभोमण्डल में विकीर्ण होने लगती हैं तथा पृथिवी पर उस समय अन्धकार रहता है, वही समय सविता देवता का माना जाता है–**"तस्य कालो यदाद्यौरपहततमस्काकीर्ण रश्मिर्भवति"।** (नि० १२/१२) वस्तु स्थिति यह है कि पहले द्युलोक का अन्धकार नष्ट हो जाता है और किरणें फैल जाती हैं। उस समय पृथिवी पर अन्धकार रहता है और किरणें भी दिखाई नहीं पड़ती हैं। द्युलोक की प्रारम्भिक स्थिति को आधार मानकर सविता के स्वरूप का चित्रण किया गया है। जब पृथिवी पर अन्धकार नष्ट हो जाता है और किरणें पृथिवी पर चारों ओर फैल जाती हैं, तब वही सविता सूर्य कहा जाता है। यही सूक्ष्म अन्तर यास्क ने निरुक्त में प्रकाशित किया है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्युलोक की स्थिति से सविता को सम्बद्ध किया गया है, अर्थात् पृथिवी की स्थिति से सूर्य को। सविता प्रेरक होता है, यह बात अनेक स्थलों पर प्रकाशित की गयी है। सविता द्युलोक से सम्बद्ध है तथा सूर्य की अपेक्षा 'पर' है। उसी के दिव्य स्वरूप के साक्षात्कार के लिए ऋषियों की साधना चलती है। सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र में उसी सविता के वरेण्य तेज की कामना की गयी है। सूर्य में वह तेज नहीं है, न ही उस प्रकार का प्रेरकत्व है।

सविता के वैशिष्ट्य की विभावना इस प्रकार से भी की जा सकती है कि उसके लिए 'सूर्यरश्मि' विशेषण का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में यह विशेषण एक ही बार प्रयुक्त हुआ है– **"सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरूढयां अजस्रम्"।** (ऋ०१०/१३६/१) यहाँ 'सूर्यरश्मि' से प्रकाशित होता है कि सविता की रश्मि 'सूर्य' है अर्थात् यह जो सूर्य दिखायी पड़ता है, वह सविता की रश्मि के रूप में ही है। यहाँ ऋषियों ने 'तेजस्' तत्त्व की विभावना की। उस 'तेजस्' के दो रूप सामने आते हैं–एक सविता के रूप में, दूसरा सूर्य के रूप में। यहाँ सविता को प्रधान तथा सूर्य को गौण कहा जा सकता है।

सविता और सूर्य के अतिसूक्ष्म भेद को स्पष्ट करते हुए मन्त्रों के दार्शनिक व्याख्याता श्री अरविन्द ने कहा है कि वैसे तो सूर्य और सविता एक ही है। भेद केवल इतना ही है कि सूर्य ज्योति और द्रष्टा है तो सविता स्रष्टा है। 'सूर्य' शब्द का अर्थ है ज्ञान प्रदीप्त या ज्योतिर्मय, जैसे कि ज्ञान प्राप्त मनीषी को भी सूर्य कहा जाता है। परन्तु साथ ही इस शब्द की धातु का अभिप्राय है 'सर्जन करना' या अधिक शब्दिक अर्थ करना हो तो 'ढ़ीला छोड़ देना,' 'विनिर्मुक्त करना,' 'वेग प्रदान करना' है क्योंकि भारतीय विचार में सृष्टि रचना का अर्थ है –पीछे की ओर रोक रखी वस्तु को ढ़ीला छोड़कर सामने ले आना, अनन्त सत्ता में जो कुछ छिपा है, उसकी अभिव्यक्ति कराना। ज्योतिर्मय दृष्टि (सूर्य) और ज्योतिर्मय सृष्टि (सविता) ये सूर्य के दो कार्य हैं। वह स्रष्टा सूर्य(सविता) है और सत्यप्रकाशक चक्षु सर्वद्रष्टा सूर्य है।*

पं० बलदेव उपाध्याय, गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर आदि आधुनिक विद्वानों ने सविता का समय प्रातः तथा सायंकाल माना है और यही समय गायत्री मंत्र के पाठ का भी माना गया है। इस प्रकार सूक्ष्मता से मीमांसा करने पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में सविता और सूर्य अनेक दृष्टियों से अत्यन्त समान रहते हुए भी भिन्न हैं।

**हेरम्ब पाण्डेय**
**एन १/३०, ए-६**
**नगवा, वाराणसी-२२१००५**

*भगवद्दत्त वेदालंकार, सविता देवता पृ० १०७


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में विश्वबन्धुत्व का सन्देश

इस असार संसार में मानव नाना दुःख, दैन्य, सन्ताप, क्लेशादि को भोगता हुआ अपने प्रति अन्य मनुष्यों की सहानुभूति, दया, सहायता की कामना करता है। जहाँ उसमें सुख, शान्ति, प्रेम, यश, सम्मानादि प्राप्ति की इच्छा बलवती रहती है, वहीं वह अपने तथा बन्धु–बान्धवों के जीवन को उन्नतमय बनाने हेतु बन्धु–बान्धवों से सहयोग चाहता है। उसके विचार उत्तरोत्तर जितने उदात्त और करूणामय होते जाते हैं, उसके चिन्तन एवं बहुजन हिताय–बहुजन सुखाय के प्रयास का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। भारतीय संस्कृति में परदुःखकातरता, निष्कामकर्म, परोपकार, सेवाभावना, सहिष्णुता, दया, अतिथिसेवा, अहिंसादि भाव प्राणभूत तत्त्व हैं। हमारे महान ऋषि–मुनियों, विचारकों, चिन्तकों ने दीर्घकाल के आत्ममन्थन, चिन्तन एवं मनन के उपरान्त ज्ञानसागर से कुछ ऐसी ही बहुमूल्य रत्नराशि हमें उत्तराधिकार के रूप में सौंपी है जिसकी उपयोगिता व्यक्तिगत जीवन एवं विश्वजीवन में पढ़े–पढ़े सिद्ध होती है। ये भाव हमें जीवन के तमसावृत मार्ग में भटकने पर जीवन मार्ग–दर्शक ज्योति के सदृश सहायक सिद्ध होते हैं।

लौकिकसाहित्य में श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण की वेदतुल्य प्रतिष्ठा है। कुछ विद्वान इसे श्रीवाल्मीकि के मुख से श्रीरामायणरूप में प्रकट वेद के रूप में ही प्रतिष्ठित मानते हैं। महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं तो उनका आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण भूतल का प्रथम काव्य के रूप में सभी के लिए मान्य एवं पूज्य है। भारतवर्ष के लिए तो यह गौरव की वस्तु है, यह देश की सच्ची एवं बहुमूल्य निधि है। यह समस्त काव्यों का बीज है–

**पठ रामायणं व्यासकाव्यबीजं सनातनम्।**
**यत्र रामचरितं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान्।।**

(बृहद्धर्म०प्र०ख० ३०/४७/५१)

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण का प्रादुर्भाव ही करुणदृश्य उपस्थित होने पर हृदय में लीन करुणरस के उद्रेक से हुआ–

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**
**यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।।**

(बा०रा०, बाल० २/१५)

अतः इसमें दया, करुणा, प्रेम, बन्धुत्व की भावना का अजस्र स्रोत प्रवाहमान है। वाल्मीकि की विश्वबन्धुत्व की भावना उच्चकोटि की है। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण का


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सर्वभूत हित साधन ही लक्ष्य रहा है। जो सभी प्राणियों का हित साधन देखता है तथा
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सभी प्राणियों को अपने समान ही देखता है, उसके लिए न कोई शोक होता है न कोई मोह, वह सबको एकात्मभाव से ही देखता है–

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।**
**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।**
**यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।**

(यजु० ४०/६–७)

पण्डित(विद्वान) भी उसी व्यक्ति को कहा गया है जो आत्मवत् सभी प्राणियों को देखता है–**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।।**

रामायण में श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के अवसर पर महाराज दशरथ विश्वबन्धुत्व की भावना के वशीभूत इस बात का ध्यान रखते हैं कि विश्व के समस्त राजाओं, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को बुलवाया जायं, उनका उचित आदर–सत्कार एवं सम्मान किया जाय–

**ततो सुमन्त्रमाहूयः वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्।**
**निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः।**
**ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहसस्रशः।**
**समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान्।**

(वा०रा०,बाल० १३/१६–२०/१/२)

कितनी उदात्त भावना रही है महाराज दशरथ एवं गुरू वशिष्ठ की ! रामायण की यह विश्वबन्धुत्व की परम्परा आज तक प्रायः सभी राष्ट्र मानते हैं। राष्ट्र में सम्पन्न होने वाले विभिन्न विशिष्ट उत्सवों, राष्ट्र के राष्ट्राध्यक्षों को तथा सम्मानित विशिष्ट पुरूषों को आमन्त्रित किया जाता है। पृथ्वी पर अन्य जो–जो भी राजा महाराजा दशरथ के प्रति स्नेह रखते थे, उन सभी को बुलवाया गया था।

संसार के हितचिन्तन एवं सर्वलोक कल्याण की भारतीय भावना का सम्मान विश्वराजनीति में सदैव किया गया है, क्योंकि वेदों में यज्ञ–प्रक्रिया में भी जहाँ–तहाँ स्वार्थ को छोड़कर परार्थसाधन की कामना दृष्टिगोचर होती है। यज्ञ–प्रक्रिया में **"स्वाहा"** (स्व–आ–हा, स्वार्थ का सर्वथा त्याग), **"इदन्न मम्"**(यह मेरा नहीं है) आदि शब्दों का तात्पर्य विश्वबन्धुत्व के हितार्थ स्वत्व का त्याग ही है। मेरे–तेरे की भावना तुच्छ मानसिकता के लोग सोचते हैं, भारतीयों का चरित्र सदैव उदार रहा है, अतः सम्पूर्ण पृथ्वी को ही अपना परिवार मानकर सबके प्रति बन्धुवत् व्यवहार करने ,की भारतीय परम्परा का प्रभाव आज भी कम नहीं है–


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।**
**उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।**

(हितो०मित्रलाभ ७०)

रामायण में विभिन्न देशों के ब्राह्मणों का राजा दशरथ के यज्ञ में आकर वेदाध्ययन एवं यज्ञ करवाने का उल्लेख है–

**बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम्।**
**ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययन शालिनाम्।।**

(वा०रा०, बाल० ५०/३)

इसका तात्पर्य है कि विभिन्न देशों के ब्राह्मणों को बुलाकर वेदाध्ययन, यज्ञादि करवाने से विभिन्न देशों की संस्कृति, रीति–नीति समझने एवं एक स्थान पर एकत्र होने से **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** की भावना बलवती होती है। राजा दशरथ की विश्वबन्धुत्व की भावना से ही प्रभावित होकर अन्य नरेश उन्हें अपना सम्राट् मानकर उनके प्रति सम्मान करते थे तथा उन्हीं के नेतृत्व संरक्षकत्व में ही विश्व अभ्युदय एवं कल्याण की कल्पना करते थे, सभी एकसाथ बैठकर मानों दशरथ की उपासना करते थे–

**अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथ नृपम्।।**
**प्राच्योदीच्या प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।**
**म्लेच्छाश्चार्याश्चये चान्ये वनशैलान्तवासिनः।।**
**उपासांचकिक्ररे सर्वे तं देवा वासवं यथा ।**

(वा०रा०, अयो० ३/२४–२५/१/२)

रामायणकालीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उस समय बृहत्भारतवर्ष में चार ही चक्रवर्ती सम्राट थे। उत्तर में जनकपुर में विदेहराज जनक तथा अयोध्या के महाराज दशरथ, दक्षिण में वानरराज बालि एवं लंका के अधिपति रावण, परन्तु बालि तथा रावण ने अपने बाहुबल से प्रजा पर बलात् अत्याचार एवं अनाचार द्वारा शक्ति का दुरुपयोग किया था, विशेषतः रावण ने तो समस्त देव–दनुज, मनुजादि को संत्रस्त कर रखा था। पृथ्वी के अन्य नरेश उसके भयवश उसका यशोगान करते थे, उसकी चरणवन्दना किया करते थे। जबकि विदेहराज जनक एवं महाराज दशरथ के मैत्रीभाव, प्रीति, सम्मान व बन्धुत्व की भावना आदि गुणों से अभिभूत होकर उनके चक्रवर्तित्त्व का सम्मान करते थे। राजा जनक के द्वारा आयोजित सीतास्वयंवरार्थ धनुषयज्ञ में सभी द्वीपों अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के राजाओं को ससम्मान बुलाया गया था। राजा जनक की सौम्यता व यज्ञ की भव्यता को कौतूहलपूर्वक देखने के लिए ही देवता भी छद्मवेश में आये थे–

**दीप-दीप के भूपति नाना, आये सुनि हम जो पनु ठाना।**
**देव दनुज धरि मनुज सरीरा, विपुल वीर आये रन धीरा।।**

(रा०च०मा०,बाल० २५०(४))



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वमैत्री की भावना प्रायः ब्राह्मणों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। उसका व्यवहार मृदु, स्वभाव कोमल तथा "सर्वभूत हिते रतः" की भावना से ओतप्रोत होता है, इसीलिए उसे सभी प्राणियों का मित्र कहा गया है–

**ब्राह्मणो दारूणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।**
**आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति।।**

(महाभा०, अनु० २७/१२)

इसीलिए मनु ने भी ब्राह्मण को अद्रोहपूर्वक अनापद जीविका बिताने का परामर्श दिया है क्योंकि ब्राह्मण अद्रोही विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत होता है–

**अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।**
**या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि।।**

(मनु ४/२)

रामचन्द्र जी वानरराज सुग्रीव की सहायता से जब लंका विजय हेतु सैन्य संगठन का विचार करते हैं तो वानरराज सुग्रीव ने सभी दिशाओं के वानरों को सेना में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया था–महेन्द्र, हिमवान, विन्ध्य, कैलाश, मन्दराचल पर्वतों पर निवास करने वाले वानर, पश्चिम दिशा में समुद्र के निकट पर्वतों पर निवास करने वाले वानर, अञ्जनपर्वत पर निवास करने वाले महाबली वानर, गुफाओं में, मेरूपर्वत पर तथा धूम्रगिरि पर्वत पर निवास करने वाले वानर, महारूण पर्वत तथा अन्य जहाँ–जहाँ वनों एवं तपस्वियों के आश्रम में निवास करने वाले वानरों को सुग्रीव ने सम्मानपूर्वक सेना में सम्मिलित किया था। (वा०रा०, किष्कि० २७/२–६) सुग्रीव ने उन वानरों को सम्मान सहित दानादि देकर बुलाने का परामर्श अपने दूतों संदेशवाहकों को दिया था, भय एवं त्रास दिखाकर बलात् सेना में घसीटने का प्रयास सुग्रीव ने नहीं किया था। समस्त भूमण्डल के वानर राम की सेना में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हुए थे। वाल्मीकिरामायण में हम विश्वमैत्री का यह उत्तम उदाहरण पाते हैं। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में राम की आदर्श सेना का संगठन स्वतः प्रेरणा से ही संगठित होता दर्शाया है–

**एहि बिधि होत बत कही, आये वानरजूथ।**
**नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ।।**

(रा०च०मा०, किष्कि० २१)

वाल्मीकिरामायण में वर्णित राम की सेना से ही प्रेरित होकर विश्व–शान्ति सेना का संगठन किया गया है जिसका उद्देश्य विश्व में शान्ति स्थापित कर विश्वबन्धुत्व की भावना को ही संवर्धित करना है। "चरैवेति–चरैवेति" का उद्घोष प्राचीनकाल से ही ऋषि–मुनि करते आये हैं, "शनैः कन्था–शनै पन्था" की भावना लेकर पृथिवी पर विचरण करते हुए सबके आचार–व्यवहार, रीति–रिवाज, भाषा–वेशभूषा आदि को समझने की


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
इच्छा सदैव से ही बलवती रही है। जिसने विश्वभ्रमण कर विश्वमैत्री का संकल्प पूरा करने का प्रयास नहीं किया उसका जन्म निरर्थक है–

**देशान्तरेषु बहुविधभाषाभेषादि येन न ज्ञातम्।**
**भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम्।।**

(पञ्च०,मित्रभेद ४३०)

**"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"** (ऋ० ६–६३–५) की भावना इसी लक्ष्य को परिपुष्ट करती है। मनु महाराज भी विश्व के समस्त मानवों को आचरण सीखने के लिए इसी भारतवर्ष देश के ब्राह्मणों से परामर्श देते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी का आचरण एक जैसा होगा तो विश्वबन्धुत्व की भावना अधिक बलवती होगी–

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।।**

(मनु०२/२०)

रामचन्द्र जी ने जब अयोध्या का राज्यभार धारण किया तो उन्होंने अनेक जनपदों के स्वामी तथा महामनस्वी क्षत्रियों को आमन्त्रित किया। वे सब के सब रामचन्द्र जी के पास आकर बैठते हैं तथा विभिन्न समस्याओं के समाधानार्थ चर्चा भी करते हैं–

**क्षत्रियाश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः।**
**रामस्योपाविशन् पार्श्वे शक्रस्येव यथाऽमराः।।**

(वा०रा०, उत्तर० ३७/१६)

उन्होंने समस्त जनपदों के नरेशों से तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही उन्हें अपने राज्य में ससम्मान बुलवाया था तथा उन्हें रामचन्द्र जी ने ससम्मान विदा भी किया था–

**ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राघवं गमनोत्सुकाः।**
**पूतितास्ते च रामेण जग्मुर्देशान् स्वकान्-स्वकान्।।**

(वा०रा०, उत्तर० ३८/३३)

इतना ही नहीं उन राजाओं ने भी अपने–अपने राज्यों में जाकर महाराज रामचन्द्र जी के लिए भी रत्नादि उपहार भेंट स्वरूप भेजे–

**यथा पुराणि ते गत्वा रत्नानि विविधान्यथ।**
**रामस्य प्रियकामार्थमुपहारं नृपा ददुः।।**

(वा०रा०, उत्तर० ३६/८)

आदर्श महाकाव्य वाल्मीकिरामायण की इस परम्परा से भिन्न–भिन्न देशों के राजाओं में आदान–प्रदान से प्रीति तथा मैत्री और अधिक प्रगाढ़ होती है। रामचन्द्र जी में समस्त राजाओं का भाव उसी प्रकार था जैसे पुत्र का भाव पिता में होता हैं, राजा रामचन्द्र जी भी सभी के प्रति करूणा और दया का भाव रखते थे, वे सम्पूर्ण पृथ्वी के प्राणियों के आश्रय थे–


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**पुत्राश्च पितृवद् राजन् पश्यन्ति त्वां महाबलः।**
**पृथिव्या गतिभूतोऽसि प्राणिनामपि राघवः।।**

(वा०रा०, उत्तर० ८३/१२)

अयोध्यापति रामचन्द्र जी ने विश्वमैत्री की ही कामना से अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प किया तथा पुरोहितों एवं ब्राह्मणों ने जब उनका विचार जाना तो वे बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने रामचन्द्र जी को यज्ञ की सहर्ष स्वीकृति भी दे दी। तत्पश्चात् रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से यज्ञ की तैयारी करने का आदेश देते हुए विभिन्न महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को आमन्त्रित करने के लिए कहा, उन्होंने वानरराज सुग्रीव को वानरों सहित, लंकाधिपति विभीषण को राक्षसों सहित आमन्त्रित किया। अन्य राजाओं को राजपरिवार व मन्त्रियों सहित आमन्त्रित किया गया। जो ब्राह्मण देश छोड़कर अन्यत्र चले गये उन सभी को भी बुलवाने के लिए रामचन्द्र जी की इच्छा थी, तपोवन में निवास करने वाले ऋषि–मुनियों को भी उनकी पत्नियों व शिष्यों सहित बुलवाया गया था। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया था कि जो भी आमन्त्रित जन आयें उन सबको विधिपूर्वक तुष्ट–पुष्ट एवं सम्मानित करके ही विदा किया जाय–

**तुष्टः पुष्टश्च सर्वैऽसो मानितश्च यथाविधिः।**
**प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यातां जनः।।**

(वा०रा०, उत्तर० ६१/१८)

भारतवर्ष की सांस्कृतिक विशेषता **"संगच्छध्वं संवदध्वं०"** तथा **"सह नौ भवतु सह नौ भुनक्तु०"** रही है। जिसका सन्देश आज भी मानव को विश्वमैत्री की ओर आकर्षित कर रहा है। परमाणु शक्ति के गर्व में उन्मद विश्व के किञ्चित् देश विश्वमैत्री तथा विश्वकल्याण की परम्परा पर जो कुठाराघात कर रहे हैं, वह चिन्तनीय व शोचनीय विषय है। आज कतिपय स्वार्थवादी संगठन आतंकवाद के माध्यम से विश्व में निर्दोष लोगों की हत्याकर अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूरा करने में भले ही तात्कालिक सफलता प्राप्त कर लें, परन्तु उनकी यह कार्यप्रणाली विश्वमैत्री की सभ्यता को कहाँ ले जायेगी यह विचार करने का उनके पास न तो समय है और न ही क्षमता। सामाजिक–राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं यदि सहानुभूति एवं विश्वास से हल करने के प्रयास किए जाये तो परिणाम सुखद, समृद्धिकारी एवं लोकहित में होंगे। परन्तु इस ओर आज न किसी का ध्यान है और न ही कोई प्रयास करना चाहता है। जो समस्याएं आपस में मिल–बैठकर आपसी सूझ–बूझ से हल हो सकती हैं, वे शक्ति प्रदर्शन और बाहुबल से कभी हल नहीं होतीं। प्रेम से प्रेम, घृणा से घृणा ही उत्पन्न होती है, आतंक से घृणा को ही विकसित किया जा सकता है, मैत्री व आदरभाव को कदापि नहीं।

हमें विचार करना है कि मानव अपने अन्दर मानव या देवत्त्व कैसे जाग्रत करें?



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब तक हमारी स्वार्थबुद्धि समाप्त नहीं होगी, मानव में सांसारिक सुख–कामना रहेगी, उसमें पारलौकिक बुद्धि नहीं होगी, तब तक उसमें देवत्त्व जाग्रत नहीं होगा, वह पापाचरण में ही प्रवृत्त रहेगा। जब मानव, मानव के प्रति स्वबन्धुत्व की भावना से ओत–प्रोत नहीं होगा तब तक वह विश्वबन्धुत्व की भावना से युक्त कैसे हो सकता है? विश्वशान्ति की सद्भावना के लिए सामाजिक व राष्ट्रीय सद्भाव व सहानुभूति की आवश्यकता है। स्वार्थपरता ही मानव को मानव के प्रति बन्धुत्व की भावना जाग्रत करने में बाधक होती है। यदि समय रहते हमारे विश्व संगठनों ने इस दिशा में कोई सकारात्मक एवं प्रभावशाली प्रयास नहीं किये तो भविष्य में इसका दुष्परिणाम समस्त मानव जाति को अभिशाप के रूप में भोगना पड़ेगा।

रामचन्द्र जी सदैव **"स्वस्ति पन्थामनुचरेम०"**(ऋ० ५–५१–१५) की भावना से अनुप्रेरित रहे हैं और अपने कल्याण के साथ–साथ विश्वकल्याण के लिए सदैव प्रयासरत रहे हैं। विश्वमैत्री की भावना से ओत–प्रोत श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण का सन्देश आज के विश्व घटनाक्रम में और भी प्रासंगिक तथा अनुकरणीय हो जाता है। जबकि मानव में स्वार्थ, लोभ एवं कर्त्तव्यभावना का अभाव, संकट के समय किसी संकटग्रस्त की सहायता न करना आदि दोष, वैमनस्य, कटुता, पारस्परिक अन्तर बढ़ते जा रहे हैं। हम तो श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण के विश्वबन्धुत्व के आदर्श सन्देश को प्रसारित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य इसलिए समझते हैं कि दिग्भ्रमित स्वार्थपरता से घिरे लोगों को अपनी पुरानी मान्यता से पथ प्रशस्त करना चाहिए, हमारा सदैव से ध्येय रहा है–

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग् भवेत्।।**

**डॉ० प्रमोद कुमार श्रोत्रिय**
**राजकीय इण्टर कोलिज खेला,**
**पिथौरागढ(उ०प्र०)**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# द्रौपदी चीर-हरण एक कोरी कल्पना महाभारत की अन्तःसाक्षी

महाभारत का युद्ध जो कुरुक्षेत्र की भूमि पर लड़ा गया और जिसमें ग्यारह अक्षौहिणी सेना कौरवों की ओर से तथा ६ अक्षौहिणी सेना पाण्डवों की ओर से हिण्यवती नदी के तट पर पूर्वाभिमुख और पश्चिमाभिमुख होकर लडी, उसके मूल में जहाँ कौरवों द्वारा पाण्डवों को राज्याधिकार से पदच्युत करना था वहीं "द्रौपदी अपमान" रूपी घटना ने इसमें घी का काम किया। महाभारत की अनेक घटनायें जहाँ प्रक्षेप की भरमार के कारण भ्रान्ति उत्पन्न करती है वहीं "द्रौपदी अपमान" की घटना भी आम आदमी में भ्रान्ति उत्पन्न करती आ रही है तथा श्रीकृष्ण जैसे महापुरूष के जीवन के उद्देश्य को मटियामेट कर, उनके महत्त्व को कम करती है। वास्तव में क्या चीर–हरण की घटना हुई थी? क्या श्रीकृष्ण जी ने चीर बढ़ाया था? इन प्रश्नों का उत्तर हम महाभारत की अन्तःसाक्षी के आधार पर प्रस्तुत करेंगे। किन्तु उससे पूर्व एक बात पाठकों के लिए और बताना चाहेंगे कि श्रीकृष्ण जी का पाण्डवों के प्रति इतना स्नेह क्यों था और बलराम जी का दुर्योधन के प्रति इतना प्रेम भाव क्यों था? इसमें निम्न कारण थे–श्रीकृष्ण जी के पितामह यदु हस्तिनापुर के ही राज्याधिकारी थे। कुन्ती उनकी सगी बुआ थी। अर्जुन उनकी बहिन के पति थे। कौरवों ने पाण्डवों को सदा दुःख ही दुःख दिया, इन सब कारणों से कृष्ण जी का स्नेह पाण्डवों के प्रति अधिक था। बलराम जी जहाँ दुर्योधन के गदा–गुरू थे, वहां श्रीमद्भागवत की साक्षी अनुसार बलराम जी की लड़की का दुर्योधन के पुत्र से वैवाहिक सम्बन्ध भी था। इन कारणों से बलराम जी दुर्योधन के प्रति अधिक प्रेम रखते थे। यही कारण है कि महाभारत युद्ध में कृष्ण पाण्डवों की ओर रहते हुए भी लड़े नहीं तथा बलराम जी तो युद्ध के समय तीर्थ–भ्रमण को चले गए तथा अन्त में गदायुद्ध के समय भीम पर बरस पड़े। अस्तु। अब हम मुख्य विषय पर आते हैं।

भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के भू० पू० महानिदेशक श्री **प्रो० ब्रजवासी लाल** का कथन है कि रामायण और महाभारत कोई काल्पनिक इतिहास नहीं है। उसके मूल में सत्यता है। भले ही उसमें बाद में कवि की कल्पना की उडान और संवर्द्धन के कारण बढ़–चढ़ कर बातें लिखी गयी हों। श्री लाल ने महाभारत काल की सत्यता जानने के लिए हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, बरनावा, कुरुक्षेत्र, मथुरा, पानीपत आदि का उत्खनन व सर्वेक्षण करके उपरोक्त विचार अभिव्यक्त किये हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मूल रूप में सत्य है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में महाभारत की श्लोक संख्या


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में निरन्तर वृद्धि की चर्चा की है। स्वामी जी के विचार पठनीय और मननीय है। यथा–यह बात राजा भोज के बनाये **'संजीवनी'** नामक इतिहास में लिखी है, जो कि ग्वालियर के राज्य भिण्ड नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यास जी ने चार सहस्त्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पांच सहस्त्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् सब दश सहस्त्र श्लोक का प्रमाण 'भारत' बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्त्र श्लोकों से युक्त था, महाराजा भोज कहते है कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्त्र श्लोक युक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊँट का बोझा हो जाएगा। (समु० ११) यह सच ही है, इस समय १२५००० से भी ऊपर श्लोक संख्या है।

हम भी यहाँ महाभारत की अन्तःसाक्षी के आधार पर उस तथ्य का निरूपण करेंगे जो हमारे हृदयों से अन्ध श्रद्धा की जड़तावश आज भी उखड़ता नहीं है। **महाभारत की विशिष्ट घटना है–"द्रौपदी का भरी सभा में अपमान"।** कौरव वंश के विनाश में इस घटना का महान् महत्त्व है। न जूआ(द्यूत) होता और न यह घृणित कार्य होता। **"विनाश काले विपरीत बुद्धि"।** ज्ञानी मानी शूरवीर परस्पर कट–कट कर मर गए। वेद के ज्ञाता होने पर भी युधिष्ठिर ने जूआं खेला। वेद कहता है–**"अक्षेर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व"।** कहते है–शकुनि की चालाकी से हार गए। क्यों जी, स्वयं हारने पर अन्यों को दांव पर लगाने का क्या अधिकार था? खैर !

द्रौपदी का भरी सभा में अपमान हुआ। उसे कटुवचन कहे गये, दुःशासन ने उसकी केश–राशि पकड़कर जबरदस्ती घसीटकर सभा में लाकर घोर अपमान किया। किन्तु द्रौपदी विदुषी थी, उसने स्पष्ट रूप में सभासदों से पूछा कि –"महाराज युधिष्ठर ने अपने हार जाने के बाद यदि मुझे दांव पर लगाकर हारा है तो मैं कैसे हार कर दासी भाव को प्राप्त हो गयी?" इस बात को सुनकर जहाँ बडे–बूढ़े गुरू लोग मुंह लटकाकर या फेर कर बैठे रह गए, वहां सभा के मध्य विदुर जी ने समयोचित सत्यवाणी का प्रयोग कर द्रौपदी के सभा में लाए जाने और उसके अपमान को महान् दुष्कृत्य और धर्महीन कृत्य बताकर कौरवों के विनाश की आशंका अभिव्यक्त की। समस्त दुष्ट मण्डली की निन्दा की। वे कहते हैं–

**न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।**
**अनीशेन हि राज्ञेषा पणेन्यस्तेति मे मतिः।।**

(सभा ६६–४)

अर्थात् सर्वस्व से हाथ धोये, पर हाथ बिके, राजा के दांव लगाने पर द्रौपदी दासी नहीं हो सकती, यह मेरी सम्मति है। वे कहते हैं–अच्छे भले बैठे क्यों मृत्यु के घर में कूदनें के लिए छलागें लगा रहे हो? हे दुर्योधन ! व्यर्थ पापमय बाणरूप तीखी वाणी से दुःख न बढ़ाइये।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनन्तर विकर्ण ने भरी सभा में जो साहस का परिचय दिया, वह इतिहास की महान् घटना है। विकर्ण ने सब सभासदों से प्रश्न किये तो किसी ने उसे उत्तर न दिया। तब विकर्ण बोला–सब कुछ विचार कर मैं भी द्रौपदी को जीती हुई नहीं मानता। यथा–

**साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।**
**जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः।।**
**इयं च कीर्तिता कृष्णा सोबलेन पणार्थिना।**
**एतत्सर्वं विचार्याहंमन्ये न विजितामिमाम्।।**

जब यह बात विकर्ण ने कही तो सभा में हंगामा खड़ा हो गया। महाभारत में पढ़िए–**एतत् श्रुत्वा महान् नादः सभायामुदतिष्ठत।**

तदनन्तर विदुर जी ने कहा–

**द्रौपदी प्रश्नमुक्तैव रोरवीति हयनाथवत्।**
**न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते।।**

साथ ही विकर्ण की बात को पुष्ट करते हुए विदुर जी कहते हैं–विकर्ण ने जिस प्रकार बुद्धियुक्त प्रश्न किया है। आप सब भी इसी प्रकार अपनी बुद्धि के अनुसार प्रश्न करें।

इस प्रकार विकर्ण और विदुर जी ने द्रौपदी के सभा मध्य लाए जाने का घोर विरोध किया। अन्य सभासदों को भी उकसाया। तब दुष्टमण्डली का विरोध होने लगा। भरी सभा में भयंकर विस्फोट होता देख, यथा–

**तं वै शब्दं विदुरस्तत्ववेदीशुश्राव घोरं सुबलात्मजा च।**
**भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वानस्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः।।**
**ततो गान्धारी विदुरश्चापि विदुषा मुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे।**
**निवेदयामासातुरातवित् तदान्ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे।।**

पाठक! इन श्लोकों में स्पष्ट रूप से दुष्ट मण्डली के विरोध में एक क्रान्ति का उद्घोष है। सभा में कई प्रकार के उत्पात दिखायी देने लगे। तदनन्तर धृतराष्ट्र की आँखें खुली और वे देश, काल ओर हिताहित का विचार कर दुर्योधन को इन शब्दों में फटकारने लगे–

**हतोऽसि दुर्योधनमंदबुद्धे! यस्त्वं सभायां कुरुपुंगवानाम्।**
**स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीतं विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम्।।**

(स० ७१–२५)

अर्थात् हे मन्दबुद्धि विनयहीन दुर्योधन! तू नष्ट हो जाएगा। जो तू कुरुवंशियों की पुण्य सभा में एक देवी के साथ पापमय सम्भाषण कर रहा है, विशेषकर धर्म की पालना करने वाली शीलवती द्रौपदी से ।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार महाराज धृतराष्ट्र ने महान् विपद् आयी समझ द्रौपदी को विविध शान्तिदायी वचन कह, उसे रनिवास में भेजा और पाण्डवों को दासभाव से मुक्त कर दिया। बस, यहीं आकर यह एक अध्याय समाप्त हो जाता हैं। न यहाँ तक चीरहरण की बात है, न बढ़ाने की। यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता है। किन्तु प्रत्येक बात में अलौकिकता की पुट देने वालों ने प्रक्षेप की वह भरमार की है कि अगला अध्याय पूरा द्रौपदी के चीरहरण का देकर श्रीकृष्ण जैसे महापुरूष को उसका वस्त्र बढ़ाते चित्रित कर दिया है। जबकि चीर–हरण जैसी घटना वहां हुई नहीं थी। वहां तो दुःशासन द्वारा रजस्वला एक वस्त्रा द्रौपदी को बालों से घसीटकर लाकर सभा मध्य खड़ा कर दिया गया था, वही उसका घोर अपमान था। क्योंकि द्रौपदी स्वयं कहती है–"सभा में इससे पूर्व स्त्री जाति को इस प्रकार कभी अपमानित नहीं किया गया।" यथा–

**धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति न श्रुतम्।**
**सः नष्टः कोरवेषु पूर्वोधर्मः सनातनः।।**

हाँ, दुष्ट मण्डली उसका महान् अपमान कर सकती थी, यदि विदुर और विकर्ण मण्डली ने घोर विरोध न किया होता। उनके विरोध करने का ही यह फल हुआ कि सभा में कौरव–पक्ष के वीर भी इनके साथ हो गये ओर उत्पात की आशंका से भयभीत धृतराष्ट्र को हस्तक्षेप करना ही पडा।

इसी प्रकार उद्योग पर्व में कुन्ती भी श्रीकृष्ण को संन्देश देती हुई चीर–हरण की बात कहीं नहीं कहती, बल्कि वह सर्वत्र ही द्रौपदी के अपमान और दुःशासन तथा दुर्योधन द्वारा कहे गए कटु व्यंग्य वचनों की बात ही कहती है। कुन्ती को सबसे अधिक दुःख इसी बात का है कि–

**न राज्यहरणं दुःखं द्यूतं चापि पराजयः।**
**प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम्।।**
**यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा।**
**अश्रौषीत् परूषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत्।।**
**स्त्रीधर्मणि वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा।**
**नाध्यमच्छत्तदा नाथं कृष्णानाथवती सती।।**

वह कहती है–"कृष्ण मुझे राज्य के छिन जाने का इतना दुःख नहीं, जूएं में हारने और वनवास होने का भी मेरे मन में उतना महान दुःख नहीं है। परन्तु भरी सभा में मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदी ने रोते हुए जो दुर्योधन के कटु वचन सुने थे वही मेरे लिए महान् दुःख का कारण बन गए हैं।"

इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज जब सन्धि के लिए हस्तिनापुर जाते है तब द्रौपदी जो उन्हें वचन कहती है, वें अन्तर्ज्वाला का धधकता रूप ही हैं। वह कहती है, "दुःशासन


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने जो भरी सभा में उसे बाल खींचकर अपमानित किया था, उससे वह अब तक जल रही है। मेरे उस अपमान को मत भूलना।" अर्जुन भी कृष्ण से कहते है कि पाप बुद्धि दुःशासन ने जैसे द्रौपदी को सभा मध्य खींचा था, उस अपमान को कैसे भुलाया जा सकता है? प्रकारान्तर से हम यहाँ महाकवि माघ के **'दूतवाक्यम्'** नाटक के भी कुछ उदाहरण दे रहे हैं। यथा– 'द्रौपदी केशघर्षणमत्रालिखितम्' तथा 'एष दुःशासनो द्रौपदीं केशहस्ते गृहीतवान्'। इनसे ज्ञात होता है कि **माघ के समय तक चीर-हरण जैसी घटना अमान्य थी, अपितु दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश पकड़कर सभा मध्य लाकर उसे अपमानित करने की घटना का ही महत्त्व था।** इसी प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण के स्कन्द ११ अध्याय १ श्लोक २ के अनुसार 'केशापकर्षणरूप अपमान' का ही उल्लेख है।

इसी सन्दर्भ में हम यह भी तथ्य महाभारत की अन्तःसाक्षी के आधार पर रखना चाहेंगे कि जब जूआं खेला गया और द्रौपदी को सभा–मध्य अपमानित किया गया, उस समय श्रीकृष्ण जी महाराज अपनी द्वारिकापुरी से भी और हस्तिनापुर से भी अति दूर थे। इसलिए एक महान् पुरूष को चीर–हरण जैसी वीभत्स घटना में चित्रित करना बुद्धिमानों की प्रज्ञा का श्रेष्ठ उदाहरण नहीं। जरा सोचिए–जो कृष्ण चेदि के शिशुपाल, मगध के जरासंध और मथुरा के कंस तथा हस्तिनापुर के कौरवों के अत्याचारों को सहन नहीं कर सका, जिसने अपनी अल्पावस्था में ही कंस को मारकर प्रजा को आनन्द प्रदान किया तथा जिस कृष्ण ने धृतराष्ट्र की भरी सभा में सन्धि प्रस्ताव रखते हुए दुर्योधन को खरी–खरी सुनायी और अपने कैद करने की हर सम्भावना की कुटिल नीति को अपनी दूरदर्शिता से नाकाम कर दिया तथा **जिस कृष्ण के जीवन का लक्ष्य ही अधर्म को मिटाना और धर्म की स्थापना करना हो वह ऐसे अधार्मिक, कुत्सित, घृणित कर्म में कैसे सहयोगी हो सकता है कि लो तुम चीर हटाओ, मैं बढ़ाऊँ। धन्य है हमारी प्रज्ञा को!**

इसलिए पढ़िए उद्योग पर्व का यह श्लोक और विचारियें–

**ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।**
**यद् गोबिन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्।।**

अर्थात् जिस समय कौरव सभा में द्रौपदी का अपमान हो रहा था, मैं(श्रीकृष्ण) हस्तिनापुर से बहुत दूर था, उस समय कृष्णा ने 'आर्तभाव' से गोबिन्द कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर ऋण बढ़ता ही जा रहा है, मेरे हृदय से दूर नहीं होता। अपराधी कौरवों का संहार किए बिना उसका भार दूर नही होगा। वास्तव में यदि अपमान के समय कृष्ण वहां पहुँच गए होते तो महाभारत वहीं हो गया होता, क्योंकि कृष्ण उस समय के महान् बली, महान् पराक्रमी, धर्मज्ञ, राजनीतिज्ञ व कूटनीतिज्ञ तथा राष्ट्रीय नेता थे।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम अपने पढ़ने वाले प्रेमियों ने महाभारत के वन–पर्व के श्लोक पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत करते है। जिस समय पाण्डव वनवासी हो जाते हैं, तब श्रीकृष्ण जी उनका कुशल–मंगल पूछने वहां दल–बल सहित पहुँचे। बातों ही बातों में जब युधिष्ठिर ने द्यूत के समय श्री कृष्ण जी से न आने का कारण पूछा, तब कृष्ण ने बड़े कष्ट से जो कहा, व्यास जी के शब्दों में पढ़िए–

**एवं निहत्य समरे सोभं शाल्वं निपात्य च।**
**आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम्।।**
**तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम्।**
**नागमं परिवीरध्न नं हि जीवेत सुयोधनः।।**
**मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा।**
**अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम्।।**

(वनपर्व४१,४२, ४३)

अर्थात् राजन! क्योंकि मैं सौभ और शाल्व को युद्ध में परास्त करने के निमित्त हस्तिनापुर से दूर था (शाल्व ने महाभयंकर विस्फोटक पदार्थों से युक्त एक यान निर्मित किया था, जिसका नाम सौभ था, इसमें भयंकर मारक शक्ति थी, जिसे नष्ट करने में कृष्ण जी व उनके पुत्र प्रद्युम्न को बड़ा परिश्रम और पराक्रम करना पड़ा), इसीलिए द्यूत सभा में उपस्थित न हो सका। यदि मैं वहां पहुँच गया होता तो दुर्योधन जीवित नहीं रह सकता था अथवा मेरे वहां पहुँचने पर जूआं होता ही नहीं। किन्तु राजन्! जल पर से पुल टूटे हुए के समान अब मुझे बताओं, मैं आपका वही प्रिय करूगां।

पाठक ! ऊपर लिखे गए श्लोक ही "चीर–हरण" की वैधता को चुनौती देकर उसे अवैध घोषित कर देते हैं। उसकी मान्यता के भ्रम को खण्डित कर देते हैं। कृष्ण स्वयं ही कह रहे है कि वे उस समय वहां थे ही नहीं। **चीर-हरण जैसी घटना महाभारतीय इतिहास में घटी ही नहीं, इसे हमें सत्य परिप्रेक्ष्य में लेकर देखना चाहिए। द्रौपदी को भरी सभा में घसीट कर लाना, उसे वहां लज्जित करना ही नारी जाति का सबसे बड़ा अपमान था।** यहाँ हमें विदुर और विकर्ण मण्डली के साहसिक एवं ऐतिहासिक वचनों का महत्त्व देखना चाहिए। द्रौपदी को घोर अपमानित करने के लिए दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन के बढ़ते कदम और दुष्कृत्य करने को उद्यत हाथ विकर्ण मण्डली के विक्षुभित होने तथा सभा में उत्पात एवं बड़ा हंगामा होने की आशंका से वहीं रूक गए। समस्त सभासद और धृतराष्ट्र तथा गांधारी एक अनहोनी घटना को महाभारतीय इतिहास में जुड़ने से बचा गए।

**महावीर "नीर" विद्यालंकार**
**गुरूकुल कांगड़ी "विद्यालय-विभाग", हरिद्वार**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# हिन्दी-राष्ट्रभाषा और राजभाषा का संघर्ष

एक स्वतन्त्र देश के लिए अपनी भूमि, राजभाषा एवं पताका होनी अनिवार्य शर्त है। कोई देश अपनी राष्ट्रभाषा के अभाव में राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्रभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है क्योंकि यह विदेशी आक्रमणों को रोकने में पहाड़ों–नदियों, समुद्रों और सेना से भी अधिक सक्षम है। किसी देश की राष्ट्रभाषा ही उसकी राजभाषा होनी चाहिए। इस कारण भारत में भी राष्ट्रभाषा को ही राजभाषा का स्थान मिलना चाहिए। दुखद पहलू यह है कि भारत के संविधान में हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में अपना तो लिया परन्तु व्यवहार में इसे अपेक्षित सम्मान आज तक उपलब्ध नहीं।

राष्ट्र भाषा किसी देश की बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा होती है। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता पूर्व भी हिन्दी ही सही अर्थों में भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा थी। १४ सितम्बर १९४९ को भारत की संविधान सभा द्वारा हिन्दी को जब राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता प्रदान की गयी तो यह हिन्दी के ऊपर सभा की कोई कृपा दृष्टि नहीं थी यह तो हिन्दी की सफल प्रभाविता थी जिसे संविधान सभा ने केवल स्वीकृति प्रदान कर दी थी।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता प्रदान करने का आन्दोलन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। हिन्दीतर भाषियों और विदेशी जनों ने भी इसमें पूर्ण सहयोग दिया। **एडवर्ड टेरीका** वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने १६५५ में ही हिन्दी को भारत भर की बोलचाल की भाषा कहा।

१७०४ ई० में डचों का व्यापारिक सम्बन्ध भारत के दक्षिणी हिस्से से हुआ किन्तु हिन्दुस्तानी भाषा जानना उन्हें इतना आवश्यक प्रतीत हुआ कि उन्होंने डच भाषा में हिन्दी का व्याकरण लिख लिया। सन् १८५२ में फ्रांसीसी विद्वान गार्सांद तासी ने हिन्दुई अर्थात हिन्दी को ही भारत की लोकभाषा कहा। डॉ० अब्राहम ग्रियर्सन ने भी हिन्दी को ही भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में देखा और उस पर अविस्मरणीय कार्य किया।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्थापित करने का आन्दोलन बंगाल व महाराष्ट्र में सर्वप्रथम शुरू हुआ। राजा राममोहन राय वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी की वकालत की। हिन्दी प्रान्तों की हिन्दी–निष्ठा पर यहाँ अवश्य प्रश्न चिन्ह लगाना पड़ेगा कि कोई



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहल वहां से क्यों नहीं हुई? केशवचन्द्र सेन जी बंगाल के महान धार्मिक नेता थे, ने राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए हिन्दी की अनिवार्यता पर जोर दिया। गुजरात में जन्में आर्यसमाज के संस्थापक व भारत के महान सन्त, दिव्यपुरूष स्वामी दयानन्द ने ४८ वर्ष की अवस्था में हिन्दी युग व राष्ट्र की आवश्यकता को देखकर ही हिन्दी सीखी होगी। हिन्दी का प्रथम व्यवस्थित ग्रंथ गुजराती साहित्यकार लल्लू लाल द्वारा रचित है। बंगाल के बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। परन्तु आजादी मिलने पर हमारे संविधान में हमारे दिग्गज नेताओं और स्वतन्त्र देश के कर्णधारों ने यह व्यवस्था की कि १५ वर्षों तक अंग्रेजी हिन्दी की एक सहयोगी भाषा के रूप में कायम रहेगी। हिन्दी के साथ यह निरर्थक गठजोड़ हिन्दी का दुर्भाग्य बना।

तुर्की के शासन की बागडोर जिस दिन कमाल पाशा के हाथों में आई तो उसके समक्ष तुर्की की राजभाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। कमाल पाशा ने शिक्षाधिकारियों और शिक्षाविदों, राज्य के वरिष्ठ अफसरों को बुलाकर कहा–"तुर्की भाषा में अपना राज–काज चलाने में कितने वर्ष लगेंगे?, उत्तर प्राप्त हुआ–कम से कम दस वर्ष लगेंगे। कमाल पाशा ने तुरन्त आदेश दिया–समझ लो, कल सुबह दस बजे तक वे दस वर्ष पूरे हो चुके और दस बजे से सारा काम–काज तुर्की भाषा में ही होगा।" और दूसरे ही दिन से तुर्की, तुर्की की राजभाषा बन गयी।

आयरलैण्डवासियों ने स्वतन्त्र होने के अगले ही दिन से अपनी मातृभाषा गैलिक में अपना काम शुरू किया। लगभग चालीस देशों के विस्थापित यहूदी जब अपने देश इज़राइल में जाकर बसे तो उनके सम्मुख भाषायी समस्या भारतवर्ष से कुछ कम नहीं थी परन्तु उन्होंने अपनी मातृभाषा हिब्रू को पुनर्जीवित कर इस समस्या को मिनटों में सुलझा लिया और हिब्रू वहां की राजभाषा बन गयी।

भारत आज तक सही अर्थों में हिन्दी को राजभाषा के रूप में नहीं अपना पाया। इसका मुख्य कारण है, भारतीय सत्ता पर अभारतीय मानसिकता का प्रभाव। अंग्रेजी के १५ वर्षों तक हिन्दी के साथ जोड़ने की अवधि उन महान पुरूषों के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि इसी समय में अंग्रेजी को अपना वर्चस्व व विस्तार करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

ब्राजील देश के सम्राट् के उद्यान में एक तीन–चार फिट का पुराना ताड़ का पेड़ था। सामान्यतः ताड़ के पेड़ की ऊँचाई ५० से १०० फिट तक होती है। यह आश्चर्यजनक बात थी। जिज्ञासा व्यक्त करने पर कि ताड़ का यह वृक्ष अपनी प्रकृति के अनुसार लम्बा क्यों नहीं हुआ? सम्राट् ने उत्तर दिया कि महीने में दो बार इसकी जड़े कटवा दी जाती हैं। वह सम्राट् ताड़ की जड़े कटवाता था। भारत की अफसरशाही हिन्दी की जड़े काटती रही है। वैसे इस व्यवस्था में हम समूचे आकण्ठ डूबे हैं परन्तु खूबसूरती


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि इल्ज़ाम धोबी पर है। कथा को अंग्रेजियत में ढाल रहे हैं और मातृभाषा की उपेक्षा कर रहे हैं।

**इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके जुर्म हैं।**
**आदमी या तो जमानत पर रिहा है या फरार।।**

यह कहना गलत होगा कि हिन्दी का विरोध केवल हिन्दीतर भाषा–भाषी करते हैं। हिन्दी भाषी भी इसके घर में सेंध लगाते हैं। आज स्थिति यह है कि केन्द्र सरकार व अहिन्दी भाषी राज्यों का लगभग सारा कार्य अंग्रेजी में होता है और हिन्दी भाषी राज्यों का अधिकतर कार्य अंग्रेजी में होता है। अंग्रेजी का प्रभाव इतना गहरा हो गया है कि स्वतन्त्र रूप से हिन्दी को राजभाषा के रूप में अपनाने को राष्ट्र तैयार ही नहीं दिखाई पड़ता।

हिन्दी राष्ट्रकवि दिनकर ने एक बार कहा था–"**संसार के सभी देशों में शिक्षित व्यक्ति की सबसे पहली पहचान यह होती है कि वह अपनी मातृभाषा में दक्षता से काम कर सकता है। केवल भारत एक ऐसा देश है जिसमें शिक्षित व्यक्ति वह समझा जाता है जो अंग्रेजी में दक्षता से काम करता है।**" इस सम्बन्ध में असम के गौहाटी विश्वविद्यालय का उदाहरण अत्यन्त लज्जाजनक रहा है। जहाँ **हिन्दी विषय का शोध कार्य अंग्रेजी में ही करने की मज़बूरी रही। हिन्दी विषय का शोधग्रंथ हिन्दी में लिखने की गुंजाइश नहीं।** इससे अधिक शर्मनाक स्थिति और क्या हो सकती है? भाषायी हत्या की इससे बढ़िया मिसाल दुनिया में ढूँढे से नहीं मिलेगी।

भारत स्वतन्त्र देश है तो इसकी अपनी स्वतन्त्र राजभाषा होनी ही चाहिए। अंग्रेजी की बैसाखी के सहारे चलने वाली राजभाषा हमारी स्वतन्त्रता पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। जर्मनी, रूस, फ्रांस, इटली, हालैंड़, बर्मा, इराक, लंका, नेपाल, चीन और जापान आदि देशों की राजभाषाएं अंग्रेजी के सहारे की मोहताज नहीं, तो भारत की ही क्या मज़बूरी है कि अंग्रेजी को छोड़ता नहीं?

कुछ विद्वानों का कथन है कि हिन्दी अभी पूर्ण समृद्ध नहीं उसमें ज्ञान–विज्ञान की शब्दावली का अभाव है। जहाँ तक अंग्रेजी का प्रश्न है तो सर्वविदित है कि जब वह ब्रिटेन की राजभाषा बनी थी तो इतनी भी समृद्ध नहीं थी जितनी हिन्दी स्वतन्त्रता से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अंग्रेजी राजभाषा पहले बनी, समृद्ध बाद में हुई। अपनी व्याकरणिक त्रुटियों एवं समस्याओं को तो वह आज तक नहीं सुधार पायी। अपने ध्वनि संकेतों (वर्णों) की समृद्धि में वह हिन्दी से बहुत पीछे रह गयी है।

विज्ञान की शब्दावली के अभाव का रोना व्यर्थ है उससे हमारे राजकार्य में कहाँ बाधा आती है? क्या हमारे नेता संसद की कुर्सियों पर बैठकर फिज़िक्स या कैमिस्ट्री



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ग्रन्थ लिखते हैं? हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिये इतना ही पर्याप्त समझना चाहिए था कि उसमें राजकाज की शब्दावली पूर्ण है या नहीं। हिन्दी को राजभाषा बनाने से कोश आदि के निर्माण की बात रखना भी खुल्लमखुल्ला टालमटोल की नीति थी।

शैलेश मटियानी ने ठीक कहा–**"संविधान में सारे अधिकार बिना शर्त अंग्रेजी को दिये गये हैं। लेकिन राजभाषा का पद घोषित रूप से नहीं दिया गया । हिन्दी को राजभाषा का पद देने की घोषणा की गयी लेकिन अधिकारों के नाम पर अंग्रेजी की जूठन पर पलने को मोहताज रखा गया।"**

गांधी जी ने कहा था–**"यह बात नहीं कि मैं हिन्दी भाषा के पीछे दीवाना हो गया हूँ , परन्तु राष्ट्रीय एकता हासिल करने का यह एक बहुत जबरदस्त साधन है। हिन्दी का प्रश्न मेरे लिए स्वराज्य का प्रश्न बन गया है।"**

अपना राज कार्य चलाने के लिए हमें आज भी अंग्रेजी का सहारा तकना पड़े, इससे शर्म की बात हमारे लिए और कोई नहीं। पचासों वर्ष बाद भी ऐसी सूरत में हमें अपनी आजादी पर गर्व करने का कोई अधिकार नहीं। अन्त में कवि नीरज की पंक्तियों के साथ मेरी बात समाप्त होती है–

**फँस गया है भेड़ियों के झुण्ड में कोई हिरन,**
**अब तो हर एक हाथ से पत्थर उछलना चाहिए।**
**छीनता हो जब तुम्हारा हक कोई उस वक्त तो,**
**आँख से आँसू नहीं शोला निकलना चाहिए।।**

**डॉ० सुचित्रा मलिक**
**विभागाध्यक्ष-हिन्दी विभाग**
**कन्या गुरूकुल महाविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य और उसकी महिमा

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण का सर्वविदित महत्त्व है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'नवधा अथर्वणः'[1] कहकर अथर्ववेद की नौ शाखायें स्वीकार की हैं। किन्तु वर्तमान में इसकी शौनक ओर पैप्पलाद नामक दो शाखायें ही उपलब्ध होती हैं तथा अथर्ववेद का मात्र एक ब्राह्मण गोपथ ही हमारे सम्मुख है। इसके दो भाग हैं–पूर्व गोपथ और उत्तर गोपथ। पूर्व में पांच तथा द्वितीय में छः प्रपाठक अथवा अध्याय हैं। प्रपाठकों का विभाजन काण्डिकाओं में है, जो कुल दो सौ अट्ठावन हैं। इस ब्राह्मण के रचयिता आचार्य गोपथ हैं। ये मध्यदेश के जन्मा प्रतीत होते हैं।[2] अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का उल्लेख इन्होंने **'शन्नो देवीरभिष्टय'**[3] से किया है। जिससे ज्ञात होता है कि ये पिप्पलाद शाखीय है। यास्क[4] ने भी इस ब्राह्मण के **'एतद् वे यज्ञस्य समृद्धं यद् रूप समृद्धम्'**[5] **यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति**(निश्चय से यह यज्ञ की पूर्णता है, जो कि रूप से पूर्णता है–अर्थात् जो कर्म किया जा रहा है, उसके उस समय पढ़ी जाने वाली ऋचा वा यजु स्पष्टतया बतलाता है) को उद्धृत कर इसकी प्राचीनता पर हस्ताक्षर किये हैं। डॉ० कैलेण्ड तथा कीथ इस ब्राह्मण को एक सहस्र वर्ष वि० पू० से प्राचीन मानते है।[6]

गोपथ ब्राह्मण के द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य ओर उसकी महिमा का वर्णन बहुत उत्तमता से उपलब्ध होता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य–सूक्त[7] को उद्धृत करता हुआ ब्राह्मणकार तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मचर्य–चर्या की छाया में प्रतिबिम्बित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रथम काण्डिका में ब्रह्मचारी की महिमा का बखान करता है। जो ब्रह्मचारी (वेदपाठी, वीर्यनिग्रही) सूर्य और पृथिवी दोनों को अन्वेषित करता हुआ विचरण करता है–वह पवन के समान शीघ्र गति वाला और सूर्य के समान तेजस्वी बनकर संसार का उपकार (ज्ञान और विज्ञान के द्वारा) करता है।[8] वायु और सूर्य के गुण उस ब्रह्मचारी में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

द्वितीय काण्डिका में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का निर्देश देते हुए कहा गया है कि वह ब्रह्मचारी सात मनोरागों का दमन करें। ये मनोराग हैं–वेद पढ़ने का तेज, यश, नींद, क्रोध, घमण्ड, रूप, गन्ध। मृगों (सिंहों वा हरिणों ) को ब्रह्मचारी के वेद पढ़ने का तेज, आचार्य को यश, अजगर को नींद, सूअर को क्रोध, जल को घमण्ड, कुमारी कन्या को रूप और औषधि वनस्पतियों को गन्ध चला जाता है। मृगचर्म के धारण से ब्रह्मतेज,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य की सेवा तथा वेदाध्ययन आदि से थके, निद्रा आने पर भी उसे भगा देने से पुनः जब निद्रा पाता है, जो इसका अजगर में होता है, उस ही सोते हुए ब्रह्मचारी को देखकर लोग कहते हैं–वह सोता रहे, इसे तुम मत जगाओ, क्रोधित होकर वाणी से किसी को न सताना, क्रोध को जीतना, घमण्ड पर विजय पाना, किसी के सुन्दर रूप को न देखने से रूप को प्राप्त करना, औषधि वनस्पतियों को तोड़कर उनकी गन्ध को न सूँघने से पवित्र गन्ध वाला हो जाता है।[९] यज्ञ करने से अग्नि के समान तेज को, आचार्य की सेवा आचार्यवत् प्रतिष्ठा को, ग्राम में भिक्षाचरण करते हुए शुद्ध आचरण रखने से विशुद्ध ख्याति को, और वाणी के द्वारा भी क्रोधित न होने से मृत्यु को जीतने की शक्ति को वह ब्रह्मचारी प्राप्त कर लेता है।[१०] वह ब्रह्म निष्ठ ब्रह्मचारी सत्कर्मियों, सन्यासियों, अग्निहोत्रादि विद्या जानने वालों, शूरवीरों और गृहस्थाश्रमियों के लोकों को प्राप्त करता है जो क्रमशः स्त्री को दाहिनें या बाएँ हाथ से, मुख से, हृदय से और उपस्थ इन्द्रिय से नहीं छूता है। धर्म की रक्षा करे तो धर्म उसकी रक्षा निरन्तर करता है। वह ब्रह्मचारी सूत का वस्त्र न पहिनें, जो सूत का वस्त्र पहिनता है, वह क्षत्रियत्व को बढ़ाता है, न कि वेद ज्ञान को। ऊपर न बैठे, नीचे सोवे, नीचे खड़ा होवे और नीचे चले। ऐसा विनम्र व्यक्ति ब्रह्मचारी होता है। पुरूषार्थ करे, विद्या में स्नान करे। यदि आचार्य सोते हुए ब्रह्मचारी को भी बुलावे तो उसके पास आदर से जावे और आदेश पूरा करे।[११]

गोपथ ब्राह्मण में जनमेजय का दो हंसों और दन्तावल से कथानक के माध्यम से प्रश्न पूछा गया है–पवित्र धर्म क्या है? जिसमें ब्रह्मचर्य का पालन ही पवित्र धर्म कहा गया है।[१२] आगे कहा गया है कि यदि ब्रह्मचारी प्रातः सायं यज्ञ करता है तो उसे मृत्यु भी स्पर्श नहीं कर सकती और ऐसे ब्रह्मचारी को जो गृहपति भिक्षा देता है, उसे भी मृत्यु नहीं छूती है। जो भिक्षा नहीं देता उसके यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्न दानादि पुण्यकर्म और धन नष्ट हो जाता है। इसलिए ऐसे ब्रह्मचारी को गृहपति नित्य भिक्षा प्रदान करे।[१३]

ब्रह्मचारी(खाट) ऊँचे स्थान पर न सोवे, गाना न गावे, न नाचे, न घुमक्कड़ी बने और न थूके। ऊँचे सोने से बार–बार जन्म, गाने से विलाप, नाचने से मृतकों को प्राप्तकर्ता, घुमक्कड़ी होने से अन्यगृहों में प्रवेश और थूकने से मलीनता को प्राप्त करता है। यदि ब्रह्मचारी इन दोषों को कर दे तो प्रायश्चित का विधान भी उसके लिए दिया हुआ है।[१४] आगे ब्रह्मचारी के दो आश्रमों की चर्चा है–वशिष्ठशिला आश्रम और वृष्णशिला आश्रम।[१५] जिसमें उसे तप करने के निर्देश हैं।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के विभिन्न कर्त्तव्यों और उसकी महिमा पर प्रकाश डाला गया है जिससे समाज और राष्ट्र इस धर्म के प्रति आकर्षित होकर इसका पालन करे। क्योंकि यह आश्रम अन्य तीनों आश्रमों की आधारशिला है। इसके चिरस्थायी होने से अन्य चिरस्थायी बनते हैं। गोपथ आचार्य का निर्देश वस्तुतः स्तुत्य है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

## प्रमाण एवं टिप्पणियाँ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. महाभाष्य १,१,१ पस्पशाह्निक
२. द्रष्टव्य– वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२२
३. शन्नोदेवीरभिष्टय इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते। गो०ब्रा०पू० १,२६
४. या० निरु० १,१४
५. गो० ब्रा० २,२,६ २,४,२
६. द्रष्टव्य–आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२२
७. वैद्युत् स्थाने तिष्ठन् वायुः इति स्तूयते, द्यौः स्थाने तिष्ठन् आदित्यः इति स्तूयते–गौ०ब्रा०पू० भाग क० १, प्र० २
८. वही
९. गो०ब्रा०क० ३, प्र० २
१०. गो०ब्रा०क० ४, प्र० २
११. गो०ब्रा०क० ४, प्र० २
१२. गो०ब्रा०क० ५, प्र० २
१३. गो०ब्रा०क० ६, प्र० २
१४. गो०ब्रा०क० ७, प्र० २
१५. गो०ब्रा०क० ८, प्र० २

**डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार**
**गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ज्ञान प्रबन्धन में वैदिक धारणा का प्रतिबिम्ब

आज जब पूरा विश्व एक गाँव में (Global Village) बदल रहा है, सीमाएं बस देशों की भौतिक सीमाएं बनकर रह गई है,। सिर्फ अमरीका ही नही अपितु सारा विश्व भारतीय ज्ञान नेताओं (Knowledge Leaders) का लोहा मान चुका है, जिनमें से कुछ हैं, श्री सी०के० प्रह्लाद, रजत गुप्ता, अमृत्यसेन, विश्वनाथन् आनन्द, आजिम प्रेम जी और कई अन्य जो कि आने वाले दशक में फिर से भारत को **'सोने की चिड़िया'** बना सकते हैं क्योंकि आज के दशक की अर्थव्यवस्था और उद्योग दोनों ही ज्ञान अर्थव्यवस्था की धारा में बह रहे हैं।

कभी–कभी हम आज के ज्ञान को Computer और IT तक ही सीमित रख छोड़ते हैं, परन्तु सच्चाई तो यह है कि ज्ञान अर्थव्यवस्था में कई अन्य उद्योग भी सहायक हैं, जिनसे जुड़े कुछ खास व्यक्तियों के नाम पहले ही लिये जा चुके हैं। कई क्रांतियों के बाद अब वह क्रान्ति आई है कि जिसमें हिस्सा लेकर भारत भी समृद्ध देशों की कतार में खड़ा हो सकता है और उस क्रान्ति का नाम है **"ज्ञान की क्रान्ति"**।

क्या आप यह समझते हैं कि भारत और भारतवासियों में यह ज्ञान एक ही दिन में उमड़ आया है? 'नही', ऐसा नहीं है, इसका श्रेय जाता है, वैदिक काल से चले आ रहे परंपरागत मानवीय आदर्श, सद्भाव, हमारे शैक्षिक ढाँचें और हमारे ग्रंथों को। जिन्होंने भारतीयों के अन्दर सोचने और रचनात्मक कार्यों की ऐसी शक्ति प्रदान की है, जिससे आज देश व सारा विश्व भौंचक्का है। ज्ञान प्रबंधन का अर्थ न सिर्फ ज्ञान हस्तांतरण है, अपितु ज्ञान के उस स्रोत को पहचानना और जागृत करना है, जो कि किसी उद्योग के हर छोटे से छोटे कर्मचारी में है और जिसका लाभ पूरा उद्योग उठा सकता है। क्योंकि मशीनरी का वास्तविक अनुभव जितना एक वर्कर को है उतना प्रबंधक को नहीं। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है कि उसके अनुभव से बाकी उद्योग कितना लाभ उठा पाता हैं? बड़ी–बड़ी कम्पनियाँ जैसे Microsoft, Honda, Tata etc.अब इस तरह के प्रबंधन से करोड़ों रूपयों का मुनाफा कर रही हैं।

वेद तो मानवीय सभ्यता की धरोहर हैं, इसलिए इसका मुख्य उद्देश्य तभी सार्थक होगा जब उसमें छिपे ज्ञान को साधारण मनुष्य तक पहुंचाया जाये और उनमें छिपी तंत्र–मंत्र विद्या का मानव कल्याण के लिए उपयोग किया जाये। इस ज्ञान का हस्तांतरण एक जीवित सूचना की तरह होना चाहिए जो कि जाति और भौगौलिक


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमाओं से परे है। वेदों के पन्ने खाली सूचना मात्र ही नहीं बल्कि इससे कई ज्यादा हैं, मंत्रों द्वारा सूचना, सूचना द्वारा ज्ञान और ज्ञान से विवेक ही अब के सूचना प्रबंधन का आधार है। वेदों की रचना इसलिए की गई कि कहीं ज्ञान उस समय के पंडितों और ज्ञानियों तक ही सीमित होकर न रह जाये बल्कि आने वाली पीढ़ियाँ भी इसमें छिपे अनुभव रूपी ज्ञान को धारण कर सके और उसे जनकल्याण के लिए उपयोग करें।

मेरी इस कथनी का मुख्य उद्देश्य वेदों को मानवीय अनुभवों के रूप में प्रस्तुत करने का है जो कि आज के स्पर्धा भरे युग में भी सशक्त हैं। यह न सिर्फ हमे मार्ग दिखाते है अपितु उस पर चलने का बल भी प्रदान करते हैं।

अनुभवों का प्रेषण वैदिक काल में जहाँ वेदों द्वारा किया गया है, आज वही कार्य कम्प्यूटर द्वारा किया जा रहा है। 'अनुभव' वह है कि जिससे हम होकर गुजरते हैं, एक अप्रतिवर्तनीय क्रम पर सर्वोपरि यह एक आमंत्रण है, हमें इसे इसलिए स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए कि यह मनोरंजक है, न ही इसलिए कि यह प्राचीन है अपितु इसलिए कि यह मानवीय है और हम सब का है। इन सब अनुभवों में वैदिक अनुभव वह है जो हमारे उस भाग एक 'अनुक्रियक(Responsive)गति' को जन्म देता है जो कि आधुनिक संसार के दावों से ग्रसित है और इस गति से मिलती है एक नई दिशा जिसे हम रचना और ज्ञान के नाम से पुकार सकते हैं।

वेदों में जिस प्रकार विभिन्न विचारों और अनुभवों को मंत्रो द्वारा दर्शाया गया है, उसी तरह ज्ञान प्रबंधन में भी विभिन्न प्रांतों में कार्यरत एक ही कम्पनी के कर्मियों से उनके विचार और अनुभव एकत्रित किये जाते हैं ताकि उनसे अनभिज्ञ लोग भी उन्हे जान सके ओर उनका लाभ उठा सकें। जिस प्रकार वेदों के पढ़ने और पढ़ाने से सम्पूर्ण मानवता का कल्याण होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान प्रबंधन द्वारा किसी भी उद्योग की उन्नति सम्भव है।

**पंकज मदान**
**बी०ई०, एम०बी०ए०**
**प्रवक्ता, प्रबंधन संकाय,**
**गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# TEACHING LITERATURE THROUGH LANGUAGE

## WHAT IS LITERATURE ?

Literature is written works which are of artistic value. It is the second name of pleasure. Writing is not literature unless it gives to the reader a pleasure which arises not only from the things said, but from the way in which they are said, and that pleasure is only given when the words are carefully or curiously or beautifully put together in to sentences. (Stopford Brooke) According to Lionel Trilling, "Literature is the human activity that takes the fullest and most precise account of variousness, possibility, complexity and unity." In short, literature is just like a mirror in which one can see different things in a different way by different people.

## WHAT IS LANGUAGE ?

Language is the 'species-specific' and 'species-uniform' possession of man. It is God's special gift to mankind. Without language human civilization as we now know, it would have remained an impossibility. Language is ubiquitous. Besides, being a means of communication, and a store house of knowledge, it is an instrument of thinking as well as source of delight. According to an ancient linguist of India, Patanjali, "Language is that human expression which is uttered out by speech organs". In the *Encyclopaedia Britanica.* (Vol. 13) Language is defined as "system of conventional, spoken or written symbols by means of which human beings, as members of a social group and participants in its culture, communicate."

The nature of language is of vital concern because language is the medium in which literature is written. A creative writer is never wholly free from linguistic and cultural consideration or limitations howsoever unconscious of these he may be literally. He has to choose his structures and sounds according to the kind of aesthetic effect he wants to create.


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

His creation is determined by the structure of the language. The structure determines what can and can not be said in the language, just as his cultural background determines the semantic content of his work. All linguistic levels exert an influence on his creativity and on what he creates. All these factors influence his style. The Elizabethan writers were especially fond of transferring words from one form class to another, and used *happy, malice* or *foot* as verbs. It is linguistic which can scientifically explain the difficulties of translating a literary text, especially a poem. In return, it is the literary artist who enriches a language enormously, and refines it. It is he who also sets direction of language change by his distinct use and coinages and word-formations. In the past few decades, linguistic systems have been regarded as 'modelling systems', rather than mirroring systems, in other words, we use signs to structure our responses to the world around us; languages shape our responses and do not simply 'mirror' the world as conceived by earlier theoeroticians of literature.

The CIEFL publication *Language through Literature* exemplified this change in language teaching, from the practice of teaching of literary texts(usually 19th century) to the teaching of language structure through the resources of literature. Today, there is a tendency towards the amalgamation of the two, literature and language. The relationships between language and literature has been perceived in different ways in teaching materials, and this in turn has influenced teaching objectives in materials while it is agreed that there are skills to be developed as the appropriation of literature per see, it is also clear that language is the basis of literature. From an ELT perspective a consideration of the relationship between language and literature is crucial. The dichotomy between language and literature brought to the forefront several issues, they are :-

1- Does poetry have a place in language teaching at all, especially if learners do not have a command over basic structuress ?

2- Does the teaching of literature require a specific methodology of teaching ?

3- Is teaching language the same thing as teaching literature ?

These questions are important and also indicate different ways in which literature and language relate in teaching. I can refer, broadly speaking, to two approaches in the teaching of literature :-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## 1- USING LITERATURE AS A RESOURCE FOR DEVELOPING LANGUAGE SKILLS

Duff and Maley's book Literature (1990) adopts this approach. It has the following aim, "To use literary texts as a resource for stimulating language activities." This book is based on the principle of active learning and therefore on activities that ensure learner's involvement with texts. There is no critical commentary, explanation or metalanguage historically assiciated with literary texts. Literature is not regarded as sacred or even as always possessing a literary quality. In fact, even 'bad' ordinary writing is used as a resource by teaching if it can stimulate activities.

## 2- EXPLOITING LITERARY SKILLS THROUGH THE STUDY OF LANGUAGE

This is an integrated approach we here both literature and language are given focus. Examples of this approach may be found in Carter and Long's ***the Web of Words***(1987) and Bernard Lott's. ***A Course in English Language and Literature***(1986). It has the aim of helping the learners to 'understand and appreciate literary texts. It focusses on certain features of language in order to generate an appreciation of the style, effects and techniques of writing'.

## THE USE OF LANGUAGE IN POETRY

The use of language is what distinguishes one type of discourse from another. Different domains of language use commonly employ different corpuses of language. If language that is normally used in one domain is used in another. We have what can be called a "difamiliarization" of language, where word associations are not predictable in terms of contexts. Widdowson says that literary language .....is dislocated from context, set aside:it presupposes no previous or existing situation outside that created by itself, it anticipates no continuation, it exists apart, complete in itself, self-contained within its own pattern.

The use of language in unusual contexts is what marks the literary. It is what Widdowson calls the "deviant use" of language. In other words, the association of meanings with which language is familiar or is


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

conventionally used is not necessarily always to be found in poetry. For example, the lines-

***Drink to me only with thine eyes***
***And I will pledge with mine***

associate drinking with eyes, rather than with a glass or cup. The effect is spectacular, or what about Kamala Das's desire to "pick an armful of darkness" from her grandmother's house ? Similarly Blake's

***Tyger ! Tyger ! burning bright***
***In the forests of the night***

are poetic lines because the collocation "forests of the night" forces a non-literal interpretation. The use of metaphors, similes, symbolism, analogies, etc. All odd to the "unconventional use of language which has no validity in ordinary language interaction and which exists within a parenthesis" as it were. The deviant use of literary language is found where, "categories are unclear, where contraries combine, where there is no security in an established order sustained by conventional language." This is not to say, however, that the language of literature does not have its own contexts and is not grounded in its own coherences. It is, but, when compared to conventional and traditional associations, it is different.

## METHODOLOGICAL CONSIDERATIONS IN THE TEACHING OF LITERATURE

The difficulty of teaching a literary text to a class which does not have competence in English is a basic problem in the English classroom. The conventional associations of language have to be made before the "deviant" uses of it can be understood. Both these levels of understanding, however, cannot be acquired by the learner if the teacher gives the meaning. The learner should be allowed, rather to arrive at the meanings implicit in the texts by guidance and on his or her own. We need to make a literature class learner centred for the appreciation of a text to occur. Methodologies need to be geared towards this development, "Meaning" is not more important than "meaning-making". Learners must go through the experience of struggling for meaning to arrive at meanings so that whatever they comprehend is then their own. We should not "give meanings" ready made on a plate, so that learners regurgitate what we


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

give them. If we do, we deprive them of a wonderful opportunity of not only improving their language skills, but also of experiencing the text and the satisfaction that comes from an aesthitic appreciation of something that is beautiful.

## HOW TO TEACH A POEM ?

The poem should be thought of as an experience, to which student has to be led. Too much of 'teaching' destroys or dilutes the experience; on the other hand, some teaching is necessary so that the defficulties which prevent the student from reaching the experience can be removed. The difficulties can be linguistic, cultural or intellectual.

The introduction should always be as economic as possible. The teacher should not appear to be telling the class directly what the poem is all about. A suitable 'frame work' has to be found, therefore, into which to incorporate all that the teacher may want to say about the poem before it is read. The teacher should not attempt to exhaust all the possibilities of a poem to squeeze out of it every drop of significance. Nothing destroys the experience in a poem as effectively as too much explaining.

In the teaching of poetry, the reading of the poem aloud is a rather essential element. Poetry is meant primarily to be heard, and even when it is being read visually the 'echo' of the sounds which it contains is present with the reader. The most striking effects of poetry are achieved through sound, and although it is difficult for a student to respond to the sounds of English poetry in the way we wish him to. He must be given opportunity of listening to these sounds. A teacher who is required to each poetry to a class should be trained in the proper and effective reading of English poetry. English poetry is usually intended to be spoken, rather than recited.

It is good practice to read the poem aloud once to the class, asking the students merely to listen to the poem, with all the texts put away. To confirm that the student has received an initial impression from listening to the poem, the teacher should ask a few general questions which involve the activity of reacting to the poem as a whole. It is here that the theme of


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the poem, and its tone (whether it is a cheerful poem or a sad one, etc) are established. At this stage the poem can be read aloud a second time, this time, with the students following the text visually. They should have formed, at the end of this reading quite a good impression of what the poem is about, what it is 'trying' to say to them.

Sometimes the clues, to the 'meaning' of a poem may lie in the use of a particular grammatical pattern, which the student may miss for example, kipping's poem 'If' achieves much of its effect by making delayed use of the conditional structure introduced by 'If'. In the logical structure of the poem too, the teacher should only suggest to the student how words are used to build up an idea; how 'key words' can function in setting up a theme, even if it is not explicitly stated. Poetry consists very often in indirect or oblique statements or patterns of contrasts created by the use of words and phrases used symbolically to certain associations. The student has to be led to the discovery of these patterns through questions which suggest the answer that she/he is expected to arrive at.

Once the student has an over-all understanding of the poem, the significant details will fall into place and fill in the picture. But the teacher's activity should consist in shaping, rather than dictacting, response in suggesting, rather than telling. In poetry the important thing is to make the student go back again and again to the poem, by asking questions which can be answered only through a scrutiny of the text. The teacher should help the student arrive at this meaning by integrating the answers to the various questions asked. The 'summing up' of the poem should serve to bring into focus all the elements in the poem which the teacher has been trying to demonstrate or highlight. Above all the teacher must appear to be enjoying the poem, or else she/he will never be able to induce enjoyment in the student. The best teachers of English literature always manage to *infect* the student with something of their enthusiasm. It is because poetry can still be infectious that we wish to teach it. What we need today is learner centred classroom teaching, with less teacher exeplaination and with more individual literary interpretation by students. This is best for our vemacular medium students we have to motivate them.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Literature is certainly the best kind of language that our learners can be exposed to, but we need to introduce them judiciously to suitable texts. It is a language well used. According to Ezra Pound, "Great literature is simply language charged with meaning to the all most degree." It is the art of saying something that will be read twice.

## SOURCES

**A Course in English Language and Literature** ; *Ed. B. Lott. (London:Edward Arnold, 1986)*

**Interpretation of Literature ;** *CIEFL Publication, Hyderabad.*

**Language and Literature Teaching** ; *From Practice to Principle, Ed. C. Brumfit. (Oxford : Pergamon, 1985)*

**Literature ;** *Ed. Duff and Maley. (Oxford : Oxford University Press, 1990)*

**Methods of Teaching English** ; *CIEFL Publication, Hyderabad.*

**Materials for the Teaching of English** ; *CIEFL Publication, Hyderabad.*

**The Web of Words** ; *Exploring Literature through Language, Ed. Carter and Long. (Cambridge : Cambridge University, 1987)*

**Dr. Satendra kumar**
**Navodaya Vidyalaya,**
**Rampura, Neemuch(M.P)**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# कैसे गीत गायें हम?

(गतांक से आगे....)

शत्रुओं से भय न किंचित्
सत्य सपने जग रहे,
प्रेम से पाले सगे ही,
शत्रु अपने लग रहे,
श्वास तक पाले छलावा,
द्रोह के हित डिग रहे,
सहचरों की चोट खाये,
हम स्वयम् को ठग रहे

हो चला अणु–अणु विरोधी
भ्रष्ट कण–कण बन गया,
यह मोह अपनाया बोलो !
कैसे मिटायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

बढ़ गये गद्दार इतने
यश–सुरभि जाती रही,
शूल की तीखी अनी–भी
चेतना खाती रही,
उपकार खा परतंत्रता
हर तरफ छाती रही,
धूर्तता अन्याय–पाली
विजय ही पाती रही,

हो गया बिखराव इतना
प्रबल हावी राष्ट्र पर,
दुर्गन्ध पाले कायर,
कैसे मन लुभायें हम?
कैसे गीत गायें हम?


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खल प्रयत्नों की दगा से
पात सब झरते रहे,
विवश तरुओं से अलग हो,
पुहुप तक गिरते रहे,
मंत्र–दाता मिल ठगों से
हानि ही करते रहे,
हम बने असहाय
सौ–सौ बार नित मरते रहे,

आग से झुलसे सजीले
भले विश्वास के स्वर,
जो बना मरुथल उपवन
वह कैसे सजायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

देखना भूला कभी का
कदम भी डगमगाते
बोलना मुश्किल हुआ है
हाथ भी थरथराते,
पाल बर्बरता अपावन
पूत गरिमा मिटाते,
पूर्वजों की प्रिय धरोहर
पलों में ही ढहाते,

तप व्रतों को वासना पर
वार जड़ ओछे बने,
उच्चता के परिसर में
कैसे यश कमायें हम?
कैसे गीत गायें हम?
दीप्ति का स्वर तज सलोना
ओज से छूटे हुए,
तेज की प्रभुता मिटाकर
स्वत्व से टूटे हुए,
स्वावलम्बन को मरोड़े
ऐक्य को लूटे हुए,


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठोकरों ने गति मिटा दी
राह रोड़ों से भरी है,
भूल आरोहण
कैसे हर बाधा हटायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

क्लीवता के इंगितों पर
शौर्य अपमानित किया,
ताड़ना का प्यार पाला
नीति–नय लांछित किया,
तिलमिलाकर धैर्य छोड़ा
प्रीति–पुर कुत्सित किया,
क्रूरता के साथ होकर
पतन–मद पोषित किया,

जग झुके कैसे?
महत्ता ही मिटा दी शौक से,
अनुकरण पाले भटके
कैसे शिर नवायें हम?
कैसे गीत गायें हम?

माफियाओं से लिपटकर
'त्रैत' की गरदन मरोड़ी,
धर्म से निरपेक्ष होकर
बंधुता की टांग तोड़ी,
मल–मिलावट के सहारे
स्वार्थ से क्षमता सिकोड़ी,
साख खो विश्वस्त
शालीनता की बात छोड़ी,

सर्व प्रिय बनाना युगों से
छोड़ शापित हो चुके,
दिल टाँगा जब वृक्ष पर,
कैसे याद आयें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाँग, गाँजा, चरस, मदिरा
के दुलारे बन रहे,
दुग्ध, घृत, दधि को बिसारे
चाय, काफी ले रहे,
रस सुखाकर, तत्त्व–विरहित
राख नीरस पी रहे,
जो जलाती चिति–सुधा
वह आग बनकर जी रहे,

दीप तो सारे बुझाकर
तिमिर में बैठे हुए,
तंग दिल, खोये, गुमसुम
कैसे जगमगायें हम?
कैसे गीत गायें हम?

शुष्क इतने हुए सहसा
छोड़ रस–भूमि–विचरण,
गहन सिन्धु क्या?
गँवादी सरि, नद, पुष्कर की शरण
जिधर जाती दृष्टि लखरण
गूँजता केवल मरण,
विनत मस्तक देखकर नभ
सहमता है अकारण,

शुतुर्मुगी पलायन से
विवश बोझिल हुआ जग,
विम्ब से भागे सिसके
कैसे पनप पायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डराकर रूप जड़ शव–सा
पुलक से दूर करता,
स्वप्न भी सहसा सँभलकर
खौफ से चूर करता,
बातचीत मिलाप का स्वर
भाव को क्रूर करता,
संघटन पाला नियोजन
छिछला गरूर भरता,

भावना–सरि सूखकर
अब रेत की ढेरी बनी,
उद्योग–कचरे में पड़
कैसे शिर डुबायें हम?
कैसे गीत गायें हम?

द्वेष की भीषण तपन में
हो रहा जीवन विवश,
लोभ के लहके पवन में
हो रहा यौवन विवश,
दंभ–कारागार में पड़
हो रहा मधुवन विवश,
भ्रष्ट सौदे बाज़ अलि का
हो रहा गुंजन विवश,

घोर मरघट की चिता पर
जले अरमान सारे,
गुमसुम सबके उदय का
कैसे स्वर बनायें हम?
कैसे गीत गायें हम?


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नग्न गिरि, पर्वत, शिखर कर
नाश अपनाते हुए,
औषधि वनस्पति काटकर
मरण–धुन गाते हुए,
कर प्रदूषित गंग–धारा
मत्स्य–कुल खाते हुए,
पशु विहंगम पेट में भर
मौत अपनाते हुए,

पाल ली इतनी पिपासा
बुझ न पाये जो कभी,
त्याग कर करुणा, ममता
कैसे अघ मिटायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

बात कर लेना सरल है
बात बन पाना कठिन,
मधुर कहने में मधुर है
मधुर बन पाना कठिन,
झूठ को गाली भले दें
झूठ तज पाना कठिन,
सत्य–गुण गाना सरल है
सत्य अपनाना कठिन,

शेख़चिल्ली से हुए वाचाल
व्यवहार सूने,
कैसे भला भायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?
कैसे गीत गायें हम?

**डॉ० भैरवदत्त शुक्ल**
**जाबालि आश्रम, तिकुनिया,**
**खीरी(उ०प्र०) -२६२६०६**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गुरुकुल-पत्रिका

## मासिक शोध-पत्रिका

## Monthly Research Magazine

सम्पादक

**प्रो० महावीर**

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –२४९४०४

| अक्टूबर–दिसम्बर सन् २००० | वर्ष ५२ वां | कार्तिक–पौष संवत् २०५७ |
|---|---|---|

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्पादक मण्डल


| | | |
|---|---|---|
| मुख्य संरक्षक | : | प्रो0 धर्मपाल<br>कुलपति |
| संरक्षक | : | प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री<br>आचार्य एवं उपकुलपति |
| परामर्शदाता | : | प्रो0 विष्णुदत्त राकेश<br>प्रोफेसर, हिन्दी विभाग |
| सम्पादक | : | प्रो0 महावीर<br>कुलसचिव एवं प्रोफेसर संस्कृत विभाग |
| व्यवसाय प्रबन्धक | : | डॉ0 जगदीश विद्यालङ्कार<br>पुस्तकालयाध्यक्ष |
| प्रकाशक | : | प्रो0 महावीर<br>कुलसचिव |
| मूल्य | : | २५ रुपये वार्षिक |


मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल हरिद्वार फोन : 415975, 415692

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषयानुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| (१) | वेदमञ्जरी | आचार्य रामनाथ वेदालंकार | १ |
| (२) | सम्पादकीय | प्रो० महावीर | २ |
| (३) | संस्कृत स्वागतं..... | आचार्य रामनाथ वेदालंकार | ४ |
| (४) | बृहत्त्रयी में राजनय निरूपण | डॉ० श्रीमती सुशीला सिंह | ६ |
| (५) | ऋग्वेद के सूर्य से..... | डॉ० प्रीति गर्ग | १३ |
| (६) | योगदर्शन में सार्वभौम..... | डॉ० श्रीमती सरिता गुप्ता | २० |
| (७) | कठोपनिषद् में आत्मतत्त्व | श्री हेरम्ब पाण्डेय | २३ |
| (८) | आश्रम व्यवस्था में..... | कु० प्रज्ञा अग्रवाल | २७ |
| (९) | प्राचीन भारत में..... | डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता | ३८ |
| (१०) | ओम् शब्द की..... | डॉ० किशनाराम बिश्नोई | ४३ |
| (११) | तनाव तथा हृदय रोग..... | श्री शिवकुमार चौहान | ४७ |
| (१२) | यह देखो 'ताज'..... | श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार | ५३ |
| (१३) | आओ! दीप जलाएं | श्री राधेश्याम 'आर्य' | ५४ |
| (१४) | समालोचना | श्री बलभद्र भारती | ५५ |
| (१५) | The Wordsworthian Matrix..... | Dr. Satendra Kumar | 57 |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



# अतिथि–यज्ञः

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः।।

(ऋग्० १–३१–१५)

**ऋषिः** हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** विराड् जगती।

(**अग्ने**) हे तेजोमय परमेश्वर! (**त्वम्**) भवान् (**प्रयतदक्षिणं**) पवित्रदानं (**नरं**) मनुष्यं (**स्यूतं**) सूच्या तन्तुसन्तानेन निष्पादितं (**वर्म इव**) चर्मकवच इव (**विश्वतः**) सर्वतः (**परिपासि**) परिरक्षसि। (**स्वादु–क्षद्मा**) स्वादुभक्ष्यः स्वादुपेयश्च (**स्योनकृत्**) अतिथीनां सुखकर्ता (**यः**) यो यजमानः (**वसतौ**) गृहे (**जीवयाजं यजते**) जीवाः अतिथयः इज्यन्ते सत्क्रियन्ते यत्र स जीवयाजः अतिथियज्ञः तम् (**यजते**) करोति (**सः**) असौ (**दिवः उपमा**) सूर्यतुल्यो जायते।

यदा वयं शत्रूणाम् आयुधेभ्यः स्वात्मनो रक्षितुं वाञ्छामस्तदा स्यूतम् अभेद्यं चर्मकवचं शरीरे धारयामः। तेन कवचेन प्रतिहतानि रिपूणां बाणकुन्तादीनि शस्त्रास्त्राणि कुण्ठितानि जायन्ते। वेदमन्त्रोऽयं मनुष्यं प्रेरयति दक्षिणारूपस्य कवचस्य धारणाय। हे अग्ने! हे तेजःस्वरूप परमात्मन्! त्वं दक्षिणाया दातारं नरं सर्वतो रक्षसि, यथा कवचधारिणं जनं कवचः शत्रुप्रहारेभ्यो रक्षति। परन्तु कवचो यदि सम्यक् स्यूतो न स्यात् तर्हि स्वयमेव शत्रुप्रहारात् क्षतविक्षतो भवितुं शक्नोति, परत्राणस्य तु कथैव का। तथैव दक्षिणापि चेत् पवित्रा नास्ति, तर्हि सा दातुर्यजमानस्य त्राणाय न समर्था। दक्षिणायां यदपि भोजनं वस्त्रं धनं वा दीयते तत् खलु शुभसाधनैरर्जितं भवेत्, कर्तव्यं मत्वा प्रसन्नतापूर्वकं च प्रदीयेत। सैव पवित्रा दक्षिणा विश्वत उद्भूतेभ्यो विघ्नेभ्यो दातारं त्रायते।

गृहागतस्य अतिथेः सत्कारोऽपि वैदिकमर्यादायां गृहस्थस्य अपरिहार्यं कर्तव्यम्। अतएव नैत्यिकेषु पञ्चमहायज्ञेषु अतिथियज्ञोऽपि परिगणितः। प्राघुणिके गृहं समागते यः सुस्वादुभिः भोज्यपेयादिभिस्तं सत्कृत्य सुखयति, आजीवनं चातिथियज्ञं निर्वहति, स सूर्यवत् समुन्नतः प्रकाशितश्च जायते। श्रुतेरेष आदेशो यद् व्रतनिष्ठो विद्वान् अतिथिर्यस्य गृहं समागच्छेत् स स्वयं तत्सेवायाम् उपस्थाय कुशलक्षेमादिकं पृच्छेत् तं सत्कुर्याच्च। अतिथिश्चेद् अग्निहोत्रकाले समुपतिष्ठते तदा तत्स्वीकृतिं प्राप्यैव अग्निहोत्रकर्मणि संलग्नो भवेत्। कारणवशात् स स्वीकृतिं न ददाति, तर्हि पूर्वं तत्सेवां कुर्यात्।

अयि सर्वेषां यज्ञानाम् आदर्शभूत तेजोमय परमात्मन्! त्वम् अस्मानपि दक्षिणां दातुम् अतिथियज्ञं च कर्तुं सदैव प्रेरय, येन वयमपि सूर्यवद् उच्चा उदारा विशालाः प्रकाशमानाः प्रकाशकाश्च भूत्वा गौरवान्विता भवेम।

**आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय.....

# अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

(२३ दिस. बलिदान पर्व पर)

धन्य हैं वे महापुरूष जो देश, समाज अथवा मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। ऐसे देव पुरूषों का नाम युगों–युगों तक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहता है।

अपने आचार्य ऋषिवर देव दयानन्द से दिशा, दृष्टि ओर प्रेरणा पाकर जीवन को अयस् से स्वर्ण बनाने की अमर कहानी लिखने वाले स्वामी श्रद्धानन्द ने मातृभूमि की सेवा में अपना तन,मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। कभी वे एक महान् शिक्षा शास्त्री के रूप में शिक्षा में आमूल चूल परिवर्तन करते हुए दिखाई देते है, कुलपिता और आचार्य के रूप में ब्रह्मचारियों का पुत्रवत पालन कर रहे है, तो महान् स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में स्वाधीनता आन्दोलन का वीरतापूर्वक नेतृत्व करते हुए देशवासियों के हृदयों में देशभक्ति की ज्योति जला रहे है। अमृतसर में जलियांवाला काड के बाद स्वामी श्रद्धानन्द ही ऐसे वीर महापुरूष थे, जिन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता स्वीकार करते हुए देश में व्याप्त भय और आशंका को दूर किया था। चांदनी चौक में अंग्रेजी सिपाहियों की बन्दूकों के सामने सीना तानकर खड़े होने वाले और **'हिम्मत हो तो चला दो गोली, संन्यासी का सीना खुला है'** ऐसी सिंह गर्जना करने वाले और दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में **'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ**––वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ हजारों मुस्लिमों को सम्बोधित करने वाले वे निराले संन्यासी थे।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित गुरूकुलीय शिक्षा पद्धति को साकार रूप देने के लिए पांच ब्रह्मचारियों को लेकर हिमालय की उपत्यका में गंगा के तटपर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द का नाम शिक्षा जगत में अमर रहेगा।

कौन जानता था कि व्यसनों में फंसा हुआ, ईश्वर पर विश्वास न करने वाला युवक मुन्शीराम आगे चलकर श्रद्धा की प्रतिमूर्ति स्वामी श्रद्धानन्द बनेगा ओर लाखों युवकों को वेद–वेदांगों की शिक्षा प्रदान कर देश का नवनिर्माण करेगा।

स्वामी जी का जीवन एक खुली किताब था, उसमें कहीं कोई लुकाव छिपाव नहीं था। **'कल्याण मार्ग का पथिक'** नामक आत्मकथा में स्वामीजी ने अपने जीवन के उत्थान–पतन के क्षणों को बड़ी निर्भीकता से प्रकट किया है। कल्याण चाहने वाले प्रत्येक भारतवासी को स्वामीजी की इस आत्मकथा का अध्ययन करना चाहिए।

स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वयं को केवल शिक्षा, धर्म ओर राजनीति तक ही सीमित नहीं रखा अपितु राष्ट्रभाषा हिन्दी के व्यापक प्रचार–प्रसार में जो कार्य स्वामीजी ने किया वह सदा स्मरण किया जाता रहेगा। इसी प्रकार **हिन्दू महासभा की स्थापना और शुद्धि का आन्दोलन जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें जीवन का बलिदान देना पड़ा, क्या भूलाये जा सकते हैं?**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३ दिसम्बर १९२६, आज से ७४ वर्ष पूर्व एक धर्मान्ध हत्यारे ने स्वामीजी की जीवन लीला समाप्त कर दी। आज फिर से २३ दिसम्बर उनके बलिदान की याद दिलाने आया है। स्वामीजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए यदि हम आत्म–निरीक्षण कर सकें कि उस महामानव ने तो अपना र्स्वस्व अर्पित कर दिया, हम क्या दे रहे है? गुरुकुल आर्यसमाज और इस महान देश भारत के लिए हम कितना त्याग कर पा रहे है? आर्य समाज के संगठन को हम निःस्वार्थ भाव से सुदृढ़ बना रहे हैं अथवा अपने स्वार्थों के लिए छिन्न–भिन्न कर रहे हैं? आज इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं से प्राप्त करना है।

## देवभूमि–उत्तराञ्चल

आठ नवम्बर २००० की रात्रि में बारह बजकर एक मिनट पर महामहिम राज्यपाल महोदय के शपथ लेते ही भारत का छब्बीसवां राज्य उत्तराञ्चल के रूप में उदित हो गया। हमारे प्राचीन साहित्य में इस भूखण्ड को देवभूमि के नाम से स्मरण किया गया है। कवि कुलगुरु कालिदास ने **'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'** कहकर हिमालय की प्रशंसा की है। गंगा की महिमा से हमारा विशाल वाङ्मय भरा पड़ा है। हिमालय की गोद में और गंगा के पावन तटपर हजारों ऋषि–मुनि प्राचीन काल से तपस्या करते आये हैं, इसलिए उत्तराञ्चल का कण–कण पवित्र माना गया है। अब यह एक पृथक् राज्य के रूप में देश के मानचित्र पर उभरा है और भारतीय परम्पराओं में पूरी तरह रचे–बसे आस्थावान् देशभक्त श्री नित्यानन्द जी स्वामी ने मुख्यमंत्री के रूप में इस राज्य के सर्वाङ्गीण विकास का दायित्व स्वीकार किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि माननीय सुरजीत सिंह बरनाला एवं श्री नित्यानन्द स्वामी के कुशल नेतृत्व में यह राज्य देवभूमि बनकर रहेगा।

हम आशा करते है कि यहां शराब की नदियां नहीं बहेंगी, यहां भ्रष्टाचार, अत्याचार और आतंक नहीं होगा, जातिवाद का दानव यहां ताण्डव नृत्य नहीं करेगा। अपितु यहां भारतीय संस्कृति एवं भारतीय जीवन मूल्यों का नवीन अरूणोदय होगा। यज्ञों के धूम से ओर वेद–मन्त्रों की मधुर ध्वनि से यह राज्य गुंजायमान होगा। देव–भाषा संस्कृत का प्रचार–प्रसार होगा। सब जन परस्पर भ्रातृत्व के सूत्र में बन्धकर इस राज्य का नव निर्माण करेंगे।

मुख्यमंत्री बनने के एक सप्ताह बाद ही श्री नित्यानन्द जी स्वामी ने गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में पधारकर मानो स्वामी श्रद्धानन्द को प्रणाम किया और शिक्षा जगत् के सर्वोच्च मनीषियों, उत्तर भारत के मान्य कुलपतियों के सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए मानो महाराजा अश्वघोष की इस प्रतिज्ञा को ही दोहराया–

**न में जनपदे स्तेनो न कदर्यो न मद्यपः**
**नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।।**

प्रभु इस राज्य को भारत के गौरव का मुकटमणि बनायें, यही प्रार्थना है।

**प्रो० महावीर**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# संस्कृतस्वागतं सादरं गीयताम्

## संस्कृत-नाटकमञ्चनश्लोकोच्चारण-प्रतियोगितायाम्
## उद्घाटन-समारोहे मुख्यातिथीनां
## डॉ. रामनाथ वेदालंकाराणां भाषणम्

श्रीमन्तः कुलपतिवर्या डॉ. धर्मपालमहाभागाः, उपककुलपतयः आचार्यवेदप्रकाशशास्त्रिणः, कुलसचिवाः प्रो. महावीरवरेण्याः, प्राच्यसङ्कायाध्यक्षाः प्रो. जयदेववेदालङ्काराः, श्रीजुषः डॉ. रामकृष्णशर्माणः, समारोहसंयोजका डॉ. ब्रह्मदेववर्याः, प्राचार्याः डॉ. सतीशकुमारीमाभागाः, प्राचार्याः डॉ. सूनृताविद्यालङ्काराः, गुरूकुलविश्वविद्यालयस्य विभगाध्यक्षाः, सुधियः शिक्षकाः,समुपस्थिता इतरे विद्वांसः, अतिथयः, प्रतियोगितायां भागं जिघृक्षवः सदस्याः, पुत्र्यो भगिन्यः प्रियाश्छात्रांश्च !

संवत्सरोऽयं संस्कृतवर्षनाम्ना भारतसर्वकारेण प्रख्यापितः। अतो विभिन्नविश्वविद्यालयेभ्यो यथायथं विद्वत्संमानाय वा, संस्कृतश्लोकगीतिकागानसम्मेलनाय वा, नाटकमञ्चनाय वा, विद्वद्गोष्ठीसंयोजनाय वा, ग्रन्थप्रकाशनाय वा वित्तानुदानं केन्द्रिय–मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयेन वर्षेऽस्मिन् प्रदत्तम्। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे गुरुकुलविश्वविद्यालयोऽयं संस्कृतविभागमाध्यमेन संस्कृते नाटकमञ्चनप्रतियोगितां श्लोकगीतिकागान–प्रतियोगितां च समाचरति। तदीये वयमुद्घाटनसमारोहेऽत्र समुपस्थिताः स्मः। प्रतियोगितायां भागं ग्रहीतुं ये याश्च छात्रा अत्र समुत्सुकाः सन्ति, तान् ताश्च स्वागतवचोभिरहम् अभिनन्दामि।

संस्कृतवर्षम् महता समारोहेण सभाजयित्वापि वयं चेद् आगामिवर्षेषु संस्कृतोत्थानं प्रति जागरूका न भवामस्तर्हि न कापि विशिष्टा समुपलब्धिर्भविष्यति।

**संस्कृतभाषा बहुप्रभासा, जयतु चिरं कल्याणी**
**लोके तनुतान्मुदं समेषां, मधुरा मङ्गलवाणी।**
**वेदस्मृत्युपनिषद्गायनी, रामायणरमणीया**
**भारतकथया सुधावर्षिणी, शाकुन्तलकमनीया।। १**
**भासबाणभवभूतिसेविता, भारविमाघोन्मिषिता**
**कवि–जयदेव–सुबन्धुनर्तिता, काव्यशास्त्र–परितृप्ता।**
**चम्पूचञ्चद्रूपमाधुरी, ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता**
**जयतु मन्दिरे नगरे नगरे, देशविदेशे स्फीता।। २**

किन्तु संस्कृतविजयार्थं सर्वैरेव प्रयत्नो विधातव्यः। विद्यार्थिनो गुरुजनाः संस्कृतपाठशाला महाविद्यालयाः शोधसंस्थाः संस्कृत–संस्थानानि लेखकाः कवयः पत्रपत्रिकासंपादकाः पुरस्कारप्रदायिन्यः संस्थाः प्रादेशिकशासनतन्त्रं केन्द्रशासनतन्त्रं सर्वेऽपि संस्कृतभाषाया उत्कर्षाय बद्धपरिकराः संतिष्ठेरन्। अस्माकं विश्वविद्यालयो गुरुकुलस्येतिहासे सदैव संस्कृतसाहित्यस्य संस्कृताश्रितानाम् इतरेषां च प्राच्यविषयाणां समुन्नायकत्वेन प्राप्तख्यातिरभवत्। अत्रत्या बहवः स्नातकाः संस्कृतसाहित्ये वैदिकसाहित्ये दर्शनशास्त्रे च पारदृश्वानो भाषणपटवो ग्रन्थलेखकाः कवयश्च जाताः। सम्प्रत्यपि गुरुकुले संस्कृतस्य


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टं स्थानं विद्वद्भिः गुरुकुलस्य शिक्षाधिकारिभिः प्राच्यविद्यासंकायस्य सुधीभिः शिक्षकैश्च अतोऽप्यधिकं संस्कृतसमुन्नतिविषये विचारणीयम्, अनुसन्धानस्य प्रकाशनस्य च योजना निर्धारणीयाः कियासु च परिणमनीयाः।

अहं समारोहार्थं शुभाशीर्वर्षणाय कुलपतिमहाभागम् आचार्यवर्यं कुलसचिववर्यञ्च सद्भाव–पुष्पाञ्जलिभिः सभाजयामि। समारोहसंयोजनाय संस्कृतविभागाध्यक्षं, संयोजकं डा. ब्रह्मदेवमहाभागं, संस्कृतविभागस्य शिक्षकवर्गं, सहायकं छात्रवर्गं च प्रति सहर्षं धन्यवादमुदीरयामि। प्रतियोगितासु भागं ग्रहीतुं समागतान् प्रतियोगिनश्च विजयाय प्रोत्साहयामि। अन्ते संस्कृतभाषागौरवप्रकाशकानि संस्कृतोत्कर्षप्रेरकाणि च कानिचित् पद्यानि श्रावयित्वा विरंस्यामि–

संस्कृतं पठ्यतां संस्कृतं पाठ्यताम्।
संस्कृतस्वागतं सादरं गीयताम्।।

संस्कृते भासते वेदवाणी शुभा
संस्कृते दीप्यते कालिदासप्रभा।
संस्कृते पाणिनिः संस्कृते काशिका
संस्कृते कौमुदी संस्कृते फक्किका।।१

मञ्जु गुञ्जन्ति गीतानि वै संस्कृते
काव्यधारारसः सिच्यते संस्कृते।
संस्कृते जीवनं संस्कृते जागृतिः
संस्कृते संस्कृतिः संस्कृते निष्कृतिः।।२

ईशस्तोत्रं कवीनां कृतं संस्कृते
पञ्चतन्त्रस्य रम्याः कथाः संस्कृते।
संस्कृते नाटकं संस्कृते त्रोटकम्
संस्कृते गद्यपद्यं सखे रच्यताम्।।३

नीतिकाव्यं प्रशंसास्पदं संस्कृते
दूतसन्देशकाव्यं द्रुतं संस्कृते।
गीतगोविन्दगीतिर्नवा संस्कृते
संस्कृते भक्तिकाव्यं तरङ्गायते।।४

ब्रह्मविद्यारसः स्वाद्यते संस्कृते
भूतविद्यापि संप्राप्यते संस्कृते।
शान्तिसूत्रं शिवं भ्राजते संस्कृते
संस्कृतं सत्वरं गृह्यतां गृह्यताम्।।५

मन्दमन्दं स्मितं दृश्यते संस्कृते
अट्टहासोऽपि च श्रूयते संस्कृते।
दिव्यवंशीविपञ्चीस्वरः संस्कृते
संस्कृतं कोविदाः सेव्यतां सेव्यताम्।।६

संस्कृते कीर्तनं संस्कृते नर्तनम्
संस्कृते क्रीडनं संस्कृते कूर्दनम्।
संस्कृते तर्जनं संस्कृते वर्जनम्
संस्कृते हस्यतां संस्कृते रुद्यताम्।।७

वर्ततेऽलौकिकी माधुरी संस्कृते।
वर्तते स्नेहिला काकली संस्कृते।
वर्तते स्वच्छता शुद्धता संस्कृते
संस्कृतं वयस्या हृदा धार्यताम्।।८

मङ्गलं वो मङ्गलं नो, मङ्गलं रसिके जने।
मङ्गलं भूयात् कुलेऽस्मिन्, मङ्गलं भुवनेऽखिले।।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# बृहत्त्रयी में राजनय निरूपण

प्राचीन काल से ही राजनय का विवेचन कवियों को अत्यन्त प्रिय रहा है। राजनय के समानार्थक अन्य शब्द भी हैं। यथा– राज्यशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि। कौटिल्य के अनुसार योग और क्षेम को सिद्ध करने वाली दण्डनीति है। मल्लिनाथ ने रघुवंश की टीका में कहा है कि यद्यपि राजन् शब्द की निष्पत्ति राजृ धातु से ही होती हैं तथापि धातुओं की अनेकार्थता की दृष्टि से रज्ज धातु से इस शब्द की निष्पत्ति मानी गई हैं। काणे के अनुसार राजृ एवं रज्ज इन दोनों ही धातुओं से राजा की निष्पत्ति होती हैं। महाभारत के अनुसार राजा का सनातन धर्म लोकरंजन है। रघुवंश में कालिदास ने प्रजा का रंजन राजा का मुख्य कृत्य माना हैं। महाभारत में क्षत्र धर्म तथा राजधर्म को पर्याय के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

नीति शब्द ''नी'' धातु के स्त्रियाँ क्तिन् प्रत्यय के द्वारा व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है ले जाना अर्थात् प्रापण। अनुचित मार्ग सें किसी व्यक्ति को उचित मार्ग पर ले जाने की क्रिया ही परमार्थतः नीति है। इसका वास्तविक अधिकारी राजा है। राजा का यह नीति कर्तव्य है। अतः इस नीति को राजनीति या राजधर्म के अभियान सें अभिहित किया जाता है। यह राजनीति समस्त विधाओं का मूल है।

जिस प्रकार यज्ञ आचार्य के बिना प्रतिष्ठित नहीं रह पाता उसी प्रकार नियन्ता के बिना नय (नीति) प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। समाज पर अंकुश रखने के लिए नय की योजना की जाती है। नय के द्वारा ही सामाजिक संस्कृति की रक्षा सम्भव है। यह वह दीप है, जो अंधकार में स्थित व्यक्तियों को प्रकाश के पथ पर अग्रसर करता है। नय ही निर्भीक प्रशासक हैं वही दुर्बलों का बल है। प्रतिक्षण ध्वंसरूपी यमराज की कुटिल दाढ़ में प्रविष्ट होती जा रही हैं सामाजिक संस्कृति नय रूपी अंकुश से ही रोकी जाती है।

नय ही निर्भीक प्रशासक है। वही दुर्बलों का बल है। नय से ही समाज की उन्नति सम्भव है। मानव में स्वाभाविक रूप से विद्यमान सद्गुणों के विकास का यही मार्ग है। नय (नीति) तथा नियन्ता का अभिन्न सम्बन्ध है। यह नियन्ता ही राजा है जिसके संरक्षण के अभाव में प्रजाएँ नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा के उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में निमग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अराजक राज्य में प्रजा विनष्ट हो जाती है। यदि राजा रक्षा न करे तो कृषि विनष्ट हो जाए तथा धर्म का विप्लव हो जाए। वेदों के स्वाध्याय का लोप हो जाए, समस्त सामाजिक कार्य नष्ट हो जाएँ। अतः नीति या नय को समाज का नियन्ता कहा गया है। नय दीप के समान है, जो समाज को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। नय अभिमानी व्यक्तियों को नियंत्रित करता है तथा दुर्बलों की रक्षा भी करता है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति या नीतिविधा समस्त विधाओं का मूल है तथा सर्वश्रेष्ठ है। कौटिल्य का मत है कि विधाएँ चार हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। शुक्र का मत है कि एक ही विधा है—दण्डनीति। दण्डनीति के अभाव में अन्य विधाएँ सुरक्षित नहीं रह सकती हैं। अतः यह समस्त विधाओं में प्रधान है। यह विधा स्वतः पूर्ण हैं, अन्य आंशिक हैं। कौटिल्य ने इसे समस्त विधाओं में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया हैं। व्यास ने दण्डनीति, राजनीति या राजधर्म को पर्यायवाची माना हैं। उनका मत है कि राजनीति या राजधर्म के अभाव में मनुष्य संसार में जीवित नहीं रह सकता जिस प्रकार सरोवर में मत्स्यगण आपस में लड़कर विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपस में लड़कर नष्ट हो जायेंगे।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में राजनय के महत्व के कारण महाकवियों ने अपने काव्यों में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। भारवि, माघ एवं श्री हर्ष की कृतियों में इसका समुचित वर्णन प्राप्त होता है। राजा, दूत, दण्ड आदि का पूर्ण विवेचन इनके काव्यों में मिलता है।

**भारविकृत किरातार्जुनीयम्—**

महाकवि भारवि रचित सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में राजनय सम्बन्धी तत्वों का वर्णन यत्र—तत्र प्राप्त होता है। प्रथम सर्ग में ही महाकवि ने वनेचर के मुख से स्पष्ट किया है कि राजाओं का स्वभाव तथा चरित्र दुर्ज्ञेय है। राजाओं का चरित्र सुबुद्ध जन ही समझ सकते हैं, दुर्बुद्ध जनों के लिए यह दुर्बोध है। राजनय के सिद्धान्तों को जानना कठिन है। महाकवि ने इसीलिए काव्य के माध्यम से राजाओं की नीति का विश्लेषण किया है, जिससे सरस होने से साधारण जन इसे ग्रहण कर सकें—

**''निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपनीतां चरितं नव जन्तवः।**
**तथानुभावोंऽयमवेदियन्मया निगुढ़तत्वं नयवृत्मं विद्विषाम्।।''**

— कि० १/६

द्वितीय सर्ग में पुनः महाकवि ने राजनय की दुरूहता का वर्णन किया है। यद्यपि राजनय दुरूह है तथापि गुरुओं द्वारा अथवा शास्त्र द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार दुर्गम जलाशय में तैरने का अभ्यास कर लेने पर तथा सीढ़ियों के निर्माण हो जाने के पश्चात् प्रवेश करना सुगम हो जाता है——

**''विषमोऽपि विगाह्यते नयः कुततीर्थः पयसामिवाशयः।**
**स तु तत्र विशेष दुर्भमः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मयः।।''**

— कि० २/३

महाकवि भारवि का कथन है कि राजा को सद्गुणों (दान, दक्षिण्यादि गुणों) द्वारा अपने निर्मल यश की अभिवृद्धि करनी चाहिए। राजा दुर्योधन पाण्ड़वों से द्वेषवश अपने गुणों का विस्तार कर रहे थे। अपने गुणों के कारण निर्मल यश की वृद्धि कर रहे थे—

**''तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुण सम्पदा यशः।''**

— कि० १/८


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा दुर्योधन काम–क्रोधादि छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके मनु आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अवलम्बन लेकर आलस्यरहित होकर नीति का अवलम्बन लेकर शासन कर रहे थे।

**"कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीगमम्यस्पां पदवीं प्रपित्सुना।**
**विभज्य नक्तं दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेनपोरूषम्।।**

—— कि० १/९

राजा को सदैव ही आलस्य रहित तथा उत्साह सम्पन्न होना चाहिये। राजा दुर्योधन अत्यन्त उत्साह सम्पन्न नृपति थे। महाकवि भारवि का कथन है कि कार्यसिद्धि के पांच उपाय हैं—— (१) सहायक (२) कार्यसाधन के उपाय (३) देश विभाग (४) काल विभाग (५) विप्रत्ति प्रतिकार। परन्तु कार्यसिद्धि का सर्वाधिक आवश्यक तत्व उत्साह है। उत्साह के बिना राजाओं के कार्य की सिद्धि होना असम्भव है–

**"प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृत पंचाङ्ग विनिर्णयो नयः।**
**य विधेयवदेषु दक्षतांनियतिंलोक इवानुरूध्यते।।"**

——— कि० २/१२

प्रजापालन राजा का परम धर्म है। राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की सुख सुविधाओं का सदैव ध्यान रखे। राजा दुर्योधन प्रजा के अभ्युदय के लिए यत्नशील था। उसका राष्ट्र वृष्ट्यम्बुजीवी नहीं था। देश के निवासी प्रसन्न थे। राजा के सुप्रबन्ध के कारण उसकी प्रजा दुष्काल का अनुभव नहीं करती थी –

**"सुखेन लाभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपदः।**
**वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिष्कुरवश्चयकासति।।"**

——कि०१/१६

राष्ट्र की उन्नति के लिये केवल राजा ही नहीं वरन् मंत्रिवर्ग तथा अन्य प्रकृतियों का भी सच्चरित्र व न्यायशील होना आवश्यक है। समस्त समृद्धियां राजाओं और मन्त्रियों के अनुकूल होने पर ही अनुराग करती है।

**"सदा नुकूलेषु हि कुर्वते रतिं।**
**नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।।"**

——कि १/५

आत्मात्यवर्ग में भेद पड़ जाने से शत्रुगण राज्य पर आक्रमण करके विजयी हो जाते हैं। महाकवि भारवि ने द्वितीय सर्ग में प्रजा तथा आमात्यादिकों में भेद उत्पन्न होने से सम्भावित विनाशों की ओर संकेत किया है। जिस प्रकार अन्तर्भेद से जर्जरित तट को नदी का प्रवाह नष्ट कर देता है, वैसे ही राजा के दुर्व्यवहार से प्रजावर्ग तथा अन्तरंग मन्त्रिवर्ग में भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

**"अणुरप्युहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिकोपजः।**
**अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिपर्वजो नलः।।"**

——कि० २/५१


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः राजा की प्रजाओं तथा अमात्यों में उत्पन्न हुये भेद को दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए।

समस्त राजनीतिशास्त्रियों ने मन्त्र की गोपनीयता की प्रशंसा की है। महाकवि भारवि का भी यही मत है। दुर्योधन, स्वराष्ट्र परराष्ट्र, समस्त स्थानों पर मन्त्रगोपन समर्थ आत्मीय कर्मचारियों को कार्यभार सौपकर स्वयं उनका विश्वास न करके निःशंकता का भाव प्रदर्शन मात्र करता है। कार्य समाप्ति के पश्चात् भृत्यों को वेतन के रूप में प्रदान की गयी सम्पत्तियां उसकी कृतज्ञता को सूचित करती है–

''विधाय रक्षान्परितः परेतरानशकिंताकारमुपैति शंकितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृत्ज्ञतामस्य वदन्तिसम्पदः।।''

— कि० १/१४

राजनीतिशास्त्रियों का मत है कि दूत ही राजा के नेत्र हैं। कभी भी अपने स्वामी से प्रवन्चता न करे। महाकवि भारवि ने दूत की इसी विशेषता पर प्रकाश डाला है –

''कृतप्रणामस्यं महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदमिरूयतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियमप्रवक्तुमिच्छन्तिमृषाहितेषिणः।।

— कि० १/२

सामान्य व्यवहार की भांति राजकार्य में भी चारों उपायों (साम, दाम, दण्ड भेद) का समुचित प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। राजा दुर्योधन की सफलता का कारण इन उपायों का समुचित प्रयोग था। उसके साम (मुधुर वचन) दान से रहित नहीं होते थे। अभिप्राय यह है कि राजा दुर्योधन के दान मधुरवाणी से युक्त होते थे। मधुर वाणी से ही नहीं, वरन् प्रभूत मात्रा में दिये गये सत्कार से भी युक्त होते थे–

''निरत्मयं सामनदानवर्जितं न भूरिदानं विरहय्यसत्क्रियाम्।
पवर्ततेतस्य विशेष शालिनी गुणानुरोधेनविना नसत्क्रिया।।''

—कि० १/१२

राजा का परम् कर्तव्य है कि समुचित दण्डनीति का पालन करे। दण्ड से ही प्रजायें धर्म के मार्ग का अनुसरण करती है। राजा दुर्योधन उचित दण्ड का विधान करते समय शत्रु तथा पुत्र में भेंद नहीं समझते थे, जो दण्डाई थे, उनको अवश्य दण्ड देते थे।

''वसूनि वाच्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्मेव निवृत्त कारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपो सतुऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लम्।।''

— कि०. १/१३

राजा का सदैव धर्मशील तथा सदाचरणों से युक्त होना चाहिए। जैसा राजा आचरण करता है, वैसा ही प्रजायें भी करती हैं। राजा के सच्चरित्र होने से प्रजायें ही नहीं प्रकृतियां भी राजा के वश में रहती हैं। दण्ड के भय के बिना ही अपने–अपने कार्य में संलग्न रहती है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**माघकृत शिशुपालवधम् :–**

महाकवि माघ ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपालवधम् में राजनय के अनेक तत्वों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। राजा के गुणों तथा कर्त्तव्यों की विवेचना करते हुए, गुप्तचर, अमात्य, मन्त्री की गोपनीयता तथा षड्गुणों के प्रयोग आदि का सुन्दर विश्लेषण किया है।

महाकवि ने प्रथम सर्ग में राजा शिशुपाल का वर्णन करते हुये यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा को सूर्य सदृश अत्यन्त तेजस्वी होना चाहिए। अन्य राजाओं को अपने तेज तथा शक्ति से परास्त करने की क्षमता रखने वाला नृप वृद्धि को प्राप्त करता है। राजा देवांश कहा गया है।

राजा शिशुपाल बाल्यावस्था से ही चतुर्भुज था (चार भुजाओं से युक्त अर्थात् अत्यन्त बलशाली) पूर्ण चन्द्रमा के समान उसका मुख था, अर्थात् वह सौन्दर्य सम्पन्न था। तीन नेत्रों से युक्त था। युवा होने पर किरणों से अन्य राजाओं को आक्रान्त करके तीव्र तेज से सूर्य के समान सुशोभित हो रहा था –

**''स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिमस्त्रिलोचनः।**
**युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्यकैरसंशयं संप्रति तेजसा रविः।।**

–– शि० व० १/७०

राजा को शत्रुओं का विनाश तथा अपनी प्रजा का रक्षण व पालन करना चाहिए। महाकवि माघ का कथन है कि शत्रुओं के उन्नत मस्तक पर बिना पैर रखे आलम्बन रहित कीर्ति स्वर्ग को जाने में असमर्थ रहती है। जिस प्रकार ऊपर चढ़ने के लिए सोपान की आवश्यकता होती है जो उत्तम नृप है, उसका एक भी शत्रु यदि जीवित है तो उसे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। राहु देवताओं के सम्मुख ही चन्द्रमा को पीड़ित करता है –

**''ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।**
**पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सेहिकेयो सुरदुहाम्।।**

–– शि० व० २/३५

महाकवि माघ का विचार है कि राजा बुद्धि रूपी शस्त्र से युक्त होता है। स्वामी,मन्त्री आदि प्रकृतियों से तथा मन्त्र रूपी कवच से सुसज्जित रहता है। गुप्तचर ही राजा के नेत्र हैं अर्थात् गुप्तचरों द्वारा वह स्वराज्य तथा परराज्य के भेदों का ज्ञान करता है। इत राजा के मुख के समान है, क्योंकि इत द्वारा ही वह दूसरे राजाओं से बातचीत करने में समर्थ होता है।

महाकवि का कथन है कि बुद्धि रूपी शस्त्र वाला, प्रकृति (स्वामी, मन्त्री आदि सात) रूपी अंगों वाला, मन्त्र रूपी कवच वाला, गुप्तचर रूपी नेत्रों वाला और दूत रूपी मुख वाला कोई पुरूष राजा होता है –

**''बुद्धि शस्त्रः प्रकृत्यङ्गो धनसंवृतिकंचुकः।**
**चारेक्षगो इतमुखः पुरूषः कोऽपि पार्थितः।।''**

–– शि० व० २/८२

महाकवि माघ ने मन्त्र की गोपनीयता पर इस प्रकार विचार प्रकट किया है। जिस प्रकार


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कातर योद्धा वक्ष, हस्त, पाद आदि सम्पूर्ण अंगों के कवच से सुरक्षित रहने पर भी शत्रु के भेदन के भय से बहुत समय तक नहीं ठहरता उसी प्रकार सहायादि सम्पूर्ण अंगों से सुरक्षित मन्त्र शत्रुओं के गुप्तचरों द्वारा भिन्न होने के भय से अधिक समय तक नहीं ठहरता है।

"मन्त्रों योध इवाधीरः सर्वाङ्गः संदृत्तेरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशंकया।।"

— शि० न० २/२९

क्षत्रिय राजाओं का धर्म युद्ध है। अतः उनको उत्साह सम्पन्न तथा बलशाली होना चाहिए। महाकवि माघ का कथन[९] कि राजा शिशुपाल भी अत्यन्त पराक्रमी नृप थे। वे बड़े–बड़े युद्ध रूपी समुद्रों को अपने बाहुबल से पार कर जाते थे। युद्ध की अनेक मोर्चाबन्दियों (यथा मकराकार मोर्चाबन्दी) को अत्यन्त सहज भाव से नष्ट कर देते थे –

"चलितोर्ध्वकबन्धसम्प्रदो मकरव्यूहनिरूद्धवर्त्मनः।
अतरत् स्वभुजौजसा मुहुर्महतः संगरसागरानसो।।"

—शि० व० १६/६७

महाकवि माघ का मत है कि गुप्तचरों के बिना राजनीति व्यर्थ है, क्योंकि वे ही राजा के नेत्र है। उनके द्वारा ही राजा स्वराज्य तथा परराज्य के वृत्तान्तों का ज्ञान प्राप्त करता है। अतः महाकवि के अनुसार राजा को कुशल गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए। जिनके दोषों को दूसरा कोई नहीं जानता है परन्तु जो स्वयं दूसरों के छिद्रों को जानते हैं, ऐसे गुप्तचरों की नियुक्ति राजा को करनी चाहिए। ऐसे चरों द्वारा शत्रुओं तथा भृत्यों का भेद ज्ञात करना चाहिए।

"अज्ञातदोषज्ञरूदूष्यो भयवेतनैः।
मेघाः शत्रोरभिव्यक्त्शासनैः सामवायिकाः।।"

— शि०व० २/११३

महाकवि माघ का मत है कि राजा को षड्गुणों तथा उपायों का भलीभांति ज्ञान होना चाहिये। राजनय का निरूपण करने वाले ग्रन्थों (यथा–शुक्रनीति, मनुस्मृति आदि) की सहायता से राजा को इनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

महाकवि माघ के अनुसार राजा को यज्ञ तथा दान में संलग्न रहना चाहिए। ब्राह्मणों तथा वृद्धों की सेवा करना चाहिये। कवि का कथन है कि राजा युधिष्ठिर यज्ञ वेदी पर ब्राह्मण समूह को हर्षित करके अर्थात् दान–दक्षिणा आदि देकर व प्रसन्न करके स्वयं पवित्र हो गये। वे ब्राह्मण भी दोषरहित युधिष्ठिर से विमल दान प्राप्त करके पवित्र हो गये–

"किं नु चित्रमधिवेदि भूपतिर्दक्षयानि।
राजतः पुपुविरे निरेनसः प्राप्य ते पि विमल प्रतिगृहम।।

— शि०व० १४/३५

महाकवि माघ काम मत है कि प्रातः काल बुद्धि अत्यन्त निर्मल रहती है। अतः इस समय गम्भीर विषयों पर चिन्तन करना उचित होता है। राजाओं को इस समय राज्य की जटिल समस्याओं


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विचार करना चाहिए। कवि का कथन है कि राजा लोग राज्य के अनेक प्रहर में बुद्धि के नैर्मल्य को प्राप्त किये हुये सामादि उपाय की कल्पना करते हुए कवि के समान पुरूषार्थ का विचार कर रहे है—

''क्षणशयितविबुधाः कल्पयन्त प्रयोगा।
नुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे ।।''
गहनमपरराय प्राप्तबुद्धिप्रसादाः।
कवच इव महीपाश्चिन्तयन्तयन्नयर्थजातम्।।

—— शि० व० ११/६

**श्री हर्षकृत नैषधीयचरितम्—**

महाकवि श्री हर्ष ने नैषधीयचरितम् महाकाव्य में राजमय के अनेक सिद्धान्तों की विवेचना की है। राजनयविदों का मत है कि गुप्तचर ही राजाओं के नेत्र हैं। राजाओं को स्वराज्य तथा परराज्य सम्बन्धी समस्त वृतान्तों का ज्ञान चरों द्वारा ही होता है। अतः वे राजा के नेत्र हैं। महाकवि श्री हर्ष का भी यही मत है। महाकवि का कथन है कि राजा नल के चार चक्षु थे। राजा नल अपने तेज से अभित्रजित होते हुये भी मित्र (सूर्य) जित थे। अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण सूर्य के तेज से अधिक थे। चार दृष्टि होने पर भी विचारदृष्टि थे, तथापि अपने विचार तथा विवेक द्वारा कार्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो विपक्षी राजाओं की भांति विरूद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था। यदि ब्राह्मण वेद रूपी चक्षुओं से देखते हैं तो राजागण चार (गुप्तचर) दृष्टि से देखने में समर्थ होते हैं—

''प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरूद्धधर्मेरपि भेतृतोज्किता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स सद् विचारहक् चारदृगप्यवर्तत्।।''

——नै० १/१३

''गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणावेदचक्षुषा।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरेजनाः।।

—— नैषध १/१३ में नारायण द्वारा उदधृत।

डॉ श्रीमती सुशीला सिंह
रीडर (संस्कृत विभाग)
तिलकधारी महाविद्यालय,
जौनपुर।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ऋग्वेद के सूर्य से सम्बन्धित सुभाषित

वेद किसी एक साहित्यिक रचना का नाम नहीं है। अपितु वेद उस समस्त वाङ्मय का नाम है जो शताब्दियों में ही नहीं बल्कि सहस्राब्दियों में जा कर ऋषियों द्वारा उपलब्ध हुए हैं। जो ज्ञान का स्रोत है और मौखिक परम्परा से कई युगों को पार करते हुए आज हम तक बहुत ही व्यस्थित रूप से पहुँचे हैं। वेद हिन्दुओं के लिए तो जीवन सर्वस्व है ही अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं।

चारों वेदों में प्रमुख वेद ऋग्वेद को माना जाता है। इसका रचना काल निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें विभिन्न कालों में मंत्रों का संकलन होता रहा ऐसा प्रतीत होता है। वर्तमान समय में ऋग्वेद में १०२८ सूत्र और १०५३९ मंत्र है। इन मंत्रों में सूर्य से सम्बन्धित सुभाषित मंत्रों को ही मैंने यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया है–

## उत्पत्ति

सर्वप्रथम सूर्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित सुभाषितों का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में वर्णन है कि इन्द्र अथवा परमात्मा ने सूर्य, द्युलोक और उषा को उत्पन्न किया,[१] केवल सूर्य व उषा को परमात्मा ने उत्पन्न किया[२] अथवा उस ईश ने सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया,[३] दिवि सूर्यमदधात्[४] मंत्र इसी आशय को स्पष्ट करता है कि उस ईश्वर ने द्युलोक में सूर्य को रखा। एक स्थान[५] पर उषा के साथ प्रकट होने का मंत्र भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार सुभाषितों में सूर्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा कहीं गई है। सूर्य के साथ–साथ उषा अथवा द्युलोक की उत्पत्ति का वर्णन भी आया है।

## समय संचालक सूर्य

सुभाषितों में सूर्य को वर्ष, दिन व मासों का कर्त्ता माना गया है। यहीं–नहीं दिन व रात सूर्य की भिन्न रूप वाली दो पुत्रियां हैं।[६] सूर्य चक्र के तुल्य घूमता है।[७] सूर्य का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक में घूमता है और कभी जीर्ण नहीं होता,[८] सम्पूर्ण वर्ष चक्र में १२ सूर्य है और उसके पांच पैर है।[९] इस समय चक्र को सूर्य रूपी एक घोड़ा खींचता है उसकी सात किरणें सात अश्व है।[१०] सूर्य पृथ्वी की आठों दिशाओं को प्रकाशित किया।[११] वर्ष चक्र के चौराणवें अवयवों को सूर्य चलाता है।[१२] सूर्य उदय हो कर ऋतुओं का विभाजन करता है।[१३] वर्ष, मास, दिन और रात्रि का कर्त्ता सूर्य है।[१४]


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य से एक साथ सात ऋतुएं उत्पन्न हुई इनमें छः युगल है और एक अधिकमास अकेला है।[१५] सौरमास और चान्द्र मास दोनों होते हैं।[१६] सूर्य मासों का कर्त्ता है। उसे इन्द्र ने द्युलोक में रखा है।[१७] सूर्य एक दिन में तीस मुहूर्त चलता है[१८] तथा दिन में तीस घड़ी प्रतिदिन प्रकाश देता है।[१९] सूर्य मानवीय युगों का कर्त्ता है।[२०]

इस प्रकार सुभाषितों में सूर्य को दिन:रात व मासों का कर्त्ता निर्धारित किया है। सूर्य के बारह अरे बारह मासों की ओर संकेत करते हैं। सात प्रकार की ऋतुओं की उत्पत्ति सूर्य से कही गई है जिसमे एक लौंद के मास का भी उल्लेख किया गया है। दिन व रात मानों सूर्य की दो पुत्रिया है।

यहां सूर्य का वैज्ञानिक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक समय में भी वैज्ञानिक सूर्य को ही रात, दिन, मास, ऋतु का कर्त्ता मानते है। उसी के कारण गर्मी, सर्दी जैसी ऋतुएँ जन्म लेती है। सूर्य वास्तव में समय का संचालक है। काल गणना सूर्य का आधार बनाकर ही की जाती है।

**किरणें**

सूर्य की किरणों का सुभाषितों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे सूर्य की सहायक हैं तथा रथ को ढोने वाली हैं। उषा की स्तुति में वह अश्विनी—देवों की मित्र और सूर्य किरणों की माता कही गई है।[२१] सूर्य से अनुपम, नाना प्रकार की किरणें निकलती है।[२२] किरणों का वर्णन घोड़ियों के रूप में भी किया है—[२३] वे किरणे निष्पाप, निर्दोष और अक्षत है।[२४] निर्मल और नदी धारावत् व पवित्र है[२५] सूर्य की सात किरणें है। वह शक्तिशाली और सुखों की वर्षक है।[२६] द्युलोक में व्याप्त किरणे वर्षा, धूप और शीत के कारण है।[२७] सूर्य की किरणों में प्राण और अपान शक्ति है।[२८] सूर्य का मार्ग उसकी किरणों के द्वारा नियन्त्रित है।[२९] वह वस्तुओं को द्रवित करती है।[३०] तथा यज्ञ को सरल मार्ग से ले जाती है।[३१] वे रक्षक किरणें है और सत्य की रक्षा करती है।[३२] पितृगण भी सूर्य की किरणों के साथ रहते हैं।[३३] सूर्य की किरणें ज्ञानरूप है जो सर्वत्र प्रकाश फैलाती है।[३४] समुद्री वाष्प सूर्य की किरणों से मिलकर अमृतरूप हो जाता है।[३५] वर्षा का जल भी सूर्य की किरणों के सम्पर्क में रहता है।[३६] सूर्य की किरणों से बनी भाप जल के द्वारा पृथ्वी को गीला करती है। अथवा भाप के रूप में जल को आकाश में ले जाती है।[३७] सूर्य अपनी किरणों से संसार को निर्देश और प्रेरणा देता है।[३८] वह सारे संसार का रक्षक है।[३९] सूर्य की सात किरणें संसार के केन्द्र के रूप में है।[४०] तथा सारे संसार को नियंत्रण में रखती है।[४१] किरणों के आकर्षण से सूर्य पृथ्वी को रोके हुए हैं।[४२]

कुछ सुभाषितों में किरणों से आशीर्वाद की कामना भी की गई है। यथा—सूर्य अपनी किरणों से हमें शुद्ध करे।[४३] सूर्य किरणों को जानने वाला महाविद्वान् हो जाता है।[४४]

आधुनिक वैज्ञानिक वर्षा का कारण सूर्य को मानते हैं। सूर्य की गर्मी से नदियों, समुद्रों के जल


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भाप उत्पन्न होती है जो आकाश में एकत्रित हो कर बादल का रूप धारण करती है। यहीं बादल हवा के टकराने से वर्षा बन कर बरसते हैं। बिल्कुल यही वर्णन हमें ऋग्वेद के सूर्य की किरणों के सुभाषितों में भी प्राप्त होता है। वे किरणें निर्मल, स्वच्छ जल को धारण करने वाली होती है। ऋषियों ने सात प्रकार की किरणों का उल्लेख किया है और आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य से सात विभिन्न रंग व प्रकाश वाली किरणों के निकलने की पुष्टि करते हैं।

## सूर्य चिकित्सा

ऋग्वेद के सुभाषितों में सूर्य को एक चिकित्सक के रूप में उल्लिखित किया है। वह सभी अदृश्य रोगकृमियों और दोषों को नष्ट करता है।[४५] रोगों को नष्ट करता है।[४६] अथवा दूर करता है।[४७] इन्द्र सूर्य की किरणों से रोग के कीटाणुओं को जला देता है।[४८] उदित होते हुए सूर्य से प्रार्थना की गई है कि तू मेरे हृदय के रोगों को दूर कर[४९] तथा पीलिया रोग को भी दूर कर,[५०] हे सूर्य, तू रोगो और कुस्वप्नों को दूर कर,[५१] हम संतानयुक्त, निरोग और निष्पाप हो।[५२] एक सुभाषित में वर्णन है कि रोगकृमि सूर्य के प्रकाश से रहित स्थान में बढ़ते हैं।[५३] सूर्य जल का केन्द्र और औषधियों का पोषक है[५४] वह रोग, शत्रु ओर कुमति को दूर करता है।[५५] सूर्य की किरणों ने विष का प्रभाव नष्ट करके मधुरता दी [५६] अथवा इसमें रखा हुआ सोमरस रोगी के लिए औषधि है।[५७] सूर्य विष का प्रभाव नष्ट करता है।[५८] सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हे सूर्य तुम हमारे पुत्र पौत्रों को जीवन के लिए दीर्घायु दो।[५९] सूर्य की उष्मा हमारे लिए सुखकर हो।[६०] सूर्य हमें दीर्घ आयु दे[६१] और हम सूर्य के संरक्षण से अति सुखद कल्याण से युक्त हो।[६२]

इस प्रकार सूर्य को कृमिनाशक रोगों को दूर करने वाला तथा बहुत प्रकार के रोगों में चिकित्सक का कार्य करने वाला कहा गया है। विभिन्न सुभाषितों के माध्यम से यह प्रार्थना की गई है कि सूर्य मंत्रद्रष्टा को निरोग करता हुआ दीर्घायु प्रदान करें। आधुनिक युग में भी चिकित्सक पीलिया के रोगों को धूप में बैठने का परामर्श देते है। बहुत से घाव सूर्य की किरणों से ठीक हो जाते है तथा विभिन्न प्रकार की एलर्जी या चर्मरोग में भी सूर्य किरणें लाभकारी है।

## सत्य स्वरूप सूर्य

सूर्य को सत्य स्वरूप वर्णित किया गया है। सूर्य सत्यनिष्ठ, सत्य से उत्पन्न और सत्य का वर्धक है।[६३] उसमें सत्य का अविनाशी तत्व विद्यमान है,[६४] देवों ने सत्य से सूर्य को द्युलोक में रखा[६५] अथवा सत्य से सूर्य टिके हुए है।[६६] सत्य का रंगरूप सूर्य चारों ओर प्रकाश करता है।[६७] वह सदा सत्यनिष्ठ है, उसे सदा श्री मिलती है[६८] आदित्य देव भयंकर भी है और वे असत्य से घृणा करते हैं।[६९] मंत्रद्रष्टा ऋषि कहते है कि सूर्य! सत्य से ही तुम्हारा इतना महत्त्व है।[७०]

सूर्य सत्य का ही स्वरूप है वह प्रतिदिन उगता है और निलिन हो जाता है उसका उगना और


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
छिपना चिरन्तन सत्य है। ऐसा कभी नहीं होता कि सूर्य के प्रकाशित होने में विलम्ब हो अथवा वह प्रकाशित ही न हो। मंत्रद्रष्टा ऋषि तो सूर्य को असत्य से घृणा करने वाला बताते हैं।

## विज्ञान सम्बन्धी सुभाषित

बहुत से सुभाषित सूर्य से सम्बन्धित विज्ञान का उल्लेख करते हैं जो आधुनिक युग में भी सत्य है। यथा—सूर्य सारे संसार को प्रकाश देता है।[७१] यह प्रकाश देना सूर्य का देवत्व और महत्त्व है।[७२] सूर्य अपने तेज से द्युलोक ओर पृथ्वी को फैलाता है।[७३] वस्तुतः सूर्य अपना प्रकाश सर्वत्र फैलाता है।[७४] सूर्य ने अंधकार हटाया और प्रकाश फैलाया।[७५] चन्द्रमा में भी सूर्य का प्रकाश विद्यमान है।[७६] सूर्य द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को प्रकाश से पूर्ण करता है।[७७] सूर्य प्रकाश देता है और जल को भाप के रूप में लुप्त करता है।[७८] सूर्य तीनों द्युलोकों और तीनों पार्थिव लोकों को गति देता है।[७९] पिता रूपी वस्तुओं को रूप प्रदान करता है।[८०] सूर्य मानवमात्र को मधुर भोजन देता है।[८१] सूर्य ऐश्वर्य का आधार और सम्पत्ति का दाता है।[८२]

सूर्य स्थावर और जंगम जगत् का रक्षक है।[८३] सूर्य के चारों ओर शक्तिशाली धूम फैला हुआ है।[८४] अपने आकर्षणरूपी यंत्र से पृथ्वी को रोके हुए है।[८५] परमात्मा ने सूर्य में शक्ति का भण्डार स्थापित किया है।[८६] सूर्य दिव्य वृष्टि से पृथ्वी को तृप्त करता है।[८७] वायु और सूर्य वनस्पतियों का रस बाहर खींचते हैं।[८८] सूर्य फल—फूल वाली वनस्पतियों को धारण करता है।[८९] वह सभी वनस्पतियों को पकाता है।[९०] सूर्य ने पृथ्वी की आठों दिशाओं को प्रकाशित किया।[९१]

ऋग्वेद के ये सुभाषित पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। सूर्य ही समस्त शक्ति का स्रोत तथा अग्नि को जन्म देने वाला कहा गया है। जल से भाप, भाप से बादल और बादल से वर्षा का चक्र भी सूर्य के कारण ही है। इस समस्त लोक को प्रभावित करने वाला सूर्य है जिसके कारण हमारे नेत्र ज्योतियुक्त होते हैं। वृक्ष, पेड़—पौधे वनस्पतियां औषधियां बिना सूर्य के प्रकाश पर ही निर्भर करती है। चन्द्रमा इत्यादि ग्रह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। मंत्र द्रष्टा ऋषि सूर्य के चारों ओर धूम होने का संकेत करते है जो वैज्ञानिक सत्य है। बिना किसी प्रयोगशाला के, बिना किसी साधनों के भी ऋषियों का सूर्य सम्बन्धी वर्णन सत्य तथा वैज्ञानिक है बल्कि यों कहना चाहिए कि आधुनिक वैज्ञानिकों की खोज का आधार है।

## देवता स्वरूप सूर्य

सूर्य चराचर का स्वामी है। जीव जन्तुओं को पोषक बनाने वाला है, जीवन धारण कराने वाला है इसलिए सूर्य देवता स्वरूप भी है, पूज्य है, वन्दनीय है। ऋषियों ने सूर्य से अपने कल्याण की याचना विविध रूपों में की है:—


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध धन और अन्न को देने वाले सूर्य को हम पुकारते हैं।[९२] हम सूर्य के श्रेष्ठ एवं सर्वधारक तेज को धारण करते है।[९३] सूर्य हमें अपने कार्यों के प्रति प्रेरित करता है।[९४] सूर्य देव यजमान को सर्वथा सकुशल रखता है।[९५] आदित्य देवों द्वारा प्रेरित मनुष्य सदा प्रगति करता है।[९६] आदित्य देव जिसकी रक्षा करते हैं, उसे पाप नहीं सताते।[९७] हमारी दृष्टि को प्रकाश देने के लिए सूर्य और चन्द्र हैं।[९८] वह सूर्य देवता ज्ञानदाता है और भक्तों का आश्रय है।[९९] दान देने वालों को द्युलोक में सूर्य का प्रकाश मिलता है।[१००] सूर्य दानी को श्रेष्ठ धन देता है।[१०१] जो घोड़े का दान करता हैं, वे सूर्य के साथ रहते है। [१०२] हे आदित्य, तुम्हारे पाश शत्रुओं के लिए फैले हुए है।[१०३] हम सूर्य चन्द्र के तुल्य कल्याणकारी मार्ग पर चले।[१०४] सूर्य सर्वशक्तिमान और सुखद है। वह इधर आवे[१०५] सूर्य हमारे लिए मधुमय हो,[१०६] कल्याणकारी हो। [१०७] सभी मनुष्य प्रेरक सूर्य देव से मित्रता करे।[१०८] हे आदित्य देवो! तुम पापों का नष्ट करने का ढंग जानते हो।[१०९] अश्विनी, उषा और सूर्य के साथ ही हमें बल दे,[११०] सूर्य द्युलोक के संकटों से हमें बचावे।[१११] सूर्य शत्रुओं को मेरे वश में करे, मैं शत्रुओं के वश में न होऊ।[११२] हे सविता! हमें द्युलोक जल एवं पृथ्वी सभी स्थानों से धन मिले [११३] सूर्य का संरक्षण अतियशस्वी धन देता है।[११४] हम सूर्य के संरक्षण में रहते हुए दुखभागी न हो[११५] हे सर्वोतम सोमरूपी सूर्य। तुम्हारी अक्षय शक्ति द्युलोक में स्थित है।[११६] हम उस सूर्यरूपी ईश को प्राप्त करते हैं जो उत्तम तेजोमय हैं।[११७] मृत व्यक्ति के नेत्र सूर्य को प्राप्त हों।[११८] हम सूर्य के तुल्य नियमों का पालन करते हैं।[११९] विद्वानों ने प्रकाश के लिए सूर्य विद्युत शक्ति उत्पन्न की।[१२०] आदित्य देव सम्राट और समृद्ध है। वे यज्ञ में आये[१२१] सूर्य द्वारा रक्षित को न कोई मार सकता है और न जीत सकता है।[१२२] उसे पास या दूर से कोई पाप नहीं लगता।[१२३]

इन सुभाषितों में सूर्य का देवता रूप दृष्टिगोचर होता है। सूर्य देवता से सभी प्रकार के कल्याण की कामना की गई है। सूर्य देव मनुष्य को कार्यों के प्रति प्रेरित करता है और उससे प्रेरित मनुष्य सदा प्रगति करता है। प्रेरक मनुष्य को सूर्य देव से मित्रता करनी चाहिए। वह पापों को नष्ट करने वाले हैं, धन को देने वाले हैं—दुखों को दूर रखने वाले हैं ऐसे स्वरूप इन सुभाषितों में प्राप्त होते हैं।

## आशीर्वाद कामना

सूर्य को देवता मान लेने के पश्चात् याजक याचक बन कर देवता के सामने उपस्थित होता है। सभी प्रकार के धन, वृद्धि, अन्न, यश, बल इत्यादि की कामना सूर्य देवता से की गई है।

आदित्य देव हमें विशाल सुख दें।[१२४] हे सूर्य तुम देवों में हमारा उत्तम यश फैलाओ[१२५] हे सूर्य हमारा आज कल्याण हो ओर कल भी,[१२६] मैं सूर्य देव को रक्षार्थ बुलाता हूँ।[१२७] वे आदित्य हमें अभय ओर सुख दें। [१२८] हे सूर्य हमारी रक्षा करों। कोई पापी हम पर अधिकार न कर सके।[१२९]


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य हमें सुसन्तानयुक्त सौभाग्य दें।[१३०] दीर्घकाल तक सूर्य को उदय होता हुआ देखे।[१३१] हे आदित्य रूप आचार्य! तुम हमारी कुमति दूर करो।[१३२] हे आदित्यों तुम्हारी सुमति हमें प्राप्त हो।[१३३] हम सूर्य के श्रेष्ठ निर्देशन में रहे।[१३४] आदित्य हमें अक्षय सुख दें।[१३५] हे सूर्य तुम संकट में सुख देने वाले हो।[१३६] हे सूर्य हम तुम्हारे संरक्षण को ठीक ढंग से जाने।[१३७] हे सूर्य तुम अकेले अपनी शक्ति सें सारे संसार को देखते हो।[१३८] मैं अपनी सुरक्षा के लिए सूर्य देव का आह्वान करता हूँ।[१३९]

इस प्रकार सूर्य सम्बन्धित सुभाषित ऋग्वेद में यत्र तत्र प्राप्त होते है। ऋषियों ने सूर्य कों प्रत्येक दृष्टि से उल्लेख करने का प्रयत्न किया है। वह देवता है मनुष्य की आवश्यक आवश्यकताएं सम्पूर्ण करता है। प्रकाश, गर्मी, अन्न औषधि इत्यादि का प्रदान करने वाला है। वह वरदान देने वाला देवता भी है। ऋषि पुत्र–पौत्रों के साथ सुख की याचना सूर्य से करता है। उसके नेत्र सौ वर्ष तक सूर्य को देखे यह उसकी कामना है। सूर्य का वैज्ञानिक रूप भी सुभाषितों में दृष्टिगोचर होता है। वह जल उत्पन्न करने वाला है। सभी ग्रहों का धारक तथा प्रकाशमान करने वाला है। वर्षा का कारण वहीं है। औषधियों को उत्पन्न करने वाला है। विभिन्न रोगों का भेषज है सूर्य। सूर्य वास्तव में अनंत ऊर्जा के स्रोत के रूप में वर्णित है। आज भी सौर ऊर्जा से विद्युत उत्पन्न का और उसे संग्रहीत करके अनेक प्रयोग करने की वैज्ञानिक परम्परा आरम्भ हो चुकी है। सूर्य ऊर्जा का अविनाशी स्रोत हैं जिसे इसी रूप में वेदों में वर्णित किया गया है। उसकी किरणें पीलिया तथा कुष्ठ इत्यादि रोग में औषधि का कार्य करती है।

संक्षेप में कहा जाता है कि ऋग्वेदीय ऋषि सूर्य की विविध प्रकार की सत्ता को अच्छी प्रकार पहचान गये थे। उन्हें सूर्य के गुण भली प्रकार ज्ञात थे जो आधुनिक युग के वैज्ञानिकों के लिए स्रोत सिद्ध हो रहे हैं।

डा० प्रीति गर्ग
११/१, ए रेल विहार
मंशा देवी कॉम्पलेक्स
सेक्टर–४, पंचकुला

सन्दर्भ सूची :–


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | १/३२/४ | ४७. | १०/१००/८ | ९३. | ५/८२/१ |
| २. | ३/३२/८, २/१२/७ | ४८. | ८/१२/९ | ९४. | १/१२४/१ |
| ३. | ८/८९/७ | ४९. | १/५०/११ | ९५. | ३/३८/१ |
| ४. | ५//८५/२ | ५०. | १/५०/११ | ९६. | ८/४६/५ |
| ५. | १०/३/३ | ५१. | १०/३७/४ | ९७. | ८/४७/१ |
| ६. | ६/४९/३ | ५२. | १०/३७/७ | ९८. | १/१०२/२ |
| ७. | २/११/२० | ५३. | ५/३२/६ | ९९. | १/२२/५ |
| ८. | १/१६४/११ | ५४. | १/१६४/५२ | १००. | १/१२५/६ |



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. १/१६४/११
१०. १/१६४/२
११. १/३५/८
१२. १/५५/६
१३. २/३८/४
१४. ७/६६/११
१५. १/१६४/१५
१६. १०/६४/३
१७. १०/१३८/६
१८. ६/५९/६
१९. १०/१८९/३
२०. ८/६२/९
२१. ४/५२/३
२२. २/१३/७
२३. १/५०/९—७/६०/३
२४. २/७२/२
२५. २/२७/२
२६. २/१२१/१२
२७. ५/४७/४
२८. १०/१८९/२
२९. १/१३६/२
३०. ९/६९/६
३१. १/४१/५
३२. १/१६३/५
३३. १/१०९/७
३४. ७/७९/२
३५. ४/५८/१
३६. १/२३/१७
३७. १/१६४/४७
३८. ४/५३/३
३९. २/२७/४
४०. १/१०५/९
४१. ८/१२/२८
४२. ७/९९/३
४३. १०/१३२/६
४४. १/१६४/१६
४५. १/१६४/१६
४६. १/३५/९
४५. ८/१८/१०
५६. १/१९१/१०
५७. ८/७२/१७
५८. १//१९१/१०
५९. ८/१८/१८
६०. ८/१८/९
६१. १०/३६/१४
६२. ७/५१/१
६३. ७/६६/१३
६४. १०/१७०/२
६५. १०/६२/३
६६. १०/८५/१
६७. ८/८६/५
६८. २/३०/१
६९. ७/६६/१३
७०. २/२७/८
७१. ४/१४/२
७२. १/११/५४
७३. १०/८८/३
७४. १/१०५/१२
७५. २/२४/३१२१.
७६. १/८४/१५
७७. १०/१२९/२
७८. १०/२२/२४
७९. ४/५३/५
८०. १/१६०/२
८१. २/१३/६
८२. १०/१३९/३
८३. ७/६०/२
८४. १/१६४/४३
८५. १०/१४९/१
८६. २/१३/६
८७. १/१६४/५२
८८. १०/२७/२३
८९. २/१३/७
९०. १०/८८/१०
९१. १/३५/८
९२. १/२२/७
१०१. १/३५/८
१०२. १०/१०७/२
१०३. २/२७/११
१०४. ५/५१/१५
१०५. १/३५/१०
१०६. १/९०/८
१०७. ५/५१/१२
१०८. ५/५०/१
१०९. ८/४७/२
११०. ८/३५/१३
१११. १०/१५८/१
११२. १/५०/१३
११३. २/३८/११
११४. ३/५९/६
११५. १०/३७/६
११६. ८/५२/७
११७. १/५०/१०
११८. १०/१६/३
११९. ३/५९/३
१२०. ९/२३/२
१२१. १०/६३/५
१२२. ३/५९/२
१२३. ३/५९/२
१२४. १०/१२६/७
१२५. ४/३१/१५
१२६. ६/७१/६
१२७. १/३५/१
१२८. १०/६३/७
१२९. ६/७१/३
१३०. ५/८२/४
१३१. १०/५९/६
१३२. ८/६७/१५
१३३. १/१०७/१
१३४. ६/७१/२
१३५. २/२७/६
१३६. २/२७/५
१३७. २/२७/५
१३८. १/१६४/४४
१३९. १/३५/१


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# योगदर्शन में सार्वभौम महाव्रत का सामाजिक स्वरूप

प्रणियो को त्रिविध दु:खों से छुटकारा दिलाना ही समस्त भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य रहा है। दु:खों की शाश्वतिक निवृत्ति मोक्ष या केवल्य ही है। इसकी प्राप्ति के लिए उच्च श्रेणी के साधनों की आवश्यकता होती है। योगमार्ग ऐसे ही साधनो में अन्यतम है। अन्य साधन मार्गो की अपेक्षा इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि जहां अन्य मार्ग केवल विचारात्मक अथवा कुछ सिद्धान्तों की विवेचना मात्र है वहां योग दर्शन पूर्णत: क्रियात्मक है। इसमे जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है उनको प्रत्यक्ष अनुभूति का मार्ग भी बताया गया है।

योग शब्द का शाब्दिक अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन है। पातञ्जल योगदर्शन में योग शब्द युज् समाधों धातु के धज् प्रत्यस से निष्पन्न है। यहां योग का अर्थ समाधि से है। महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग बताया है। मनुष्य की चित्तवृत्तियां ही भौतिक अथवा स्थूल जगत की वस्तुओं को ग्रहण करने वाली उनमें लिप्त होने वाली होती है। जैसे–जैसे उनका निरोध किया जायेगा अर्थात् उनको बहिर्मुख अवस्था से अन्तर्मुख बनाया जायेगा, वैसे–वैसे मनुष्य आत्म जगत् में प्रविष्ट होता जायेगा। पातञ्जल योगदर्शन में वर्णित अष्टांग योग[२] के साधन द्वारा चित्तवृत्तियों को एक लक्ष्य पर केन्द्रित करके और अभ्यास द्वारा अन्त में समाधि अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।[३]

अष्टांग योग के प्रथम सोपान में यम का निर्देश किया गया है जिसका अर्थ उपरम या अभाव है। **''यम यन्ति निवर्तयन्ताति यमा:''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार यम निषेधात्मक या निवृत्तिपरक योगाङ्ग है।[४] यम के रूप में योगदर्शन में जिन बातों की साधना करने का निर्देश किया गया है वे मानवता के मौलिक कर्तव्य है, जिनके आधार पर समाज स्थित है। यम केवल योग साधना के निमित्त ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के लिए सभी अवस्थाओं मे पालन करने के लिए उचित और कल्याणकारी है। यम के पांच अङ्ग है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों यम ही सार्वभौम महाव्रत है।[५]

**''अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा: यमा।[६]**

''सर्वथा कायेन मनसा वाचा सर्वदा प्राणात्ययादिसंङ्कट कालेऽपोत्यर्थ: स्थावरजङ्गमादिसर्व प्राणिनामनभिद्रोह: पीडन बुद्धिराहित्यमित्येव योगाङ्ग ''भूताऽहिंसा।''[७] मनुष्य के जीवित रहने व अपना अस्तित्व बनाये रखने के अधिकार के साथ अहिंसा का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। अहिंसा व्रत का पालन करने से समाज के समस्त प्राणी निर्भय और आश्वस्त होकर रह सकेंगे।

जो पदार्थ जैसा है, वैसी ही वाणी और वैसा ही मन होना सत्य कहा जाता है।[८] वञ्चना, भ्रान्ति तथा निरर्थक दोष से रहित वाक्य सत्य है। सही या गलत कुछ भी बोध जिससे न उत्पन्न हो सके ऐसी वाणी न हो। किन्तु जिस सत्य बात से अन्य प्राणियों को पीड़ा या बाधा होती है उनका


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपकार होता है तो वह सत्य न होकर सत्य भास ही है। पुण्य न होकर यह पाप ही है। स्मृति वचन के अनुसार भी–

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।

समस्त सामाजिक व्यवहार इसी सत्य के आधार पर चलते है। इससे रहित समस्त सामाजिक व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जायेगी। सत्यव्रत से ही सामाजिक कर्तव्य पारस्परिक विश्वास और प्रतिज्ञा पालन सम्भव है। इसका जितना अधिक पालन किया जायेगा वह समाज उतना ही अधिक समुन्नत होगा।

अन्य द्रव्य ग्रहण करने को इच्छा का अभाव अर्थात चोरी न करना "अस्तेय" है। नहि चौर्य विरति मात्रस्तेयं किन्तु अग्रहणीयविषयेऽस्पृहा रूपं तत्?"[९] अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासतः।"[१०] समाज को अनीति और अन्याय से बचाने के लिए अस्तेय व्रत आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल प्राप्त हो और उस पर उसका अधिकार हो। यदि समस्त मनुष्य छीना झपटी और परस्वत्वापहरण की मनोवृति अपना ले तो उस समाज की उन्नति तो दूर शान्ति से जीवन व्यतीत करना भी असम्भव हो जायगा। लोग न्यायोचित मार्ग द्वारा निर्वहन करके चोरी को ही अच्छा काम समझेंगे जिससे समाज का उच्छेद ही हो जायेगा। इसीलिए समाज को अनीति और अन्याय से बचाने के लिए अस्तेय व्रत आवश्यक है। इन्द्रिय संयम करना और विषय वासना की ओर न जाना ही "ब्रह्मचर्य" है। यदि व्यक्ति पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करके इन्द्रियों को वश मे रखने का अभ्यास कर लेता है तो फिर उसके द्वारा किसी प्रकार का सामाजिक अनाचार फैलने का भय नहीं रहता। ब्रह्मचर्य व्रत समाज की सुव्यवस्था, पवित्रता को स्थिर रखने मे सहायक सिद्ध होता है। अर्थात् वेद में भी ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कहा गया है:–

" ब्रह्मचारीष्णरिति रोदसी उभे, तस्मिन् देवाः सम्मेनसोभवन्ति।
सदाधारं पृथिवी दिवञ्च, सआचार्य तपसा पिपर्ति।"

लोभवश अनावश्यक वस्तु का ग्रहण न करना ही "अपरिग्रह" है। अपरिग्रह का अर्थ जीवनोपयोगी वस्तुओं का उचित परिणाम में भी प्राप्त न करना नहीं है वरन् अपनी आवश्यकता से बढ़कर केवल लालचहीन, स्वार्थ भावना सब प्रकार की वस्तुओं और सम्पत्ति को अधिक से अधिक संग्रह कर लेने की भावना ही परिग्रह में आती है। "शास्त्रीयाणामति उपार्जितानाञ्च रक्षणदिदोष दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।"[११] परिग्रह की मनोवृत्ति से राष्ट्र की सम्पत्ति और समृद्धि बढ़ नही सकती अपितु इससे लोगों में असन्तोष की वृद्धि होती है और सर्वत्र अभाव और दरिद्रता का दृश्य दिखायी पड़ने लगता है। मनुष्य अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखकर उसका उपयोग करता रहे इसमें कोई आपत्ति नहीं, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि दूसरे व्यक्तियों को भी सामाजिक सम्पत्ति में उचित भाग मिल सके और वे भी अपना निर्वाह कर सके।

"जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।"[१२]

"जाति, देश, काल और आचार परम्परा से सीमित न होते हुए ये यम ही सार्वभौम महाव्रत है। जिनका सदा पालन करना चाहिए।" इनके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
रह सकती। मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति तो क्या, साधारण रूप से जीवन निर्वाह करने में असमर्थ हो जायेगा।

" जात्यादिभिरचतुर्भिरनवच्छिन्नास्ते यमाः सार्वभौमाः सर्वास्वस्थासु
अनुगता अतो महोव्रतमिति संज्ञिता इत्यर्थः।[१३]

मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, अवस्था, वर्णाश्रम, मत, मतान्तर का क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य समाज में रहना है तो उसके लिए ये यम सर्वदा माननीय और पालनीय है। ये पञ्चमहाव्रत ही समाज के सुखी और समुन्नत होने का आधार है। प्राचीन भारतीय महर्षियों ने इनको धर्म का नाम दिया था और कहा था कि जो इनका पालन करेगा, वही अभ्युदय और भक्ति का अधिकारी बन सकेगा।[१४] योगदर्शन में यम को सार्वभौम महाव्रत कहना सर्वथा उपयुक्त तथा कल्याणकारी है। वास्तव में जब तक मनुष्य भौतिक जगत को ही सब कुछ मानकर शरीर को ही विविध भोगों द्वारा सन्तुष्ट करने में लगा रहेगा, तब तक वह कदापि दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकेगा। भोगवृत्ति वाले व्यक्ति में संकीर्णता की स्वार्थभावना का प्रबल होना अवश्यंभावी है। जिस समाज में लोग यम के विपरीत आचरण करते हैं, वें कभी सुख और शांति से नहीं रह सकते। चाहे उनको कितनी भी सम्पत्ति, वैभव क्यों न प्राप्त हो जाये, ऐसे लोग सदा अभावों का ही अनुभव करते हुए अशान्त, अस्थिरता का ही जीवन व्यतीत करने को बाध्य होंगे। अतः सभी का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से ही नहीं है अपितु सम्पूर्ण मनुष्य समाज से है। इसलिए सम्पूर्ण मनुष्य इनका पालन करने में समष्टि रूप से परतन्त्र है।

**डॉ० श्रीमती सरिता गुप्ता**

## सन्दर्भ


१– योगश्चित्त वृत्ति निरोधः १–पातञ्जल योगदर्शन १.२

२–यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।/ पा.–२.२९

३–तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्–पातञ्जलयोगदर्शन १.३

४–उपरम्यन्ते निर्वसन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्ते चाहिंसादयः पञ्चैति/५–पातञ्जल रहस्य पृष्ठ २४७

५–भास्वती पृष्ठ–२४८

६–पातञ्जल योगदर्शन –२.३०

७–भास्वती पृष्ठ –२४९

८–व्यास भाष्य–पातञ्जलि योगदर्शन २५०

९–भास्वती पृष्ठ २५०

१०–लिङ्गपुराण

११–तत्व वैशारदी

१२–पातञ्जल योगदर्शन २.३१

१३–योगवार्तिक पृष्ठ २५१

१४–अखण्ड ज्योति पत्रिका।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# कठोपनिषद् में आत्मतत्त्व

उपनिषद् आरण्यकों के अङ्ग विशेष माने गये हैं। वेद के अन्तिम भाग होने से तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् वेदान्त के नाम से प्रख्यात है। उपनिषद् ही भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक सिद्धान्तों के मूल स्रोत हैं। वस्तुतः उपनिषद् ही वह आध्यात्मिक जलाशय हैं जहां से ज्ञान की भिन्न–भिन्न सरिताएं निकलकर इस पावन–भूमि में मानव–मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूलतत्त्वप्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं। समस्त भारतीय दर्शनों के विचारों के मूलस्रोत उपनिषद् ही माने गये हैं। आत्मतत्त्व का विवेचन जो कि भारतीय दर्शन का प्रमुख विषय है– वही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य है।

कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा का अनुयायी कठोपनिषद् अपने गम्भीर विषय के प्रतिपादन के कारण अन्य उपनिषदों में श्रेष्ठ माना जाता हैं इस उपनिषद् में कुल दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में तीन–तीन वल्लियां हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इसका प्रथम अध्याय ही मूल उपनिषद् है, दूसरा अध्याय परवर्ती सन्निवेश है, क्योंकि इसमें योग–सम्बन्धी विकसित विचारों का एवं भौतिक पदार्थों की असत्यता सम्बन्धी आधुनिक विचारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में सांकेतित नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से यह आरम्भ होता है। नचिकेता के तृतीय वर के रूप में यम से निःश्रेयस के साधनभूत आत्मज्ञान की याचना की।

यम के लोभपूर्ण आग्रह को अस्वीकार करते हुए नचिकेता ने धनादि को मनुष्य की मुक्ति के मार्ग में बाधक माना है और कहा है कि भौतिक वस्तुओं–धनादि के द्वारा मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता–न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्मचेत्वा.....(१/२/२७)। ये नश्वर भौतिक पदार्थ ही मनुष्य के बन्धन का कारण होते हैं। मनुष्य की मृत्यु आने पर भी जो रहे, नष्ट न हो उसी आत्मज्ञान का परिग्रह करना चहिए और वही मानव जीवन का परम पुरूषार्थ होता है, नश्वर भोग पदार्थों का संचय नहीं।

इसी प्रसंग में यम ने श्रेयस् तथा प्रेयस् की चर्चा की है। यम ने कहा है कि फल की दृष्टि से संसार के सभी कर्म दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के वे कर्म हैं, जिनसे मनुष्य का सच्चा कल्याण होता हैं। दूसरे प्रकार के वे कर्म हैं, जिनसे मनुष्य को सांसारिक सुख मिलता है। इन्हें क्रमशः श्रेयोमार्ग तथा प्रेयोमार्ग कहा गया है। श्रेयस् को विद्या तथा प्रेयस् को अविद्या भी कहा जाता है। श्रेयोमार्ग के अनुसरण में ही मनुष्य का सच्चा कल्याण है, यह श्रेष्ठ मार्ग है। प्रेयोमार्ग का अनुसरण तो केवल तात्कालिक सुख ही प्रदान कर सकता है जो कालान्तर में दुःख का कारण ही बनते हैं।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से आत्मतत्त्व विषयक विचार ही इस उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
माना गया है। आत्मा के स्वरूप का जितना स्पष्ट विवेचन इस उपनिषद् में किया गया है उतना स्पष्ट अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता । नचिकेता के आग्रह पर यम ने उस 'अद्वैत तत्त्व' का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश दिया है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' वाक्य जो अद्वैत तत्त्व के विराट् स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन करता है इसी उपनिषद् से सम्बद्ध है। आत्मा मनुष्य की मृत्यु के बाद भी रहता है। शरीर से नहीं स्वरूप से। आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है। मनुष्य का यह स्वरूप, उसकी आत्मा नित्य और अविनाशी है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। यदि मनुष्य की आत्मा मृत्यु से परे अविनाशी या नित्य तत्त्व है तो निस्सन्देह उसका जन्म भी नहीं होता होगा। वह आत्मा परागति तथा पराकाष्ठा है। अज–अविनाशी आत्मा यम के शब्दों में इस प्रकार है–

**न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**
**हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।**
**उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।**

(१/२/१८–१९)

आत्म–विषयक इन्हीं विचारों का अनुवर्तन गीता अपनी उक्तियों में उपन्यास के साथ करती है।

अपनी सर्वव्यापकता के कारण आत्मा अनित्य शरीर के भीतर रहने पर भी नश्वर शरीर के अनित्यवादी धर्मों से अस्पृष्ट रहता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सब जगह व्याप्त रहते हुए बाह्य दोषों से मुक्त रहता है उसी प्रकार आत्मा बाह्य दोषों से मुक्त रहते हुए सर्वत्र व्याप्त बना रहता है इसीलिए आत्मा को विभु कहा गया है। इस आत्मा का ज्ञान सूक्ष्मबुद्धि से होता है, सांसारिक प्रपञ्चों में उलझी हुई स्थूल बुद्धि से नहीं। कहा गया है–

**एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।**
**दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।**

(१/३/१२)

मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि से आत्मा को पृथक् मानते हुए इस उपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्रियों से सूक्ष्म विषय है, विषय से सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि और बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व आत्मा हैं आत्मा के आपाततः विरोधी स्वरूप को यम ने नचिकेता के समक्ष प्रकट किया है–

**आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।**
**कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति।।**

(१/२/२१)

अर्थात् जो बैठा हुआ भी दूर तक जाता है, लेटा हुआ भी सर्वत्र पहुंचा हुआ है, जो हर्ष से युक्त भी है और रहित भी, जो शरीर में स्थित होकर भी उसके धर्मों से रहित है, अनित्यों में जो नित्य रूप से स्थित है, व आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ओर स्थूल से भी स्थूलतर है–**अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्**....(१/२०/२०)। मानव


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर में आत्मा में की स्थिति को सर्वोच्च माना गया है। इस तथ्य को इस उपनिषद् में यमे ने रथ–रथी के रूपक के द्वारा प्रकाशित किया हैं। मानव का शरीर रथ की यात्रा के समान है। यह शरीर रथ है। जीवात्मा शरीर–रूपी रथ का स्वामी रथी है, जिसका परमलक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करना है। रथ का सारथि बुद्धि है, इन्द्रियां अश्व हैं। इन्द्रिय रूपी अश्वों को नियन्त्रित रखने के लिए मन लगाम है। विषय उनके सञ्चरण मार्ग माने गये है। शरीर, मन, इन्द्रिय ओर बुद्धि से युक्त जीवात्मा भोक्ता है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

(१/३/३–४)

वस्तुतः आत्मा किसी प्रकार के सुख अथवा दुःख का अनुभव नहीं करता। यह सुख अथवा दुःख की अनुभूति तो बुद्धि को होती हे, आत्मा को नहीं। किन्तु अज्ञान की दशा में जब इस आत्मा को शरीर, इन्द्रियादि से युक्त मान लिया जाता है तब यह प्रतीति होती है कि अमुक कार्य का कर्त्ता मैं ही हूँ, या अमुक सुख या दुःख की प्रतीति मुझे हो रही हैं इस अहं बुद्धि के कारण इस आत्मा को भोक्ता मेान लिया जाता है। इस अहं रूप अज्ञान की समाप्ति होने पर यह आत्मा सर्वथा शुद्ध, प्रकाश–पुञ्ज और केवल रूप में द्योतित होता है–यही रथ–रथी रूपक का सार है। जिसको भली प्रकार जानकर अध्येता मुक्ति को प्राप्त करता है।

यह आत्मा न तो प्रवचन से न मेधा या धारणा शक्ति से और न बहुत श्रवण से ही प्राप्त होने योग्य है। उसी साधक के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट करता है। जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियां शान्त नही हैं, जिसका चित्त शान्त नहीं है वह व्यक्ति आत्मा को केवल ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। असंगत इन्द्रिय, अस्वच्छ मन, तथा विकृत बुद्धि से जीव कभी कोई साधना नहीं कर सकता। वह व्यक्ति तो भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लगा रहता है। अतः मन, बुद्धि इन्द्रियादि से परे हृदय में अवस्थित अजर–अमर आत्मा के विषय में जान पाना उसके लिए सम्भव नहीं है।

यहां आत्मविषयक बुद्धि–योग(चित्त–समाधान) से उसकी प्राप्ति की बात बतायी गयी है। आत्मा जैसे सूक्ष्म विषय पर चित्त केन्द्रित हो ही नहीं सकता, उसे तो निरन्तर अभ्यास से ही धीरे–धीरे सूक्ष्मतम को देखने के योग्य बनाया जा सकता है।इन्द्रिय, मन आदि सबको योगाभ्यास के द्वारा रोककर 'वह अवश्य है और साधक को मिलता है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से निरन्तर उसकी प्राप्ति के लिए परम उत्कण्ठा के साथ प्रयत्नशील रहने से प्राप्त किया जा सकता हैं योग–धारणा के द्वारा ही मन, इन्द्रिय को रोककर उस परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिए कहा गया है कि आत्मा को जाना जा सकता है तो योग के द्वारा। योग ही उस आत्मा के साक्षात्कार का प्रधान साधन है। चित्त को बाह्य विषयों से पृथक् कर आत्मतत्त्व पर केन्द्रित करना योग के द्वारा ही सम्भव है। योगी पुरूष इन्द्रियों को नीति के पथ से विमुख नहीं होने देता। इन्द्रियों की धारणा को विवेकी पुरूषों ने योग की संज्ञा दी है।

**तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवात्ययौ।।**

(२/३/११)

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के द्वारा योग की चरम अवस्था को प्राप्त कर साधक मानव–जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करता है। उसके सम्मुख श्रेयस्–प्रेयस् सम्बन्धी भ्रम की स्थिति समाप्त हो जाती है। उसके द्वारा निर्विकार भाव से किया गया कोई भी कर्म किसी भी प्रकार के बन्धन को जन्म नहीं देता। अतः इस उपनिषद् का प्रमुख उपदेश यही है कि शरीर का नाश होने के पूर्व ही व्यक्ति आत्मज्ञान से सम्पन्न होकर परब्रह्म का साक्षात्कार करें। इसीलिए कहा गया है–**उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**

श्री हेरम्ब पाण्डेय
एन–१/३० ए–९
नगवा, वाराणसी–२२१००५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# आश्रम व्यवस्था में ही समाज का समग्र सुख निहित है

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह एकाकी नहीं रह सकता। अपनी जीवन यात्रा को आगे बढ़ाने के लिए वह समाज पर निर्भर रहता है। वह अन्य मित्रों, सहयोगियों और भिन्न–भिन्न प्रकार की भूमिका निर्वहण करने वाले समाज के व्यक्तियों के मध्य कार्य करता हुआ उन्नति करता है। यही कारण है कि वह गृह, ग्राम, नगर, महानगर आदि बसाकर उसमें रहता है। इस प्रकार मिलकर रहने वाले व्यक्तियों के समूह को ही समाज कहते हैं। **'सममजन्ति जनाः यस्मिन् स समाजः'** स्वयं भगवती श्रुति ने भी कहा कि जब पहले पहल मनुष्यों ने स्वराज्य–स्थापना के लिए प्रयत्न किया तो उन सभी मनुष्यों की गति अथवा चाल(अजः) मिलकर एक हो गई थी, (संबभूव) तब कहीं धरती पर मनुष्य प्राणी का स्वराज्य स्थापित हो सका था– **'यद् अजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय।'**

समाज शब्द सम्–उपसर्ग पूर्वक अज्(चलना) धातु से बना है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर मिलकर एक दूसरे से सहयोग करके जीवन यापन का नाम ही समाज है। जहां यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ़ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा अथवा उतना ही वह अधिक 'समाज' होगा ।

वैदिक संहिताओं में अनेक स्थानों पर ऐसे उत्तम समाज की झांकी प्रस्तुत की गई है, जिसमें सब एक दूसरे का सहयोग करते हुए जीवन पथ पर आगे बढ़ते है और सर्वविध सुख, सौभाग्य को प्राप्त करते हैं।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल का संगठन सूक्त इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय है। वेदमाता प्रेम भरे शब्दों में कहती है–

**संगच्छध्वं–संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
**देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।**
**समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्**
**समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।**
**समानी व आकूकतः समानाः हृदयानि वः**
**समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।**

ऋग्. १०/१९१

अर्थात् हे मनुष्यो! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करों। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें । जिस प्रकार पहले के विद्वान् जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हुए अच्छी प्रकार से उपासना करते रहे हैं, उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन और उपास्य प्रभू की उपासना करो। इन सबका वचन एक और विचार एक समान हो। परस्पर संगति, मेल–जोल भी एक समान, भेदभाव से रहित हो। इनका चित्त एक–दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित पोषित करता हूँ। आप लोगों के संकल्प और भाव–अभिप्राय एक समान रहें। आपके हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों, जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोग पूर्वक अच्छे प्रकार हो सके।'

हमारे प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय में, दर्शनों में और आधुनिक युग निर्माता महर्षि दयानन्द सरस्वती विरचित ग्रन्थों में मानव समाज को संगठित एवं सुखी बनाने के लिए अनेक उपाय बताये हैं। इन महापुरुषों के जीवन का एक ही उद्देश्य था – समाज का समग्र विकास।

टंकारा की पवित्र धरती पर बालक मूलशंकर के रूप में जन्म लेकर और स्वामी पूर्णानन्द से संन्यास की दीक्षा लेकर तथा ब्रह्मर्षि विरजानन्द की कुटिया में वैदिक ज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन का प्रत्येक क्षण और रक्त का प्रत्येक कण समाजहित में अर्पित करने वाले महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश नामक अमर ग्रन्थ की रचना कर वैदिक ज्ञान के प्रकाश में समाज के समग्र सुख का मार्ग दिखाया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था से ही भारत का प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त किया जा सकता है ।

## मानव समाज परम पुरूष का विराट शरीर

वेद की ऋचाओं में सम्पूर्ण मानव जगत् को ईश्वर का शरीर मानते हुए आलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है। जैसे मानव शरीर में मुख, हाथ, पैर, उदर आदि अंग एक दूसरे के बिना कार्य नहीं कर सकते, शरीर के किसी एक अंग में कोई कष्ट हो तो उसकी संवेदना अन्य अंगों को होती है, वैसी ही परस्पर संवेदनशीलता समाज कें सभी घटकों में होना चाहिए। वेद के प्रसिद्ध पुरूष सूक्त में इस स्वरूप को वर्णव्यवस्था के रूप में चित्रित करते हुए कहा है–

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।**

ऋग्: १०/९०/१२, यजु. ३१/११

अर्थात् ब्राह्मण इस मनुष्य समाज का मुख है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य जंघाएं हैं और पैरों के रूप में शूद्र है।

समाज का शरीर रूप में वर्णन करने के पीछे एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनुष्य–प्राणी के आंखें खोलते ही जो वस्तु सबसे पहले उसके सामने थी वह उसकी अपनी अथवा अपने माता–पिता की देह ही तो थी। सर्वप्रथम उसे इस देह के एक–एक अंग का परिचय कराया गया । फिर बड़ा होने पर उसके सामने ब्रह्माण्ड देह विद्यमान था, विराट् पुरूष था।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस विराट् पुरूष के माध्यम से सृष्टि के स्वरूप को समझाया गया । ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। योग्य गुरू की यही पहचान है कि वह शिष्य को ज्ञात से अज्ञात को बोध कराये, अतः परमगुरू ईश्वर ने भी ज्ञात पिण्ड–पुरूष के आश्रित अज्ञात समाज पुरूष का परिचय कराया । अथर्ववेद में जहां एक ओर विराट् पुरूष का वर्णन है, केन सूक्त में जहां पिण्डपुरूष के एड़ी से लेकर चोटी तक का वर्णन है वहां सभी संहिताओं में पुरूष सूक्त के माध्यम से समाज पुरूष का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन है।

प्राचीन काल में भारतीय समाज इस वर्ण व्यवस्था की सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ा था, अतएव सुखी, समृद्ध एवं वैभवशाली था।

## सुखी समाज का आधार आश्रम व्यवस्था

समाज के अभ्युत्थान के लिए हमारे प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने जहां वर्णव्यवस्था का सुन्दर मार्ग दिखाया वहां आश्रम व्यवस्था के परिपालन से मानव जीवन को सार्थक एवं धन्य बनाने का सदुपदेश दिया है। वेदों और मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई है।

सामान्य रूप से मानव की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। हम प्रतिदिन परमात्मा से **'जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम्, श्रृणुयाम शरदः शतम्'** की प्रार्थना करते हैं। सौ वर्ष की इस आयु को हमारे मनीषियों ने चार भागों में विभाजित किया है। २५–२५ वर्ष का प्रत्येक भाग एक–एक आश्रम है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को आनन्दमय बनाने का सबसे उत्तम उपाय इन चारों आश्रमों की मर्यादाओं का मनसा, वाचा, कर्मणा परिपालन करना है।

आज परिवारों में अथवा समाज में जितनी कटुता व्याप्त हो रही है, जो राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध की अग्नि मानव समाज को जला रही है, उस अग्नि को शान्त करने का सरलतम और सफलतम उपाय है– **आश्रम व्यवस्था** ।

चिन्तकों ने मानव जीवन के चार पुरूषार्थ प्रतिपादित किये हैं–धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। इन चार पुरूषार्थों की प्राप्ति आश्रम व्यवस्था से ही सम्भव है। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म की साधना, गृहस्थ में अर्थ और काम की प्राप्ति और वानप्रस्थ, संन्यास में मोक्ष की आराधना की जाती है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने अमर महाकाव्य रघुवंश के शुभारम्भ में रघुवंशीय राजाओं की महिमा सुनाते हुए इस सत्य को उद्घाटित किया है। कविकुलगुरू कालिदास गद्गद् कण्ठ से लिखते हैं–

**शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।**
**वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।**

रघुवंश , प्रथम सर्ग

अर्थात् जो रघुवंशीय राजा शैशव (ब्रह्मचर्य) काल में विविध विद्याओं का अध्ययन करते थे, यौवन(गृहस्थ) में सांसारिक विषयों का उपभोग करते थे, वार्धक्य (वानप्रस्थ) में मुनिवृत्ति धारण करते



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और योग से (संन्यास) अपने प्राणों का उत्सर्ग करते थे।

महाकवि कालिदास ने वैदिक वर्ण– आश्रम व्यवस्था का जो हृदयस्पर्शी स्वरूप कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत है। वे रघुवंश में राजा दिलीप को धर्म के, रघु को अर्थ के, अग्निवर्ण को काम के तथा श्रीराम को मोक्ष के प्रतिनिधि के रूप में वर्णित करते हैं।

भारतीय संस्कृति में यज्ञोपवीत को अत्यन्त पवित्र चिन्ह माना गया है। यज्ञोपवीत धारण पर मानव द्विज कहलाता है। यज्ञोपवीत से रहित व्यक्ति को शूद्र कहा गया है। इसके तीन सूत्रों में अनेक उपदेश ओतप्रोत हैं इन तीन सूत्रों को मुख्य रूप से तीन ऋणों को स्मरण कराने वाला माना जाता है। ये तीन ऋण हैं ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण। आश्रम व्यवस्था ही इन ऋणों से उऋण होने ा सुगम मार्ग दर्शाती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ऋषियों के पवित्र ज्ञान को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने से ऋषि ऋण, गृहस्थाश्रम में पूर्ण निष्ठा एवं श्रद्धापूर्वक माता, पिता की सेवा करने से और उत्तम सन्तति का निर्माण करने से पितृ ऋण और वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम में स्वयं देव बनकर उन्मुक्त हृदय से विद्या, स्नेह आदि बांटने से देव ऋण से मुक्त हुआ जाता है। आश्रम शब्द में 'आ' का अर्थ है सब ओर से और श्रम का अर्थ है परिश्रम, मेहनत। चारों आश्रमों में कोई भी आश्रम ऐसा नहीं है जिसमें प्रमादग्रस्त होकर बैठा जाये, अपितु प्रत्येक आश्रम कठोर परिश्रम की शिक्षा देता है।

भारतीय चिन्तन धारा में कर्म करने वाले व्यक्ति को आर्य अथवा श्रेष्ठ माना गया है। आर्य शब्द 'ऋ गतौ' धातु से निष्पन्न होता हैं निरन्तर गति अर्थात् परिश्रम करने वाला आर्य है और 'अकर्मा दस्युः' कर्म न करने वाला दस्यु है। हम दस्यु न बनकर सच्चे आर्य बनें इस दृष्टि से भी कर्म का सन्देश देने वाली आश्रम व्यवस्था अभिनन्दनीय है।

**वैदिक आश्रम व्यवस्था**

**(क) ब्रह्मचर्य आश्रम**–व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में नव–स्फूर्ति का संचार करने वाला आश्रम है ब्रह्मचर्य। यह आश्रम, गृहस्थ आश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है। संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूर्ण रूप से उपभोग किया जा सके , इसीलिए ब्रह्मचर्य अवस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखकर पहले उसे उपभोग के लिए समर्थ बनाया जाता है। ब्रह्मचर्य की तपोमय साधना के बिना हमारा आज का जीवन एक लालसा का जीवन है, एक प्यास का जीवन है, एक भूख का जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास, ऐसी भूख कभी तृप्त नहीं होती , कभी शान्त नहीं होती ।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में पन्द्रह बार 'तप' शब्द का दोहराया गया है। इस सूक्त में कहा गया है–

**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।**
**आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।**

अथर्व. ११/५/१७

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ही प्रशंसनीय समझते हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य से तात्पर्य केवल अविवाहित रहने से नहीं, अपितु आत्म–संयम से है। इन्द्रिय–जय के बिना राजा अपनी प्रजा या राष्ट्र को भली–भांति धारण नहीं कर सकता । जो स्वयं को वश में नहीं रख सकता , उससे यह आशा भी कैसे की जा सकती है कि वह अन्यों को वश में रख सकेगा। मनु ने ठीक ही कहा है–'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारयितुं प्रजा:'(७/४४)। इसी प्रकार जो आचार्य संयमी नहीं वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता ।

ब्रह्मचर्य आश्रम का शिक्षा प्रणाली के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा समाज और राष्ट्र की उन्नति का मूलाधार है। उत्तम शिक्षा के बिना श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो ही नहीं सकता। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय, तृतीय समुल्लास में शिक्षा पद्धति की विशद् विवेचना की है। महर्षि लिखते हैं– 'इसलिए आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़को की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरूष वा स्त्री दुष्टाचारी हो उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।'

समता मूलक समाज की स्थापना का प्रथम सोपान ब्रह्मचर्य आश्रम और गुरूकुलीय शिक्षा पद्धति है। आज जब हमारा सम्पूर्ण समाज ऊँच, नीच, अगड़ा, पिछड़ा, सवर्ण, असवर्ण आदि नाना रूपों में विभक्त होकर खण्ड–खण्ड हो रहा है, ऐसे में महर्षि के ये वचन मनन करने योग्य हैं–

'सब को तुल्य वस्त्र, खान–पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहें दरिद्र के सन्तान हो सबको तपस्वी होना चाहिए....'

सबके लिए शिक्षा की अनिवार्यता बताते हुए ऋषिवर कहते है–'इसमें राज नियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवे तथा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो....'

ब्रह्मचर्य आश्रम से ही समता का भाव मानवीय जीवन में कूट–कूट कर भर जाता था। चरित्र की कठोर साधना से राजा अश्वपति की घोषणा सार्थक हो जाती थी। महाराजा अश्वपति ने अपने समाज के विषय में कहा था–

**न मे जनपदे स्तेनो न कदर्यो न मद्यप:।**
**नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुत:।।**

जिस समाज में कोई चोर न हो, कोई कृपण और मद्यपी न हो, कोई अयज्ञिय और मूर्ख न हो, कोई स्वेच्छाचारी न हो वह कितना उन्नत होगा? ऐसे समाज की परिकल्पना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही चरितार्थ हो सकती है । विद्यार्थी जीवन तैयारी और निर्माण का काल है। इसलिए इस काल में व्यक्ति को पूर्ण संयम का पालपन करना ही चाहिए ताकि उसमें शरीर, मन और आत्मा का समुचित विकास हो सके। विद्यार्थी काल जीवन प्रासाद की नींव है। वह जितनी पक्की होगी , जीवन भी उतना ही स्थायी होगा ।

**(ख) गृहस्थ आश्रम**– ब्रह्मचर्य आश्रम के अनन्तर प्रजा के प्रत्येक नर–नारी को सामान्यत:



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना होता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार गृहस्थ में प्रवेश स्वच्छन्द होकर विषयोपभोग के लिए नहीं अपितु राष्ट्र के लिए उत्तम सन्तान उत्पन्न करना प्रजा के स्त्री पुरूष का धर्म है। जिस समाज से राष्ट्र के नर–नारी हर प्रकार का लाभ प्राप्त करते हैं वह समाज अविच्छिन्न रूप से चलता रहे, उसमें उत्तरोत्तर योग्य और कुशल व्यक्तियों की वृद्धि होती रहे, इस बात का ध्यान रखना प्रत्येक नर–नारी का कर्त्तव्य है। इसलिए विवाह करके राष्ट्र को उत्तम सन्तानें बनाकर देना वैदिक धर्म में हर एक स्त्री पुरूष का आवश्यक कर्त्तव्य कहा गया है। इसमें अपवाद स्वरूप वे ही नर–नारी हो सकते हैं, जो किन्हीं रोगादि के कारण सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हैं अथवा जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर राष्ट्र–सेवा में निरत रहना चाहते हैं। अन्य व्यक्तियों को ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ में जाना ही होगा । गृहस्थ आश्रम का महत्त्व बताते हुए महर्षि मनु कहते हैं कि जिस प्रकार सब नदी और नद समुद्र में ही स्थिर होते हैं–आश्रित होते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर सब आश्रम आश्रित होते हैं–

**यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।**
**तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।**

मनु. ६/९०

वैदिक गृहस्थ जीवन का आदर्श है कि मनुष्य विषयों को भोगकर उनसे ऊपर उठ जाये। नाना प्रकार के व्रिषय उसे अपने जाल में न फंसा लें। मनुष्य को संसार के विषयों के बीच में से होकर गुजरना तो है, उनमें फंसना नहीं है वहां अपने को खो नहीं देना है। संसार के विषयों में भटकते–भटकते आज के व्यक्ति के मन में उन विषयों को भोगने की लालसा, प्यास और वासना तो वैसी ही बनी रहती है, किन्तु उन भोगों को भोगने की शारीरिक शक्ति नहीं रहती। वास्तव में वैदिक गृहस्थ आश्रम भोग का आश्रम होते हुए भी मात्र वासनाओं का आश्रम नहीं है। अपितु वेद का सन्देश है कि –'हे गृहस्थाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्यों ! तुम स्वयंवर करके गृहस्थाश्रम को प्राप्त होओ और उससे डरो या कांपो नहीं बल्कि उससे बल, पराक्रम करने वाले पदार्थो को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहाश्रमी पुरूषों से कह दो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहस्थ व्यवहार करूँ।'

**गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।**
**ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।।**

यजु. ३/४१

ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्ति के मुख से वेद में कहलाया गया है कि मैं बल धारण करता हुआ, ऐश्वर्य का सेवन कराने वाला, अच्छी बुद्धिवाला, सौम्य, मित्रदृष्टि से सम्पन्न होता हुआ, उत्तम मन से वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ घरों में आता हूँ– गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हूँ। तुम सब खुशी मनाओं। मुझ से न डरो।

**ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।**
**गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्।।**

अथर्व. ७/६०/१


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद में घर को सुख देने वाला कहा गया है– इमं गृहा मयोभुवः। किन्तु इसके साथ एक शर्त भी लगी है। जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र–दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता–इन सबको धारण करते हुए ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करे तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग है अन्यथा उसके नरक धाम होने में तनिक सन्देह नहीं।

भगवान् मनु ने गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का कारण बताया है अन्य तीनों आश्रमों का गृहस्थ पर अवलम्बित होना। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमों का आधार गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रम जितना अच्छा होगा, समाज उतना ही सुखी होगा। विवाह संस्कार के समय पति–पत्नी जो प्रतिज्ञायें करते हैं, नव दम्पति को विवाह की वेदी पर जो उपदेश दिये जाते हैं, उन सबमें उत्तम गृहस्थ की झांकी प्रकट होती है। वैदिक समाज विज्ञान की प्रारम्भिक इकाई गृहस्थ व परिवार है, जो व्यक्ति और समाज के मध्य कड़ी का काम करता है। वेद में परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट और सुन्दर निर्देश हैं। वेद का आदेश है कि हे परिवार के सदस्यों! 'मैं तुमको समान हृदय वाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीतियुक्त मनवाला हो। पत्नी अपने पति के साथ मधुर भाषण करने वाली हो। भाई भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करें। भाई बहिन भी परस्पर में द्वेष न करें। वे सब मंगलकारक रीति से एक दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक सम्भाषण करें।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पतो मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत रचसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

अथर्व. ३/३०/१/३

वेद और महर्षि दयानन्द का आदर्श समाज वह है, जिसमें सब परस्पर प्रीति से रहते हों। ऐसे व्यक्तियों का समाज जो सशक्त हैं, बलिष्ठ हैं, जिनका लोहा सम्पूर्ण संसार मानें, किन्तु उनका बल सज्जनों को कष्ट देने के लिए नहीं अपितु सुख प्रदान करने वाला हो।

गृहस्थाश्रम के विषय में महर्षि दयानन्द के ये वचन सदैव स्मरणीय हैं–'इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहस्थाश्रम की निन्दा करता वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहस्थाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरूष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरूषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों।' (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**वानप्रस्थाश्रम**

पञ्चम समुल्लास के प्रारम्भ में शतपथ ब्राह्मण का चवन उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।।** शत.कां. १४

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें

महर्षि मनु के विचारों का उल्लेख करते हुए सत्यार्थप्रकाश में ऋषिवर लिखते हैं—

**एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातकों द्विजः।**
**वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः।।**
**गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।**
**अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।**
**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।**
**दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।।**
**अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।**
**शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः।।**

अर्थात् स्नातक विधिवत गृहस्थाश्रम में रहकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों पर व्रिजय प्राप्त कर वन में निवास करे। गृहस्थ जब यह देख ले कि शिर के केश श्वेत हो गये हैं और त्वचा शिथिल हो गयी है तथा पुत्र का पुत्र हो गया है तब वन का आश्रय ले। वन्य जीवन धारण करके सदैव स्वाध्याय में संलग्न रहे, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का नित्य दमनशील, विधादि का दान देने हारा और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे। शरीर के सुख के लिय अति प्रयत्न न करे और भूमि पर शयन करे अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे और वृक्ष के मूल में निवास करें।

वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य आश्रम के समान ही गृहस्थ आश्रम भी जीवन यात्रा का एक पडाव या मंजिल की तरह था और समय आने पर गृहस्थी व्यक्ति गृहस्थ को छोड़कर आगे चल देता था। वानप्रस्थ केवल वन में भाग जाने का नाम नहीं है। अपितु निवृत्ति , त्याग और अपरिग्रह का नाम वानप्रस्थ है। विवश होकर संसार का त्याग करना वानप्रस्थ नहीं है अपितु स्वेच्छा से प्रसन्नता पूर्वक संसार को छोडना वानप्रस्थ है। यदि यह वानप्रस्थ आश्रम ठीक प्रकार से प्रतिष्ठित हो जाये और हमारा भारतीय समाज इसे हृदय से स्वीकार कर ले तो समाज में भयावह रूप में व्याप्त अनेक समस्याओं का समाधान सहज रूप में हो सकता है।

गृहस्थ आश्रम में रहते हुए मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की दुर्बलताओं का प्रवेश हो जाना स्वाभाविक ही है। सांसारिक भोगों को भोगते हुए शरीर में दुर्बलता आ जाती है मन भी दुर्बल हो जाता है। पत्नी, पुत्र, पुत्री, बहिने, भाई आदि कुछ ऐसे रक्त के सम्बन्ध हैं कि इनके प्रति सहज रूप से मोह हो ही जाता है। विषयों का ध्यान करते हुए उनके प्रति आसक्ति होती ही है।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूप जायते।
संगात् संजायते कामः कामाद्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः, संमोहात् स्मृति विभ्रमः,
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।

विषयों का चिन्तन करते रहने से उनके प्रति आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम और काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह होता है और मोह से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट होने से वृद्धि का विनाश और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पूर्ण विनाश हो जाता है। इस महान् विनाश से रक्षा करने वाला यह वानप्रस्थ आश्रम है। गृहस्थ जीवन में विद्यमान आसक्ति और द्वेष आदि को त्यागकर सबके प्रति समभाव धारण कर 'समः शत्रौ च मित्रे च' न कोई शत्रु और न कोई मित्र, सब अपने हैं, सबका हित चिन्तन करना ही हमारा धर्म है, इस प्रकार के उत्तम भाव का जगाना ही मुनिवृत्ति है।

वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम 'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखम् अस्ति, वसुधैव कुटुम्बकम्, यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्' के उपदेश को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। गृहस्थ में जो एक छोटा सा परिवार था वानप्रस्थ उसे विशाल स्वरूप प्रदान करता है।

गृहस्थरूपी रथ चलाने के लिए अर्थ की बहुत आवश्यकता रहती है। सभी नीतिकारों ने गृहस्थ जीवन में धन की महत्ता को स्वीकार करते हुए निर्धनता को महापाप की श्रेणी में रखा है। रोटी, कपड़ा, मकान, यज्ञ, दान, अतिथि सेवा सभी कुछ तो अर्थ पर आश्रित हैं। धन प्राप्ति के लिए मानव प्रायः सुमार्ग से भटक जाता है। धन की यह इच्छा जितनी प्रबल होती जाती है व्यक्ति और समाज धर्म से उतना दूर चला जाता है, धन को ही सर्वस्व समझ लेता है। धन के लिए भाई, भाई के रक्त का प्यासा हो जाता है। पुत्र पिता के प्राण ले लेता है, इसलिए हमारे ऋषियों ने गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ का मार्ग दिखाया।

कोई आपसे छीनने लगे उससे पहिले 'कस्य स्विद् धनम्' यह धन किसका है? किसी का नहीं। कः अर्थात् उस सुख स्वरूप प्रजापति का है, उस की वस्तु उसी को अर्पण कर कल्याण मार्ग का पथिक बनना। जब तक पुत्र, कलत्र, धन, घर आदि के प्रति आसक्ति रहेगी, व्यक्ति की परोपकार में विशेष प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति स्वाध्याय और तपस्या के द्वारा जहां अपनी दुर्बलताओं को दूर करता है वहां समाज का बहुत उपकार कर सकता है। आज जो शिक्षा की बहुत बड़ी समस्या हमारे समक्ष खड़ी है, उसका एक दिन में समाधान हो सकता है। यदि गृहस्थीजन महर्षि मनु एवं महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित आयु में वानप्रस्थ की दीक्षा ले लें। शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व इन मुनियों को सौंप दिया जाये। इनका जीवन भर का अनुभव, शिष्यों के प्रति सन्तान जैसा प्रेम, संसार का भोग कर लेने के कारण भोगों से विरक्ति, वेतन की इच्छा न रखते हुए परोपकार की भावना से विद्या का दान। शिष्य भी इन मुनियों को पूजा की दृष्टि से देखेंगे, कितना सुन्दर होगा विद्या केन्द्रों का


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
स्वरूप? एक ओर शिक्षा में वेतन के नाम पर व्यय होने वाला अरबों, खरबों रूपया बचेगा, दूसरी ओर गुरूओं और शिष्यों के आचार सम्पन्न और प्रेम परिपूर्ण व्यवहार से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के साक्षात् दर्शन होंगे।

ये वानप्रस्थ जहां स्वाध्याय, साधना से अपना जीवन बनायेंगे, विद्या–केन्द्रों में ज्ञान के दीप जलायेंगे वहां स्थान–स्थान पर घूम–घूमकर भूली–भटकी मानव जाति को मानवता का पाठ भी पढ़ायेंगे। इन तपस्वियों द्वारा समाज और राष्ट्र का निर्माण अवश्य होगा। ये अपने अनुभवों से परिवारों को टूटने से और राष्ट्र को खण्डित होने से अवश्य बचा लेंगे।

## संन्यासाश्रम

इसे चतुर्थाश्रम अथवा तुर्याश्रम कहा जाता है। यह मोक्ष का सोपान है। अन्तिम पुरूषार्थ परमानन्द की प्राप्ति का अमोघ साधन है। वानप्रस्थ आश्रम में स्वाध्याय, साधना, उपासना आदि के द्वारा समस्त दुर्बलताओं को दूर कर पूर्ण वेराग्य होने पर संन्यास की दीक्ष ली जाती है। तीन प्रकार की एषणायें – लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा मनुष्य को सांसारिक कार्यों में फंसाती है। वैराग्य होने पर ये तीनों एषणायें छूट जाती हैं। इनके छूटते ही मानव परमहंस बन जाता है। उसे सर्वत्र आत्मदर्शन होने लगते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा उपदिष्ट–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' का प्रत्यक्ष दर्शन इस अवस्था में हो जाता है। वैदिक संहिताओं में, उपनिषदों में, मनुस्मृरूत्यादि में ओर महर्षि दयानन्द विरचित सत्यार्थ प्रकाश एवं संस्कार विधि में संन्यास धर्म की विशद् व्याख्या की गयी है।

यह आवश्यक नहीं कि वानप्रस्थ के पश्चात् वृद्धावस्था में ही संन्यास ग्रहण किया जाये। संन्यास का सम्बन्ध वैराग्य से है, यह किसी भी अवस्था में हो सकता है। इसलिए कहा गया है–'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्राव्रजेत्' जिस दिन वैराग्य हो जाये उसी दिन प्रव्रज्या धारण कर लें। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि वैराग्य का आवेश मात्र नहीं होना चाहिए अपितु वैराग्य स्थिर होना चाहिए। इस देश के इतिहास में ऐसे अनेक नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, जिन्होंने सीधे ब्रह्मचर्य से युवावस्था में संन्यास ग्रहण कर संसार को चमत्कृत कर दिया। अकेले संसार का इतना भला किया कि करोड़ों व्यक्ति मिलकर भी नहीं कर सकते। ऐसे अमर संन्यासियों में जगद्गुरू शंकाराचार्य, देशोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द का उपकार कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। माता–पिता, घर–परिवार, धन–वैभव सबको त्यागकर समाज सेवा का महान् व्रत धारण करने वाले ये युग पुरूष वन्दनीय हैं, स्मरणीय हैं। किसी प्रकार का लोभ, मोह, द्वेषभाव न होने के कारण संन्यासीगण सदैव 'सर्वभूतहितेरताः' के आदर्श को चरितार्थ करने में लगे रहते हैं। उनके लिए संसार में कोई शत्रु नहीं, कोई पराया नहीं प्राणिमात्र में आत्मदर्शन, साधना की पराकाष्ठा है। धन्य हैं ऋषिवर, जिन्होंने विषदाता को अमृत पिलाया। मृत्यु देने वाले को जीवन दिया।

महर्षि मनु ने षष्ठ अध्याय में संन्यास धर्म का विस्तृत वर्णन किया है। मनु को उद्धृत करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं–

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्।।

मनु. ९/१


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर उधर न देखकर, नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पिये, निरन्तर सत्य ही बोले, सर्वदा मन से विचार कर सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे।

संन्यासी के लिए करणीय कर्त्तव्यों का १६ श्लोकों में विधान करके अन्त में मनु कहते हैं–

**अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनै शनैः।**
**सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते।।**

मनु. ९/१६

इस प्रकार धीरे–धीरे सब सङ्गदोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वो से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता हैं संन्यास धर्म की आवश्यकता निरूपित करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं–'जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रम नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रम को नहीं मिल सकता।'

ऋषि के इन वचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि समाज का उपकार अथवा सुख संन्यासियों द्वारा बहुत अच्छे प्रकार से हो सकता है। संन्यासी संसार भर का उपदेष्टा और गुरू होने का भार अपने कन्धों पर उठा लेता है। इसीलिए, संन्यासी को वैदिक शास्त्रों में जगद्गुरू कहा जाता है। शास्त्रों में संन्यासी को परिव्राट् अर्थात सर्वत्र विचरण करने वाला और दिशा–पति (दिशाओं का स्वामी) कहा गया है।

इस प्रकार बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति अपनी सेवा करता है, गृहस्थ जीवन में व्यक्ति अपनी सुख सुविधा, ऐश्वर्य का, भोग का त्याग करता है ताकि सन्तान को सुख मिल सके। गृहस्थ में सेवा का पाठ पढ़कर जब स्त्री–पुरूष वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं, तब समाज सेवा का भाव और अधिक उग्र हो जाता है। कुछ देर बाद उसे इस परिमित क्षेत्र को त्यागकर और अधिक विस्तृत क्षेत्र में आना होता था और अपने देश की ही नहीं, अपनी जाति की ही नहीं, अपितु संसार की सेवा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता था।

प्राचीन काल में हमारे देश आर्यावर्त्त में यह वर्ण–आश्रम व्यवस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी, तब सर्वत्र सुख–शान्ति थी और यह देश विश्वगुरू कहलाता था। यदि हम पुनरपि अपने देश का सर्वतोमुखी विकास एवं सुख सौभाग्य की कामना करते हैं तो महर्षि दयानन्दानुमोदित इस व्यवस्था का प्रचार–प्रसार करना ही होगा।

**कु. प्रज्ञा अग्रवाल**
**एम.एस.सी. (रसायन विज्ञान)**
**शोध छात्रा**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# प्राचीन भारत में सिक्कों का उद्भव एवं प्राचीनता

मानव सभ्यता का विकास एक लम्बे समय का परिणाम है। प्रारम्भ में मनुष्यों का जीवन अत्यन्त सरल था। उनकी आवश्यकताएं भी कम थी और साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति तथा परिवार अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं स्वयं उत्पन्न या निर्मित कर लेता था। परन्तु धीरे–धीरे परिवारों ने समूहों का रूप धारण करना शुरू किया। जब एक स्थान पर रहने वाले समूहों के लोग दूसरें स्थान पर रहने वाले समूहों के लोगों के सम्पर्क में आये तो मानव जीवन को एक नया आयाम प्राप्त हुआ। समूहों के लोगों के बीच परस्परिक सम्पर्क बढ़ने से लोगों को एक–दूसरे के क्षेत्र में पैदा होने वाली वस्तुओं की जानकारी हुई। जिसके कारण लोगों में एक–दूसरे की वस्तुओं को प्राप्त करने की लालसा उत्पन्न हुई। इस प्रकार लोगों के बीच में वस्तुओं के परस्पर आदान–प्रदान की भावना का उदय हुआ।

धीरे–धीरे वस्तुओं का यह आदान–प्रदान जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया और कालान्तर में इसी आदान–प्रदान ने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया । इस प्रकार जीवन की अवश्यकताओं की पूर्ति आदान–प्रदान के आधार पर होती थी और यही क्रय–विक्रय का आदितम् रूप थी। इसकी उपयोगिता इसी बात से समझी जा सकती है कि आज भी हमारे समाज, विशेषतया गांवों में वस्तु–विनिमय चलता है।

भारत की प्राचीनतम् सभ्यता सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों में सिक्कों का अभाव यह दर्शाता है कि व्यापार का मुख्य आधार वस्तु–विनिमय रहा होगा। पुरातत्वविदों की धारणा है कि विशाल अन्नागारों के जो अवशेष मोहनजोदड़ों और हड़प्पा से मिले है, उनमें सम्भवत: राजस्व के रूप में प्राप्त अनाज संग्रह करके रखा जाता रहा होगा और तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. में यही अनाज विनिमय का माध्यम रहा होगा।[1]

ऋग्वैदिक काल में वस्तुओं का क्रय–विक्रय बहुधा वस्तु विनिमय द्वारा ही होता था। परन्तु जैसे–जैसे लोगों का जीवन जटिल होता गया और उनकी आवश्यकताएं बढ़ती गई, वैसे–वैसे वस्तु–विनिमय अनुपयुक्त सिद्ध होता गया। अत: अब ऐसे किसी निश्चित माध्यम की आवश्यकता हुई, जिसके द्वारा क्रय–विक्रय अधिक सुगमता से किया जा सके। पशुपालन का प्रधान व्यवसाय समझने वाले आर्यो के लिए गाय एक मूल्यवान पशु थी, अत: उन्होंने गाय को सर्वप्रथम विनिमय के रूप में प्रयुक्त किया। यहीं कारण है कि ऋग्वेद मे हम कई स्थलों पर गाय को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त पाते है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र की एक प्रतिमा का मूल्य १० गाय बताया गया है।[2] इस ऋचा में ऋषि वामदेव पूछते है कि वह कौन है जो मेरें इन्द्र को (इन्द्र की प्रतिमा) दस गायों में


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खरीद सकता है।[5] वहीं दूसरी ऋचा से ज्ञात होता है कि एक ऋषि अपनी इन्द्र प्रतिमा को १००, १००० तथा १०,००० गायों के मूल्य पर भी देने का तैयार नहीं था।[6] इस काल में सोम--लता की बहुत मांग थी। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि गाय के बदले में सोमलता खरीदी जा सकती थी।[7] राजकर के रूप में तो पशु और अन्न दोनों ही दिए जा सकते थे।

लेकिन व्यापारिक और व्यावसायिक वृद्धि के साथ ही मुद्रा के रूप में गाय का प्रयोग दुष्कर प्रतीत होने लगा। छोटी वस्तुओं के क्रय में तो उनका उपयोग ही नहीं किया जा सकता था, क्योंकि बिना मारे और मांस के रूप में परिवर्तित किए बिना उनका उपयोग नहीं किया जा सकता था और ऐसा करने पर उनका समूचा मूल्य ही समाप्त हो सकता था। इस प्रकार सभी प्रकार के लेन--देन में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता था और न ही उनसें स्थायी धन संचय का उद्देश्य ही पूरा हो पाता था। इसीलिए किसी ऐसे निश्चित माध्यम की आवश्यकता प्रतीत हुई जो गाय की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो । इस सन्दर्भ में **डा. अलतेकर** का कथन है कि इस कठिनाई के निवारण हेतु धातुओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। भारतवर्ष में चांदी बहुत कम मिलती थी, परन्तु यहां सोने की प्रचुरता थी। अत: आर्यों ने धातुओं में सर्वप्रथम सोने को अपना माध्यम बनाया।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'निष्क' का उल्लेख मिलता है। निष्क कदाचित हार की तरह का कोई आभूषण था। लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार निष्क का प्रयोग आभूषण एवं मुद्रा दोनो रूपों में होता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'निष्कग्रीव' का उल्लेख मिलता है।[8] वहीं दूसरे स्थान पर कहा गया है कि उषा देवी उन व्यक्तियों के दु:स्वप्नों को दूर कर देती है जो निष्क पहनते है।[9] तीसरे स्थान पर रूद्र को विश्वरूप निष्क धारण किए हुए बताया गया है।[10] सायण ने निष्क का अर्थ बताते हुए लिखा है कि **'निष्कसुवर्णेन अलंकृता ग्रीवा'**। इससे स्पष्ट होता है कि निष्क हंसली अथवा हार की भांति गले में पहना जाने वाला एक कलात्मक आभूषण रहा होगा ।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क का अर्थ एक मात्र आभूषण नहीं था। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ब्राह्मण को राजा से १०० निष्क प्राप्त होते है।[11] यहां पर सौ निष्क का अर्थ सौ आभूषण नहीं हो सकता। इस पर मैकडॉनल और कीथ का विचार है कि ऋग्वेद में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते है जिनसे स्पष्ट होता है कि निष्क एक प्रकार की मुद्रा के रूप में भी प्रयुक्त होता था। एक गायक राजा से सौ घोडों और सौ निष्कों का दान ग्रहण करता है। एक मात्र व्यक्तिगत अलंकरण के लिए वह इतने निष्क ग्रहण नहीं कर सकता था।[12]

ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क प्रारम्भ में एक आभूषण था जो सम्भवत: अधिक आकृतियों वाला था, परन्तु कालान्तर में उसका प्रयोग मुद्रा के रूप में भी होने लगा था। बार्कर महोदय 'थ्योरी ऑफ मनी' नामक पुस्तक में लिखते है कि यह प्राय: निश्चित है कि बहुमूल्य धातुएं ही मुद्रा के रूप में प्रयुक्त हुई है, केवल इसलिए कि वे पहले आभूषणों के रूप में प्रयुक्त हो चुकी थी और यह सिद्धान्त निष्क के विषय में भी पूर्णत: चरितार्थ होता है। पर डा. भण्डारकर का मत है कि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्क प्रथमत: मुद्रा ही थे ओर हार या माला बनाने के लिए सुवर्ण के सिक्कों को प्रयुक्त किया जाता था। जैसा कि वर्तमान समय में भी भारत के देहाती क्षेत्रों में प्रथा है। ऐसे हार अब भी बनाये जाते है, जिनमें चांदी के रूपये या अठन्नियां प्रयुक्त की गई होती है। उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी लोग निष्क को हार के रूप में पिरो कर पहनते थे। इन सिक्कों की तुलना मिश्र और सीरिया में प्रचलित सोने और चांदी के छल्लों से भी की जाती है, किन्तु आधुनिक सन्दर्भ में हम इन्हें मुद्रा नहीं कह सकते , क्योंकि ऋग्वेद में कहीं पर भी इसका उल्लेख नहीं मिलता कि निष्क पर कोई राजकीय चिन्ह या लेख अंकित होता था जिससे उसके मूल्य और निर्धारित तौल की प्रामाणिकता सिद्ध हो सके। अत: यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मात्र माध्यम तो वस्तु विनिमय ही था और निष्क एक बहुमूल्य मुद्रा होने के कारण विनिमय में अधिक प्रयुक्त नही किया जाता था। जन–साधारण के विनिमय के लिए किसी भी ताम्र या रजत् मुद्रा का उल्लेख नहीं मिलता हैं।

उत्तरवैदिक काल में भी साधारणतया: व्यापार प्रपण (Barter of Exchange) के द्वारा ही होता था।[११] अथर्ववेद[१२] के अनुसार देश के व्यापारी अपनी सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया–आया करते थे, कभी वे अपनी वस्तुएं बेचा करते थे और कभी उनका विनिमय करते थे। गाय इस समय भी व्यापार का एक महत्वपूर्ण माध्यम थी।[१३]

ऋग्वैदिक काल की भांति इस काल में भी हम निष्क का प्रयोग पाते है। अथर्ववेद में एक स्थान पर सौ सुवर्ण निष्क के दान का उल्लेख मिलता है।[१४] यहां कदाचित निष्क का उल्लेख निश्चित तौल के धातु खण्ड अथवा मुद्रा से है, क्योंकि यदि यहां निष्क का अर्थ आभूषण लिया जाये तो सौ निष्कों का दान कुछ असंगत प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण[१५] में एक वाद–विवाद में उद्दालक आरूणि के ऊपर स्वैदायन शौनक की विजय का उल्लेख मिलता है। विजय के उपलक्ष्य में उसे एक सुवर्ण निष्क मिलता है, जो स्पष्टत: मुद्रा का सूचक हैं परन्तु कहीं–कहीं पर निष्क का उल्लेख यर्थाथत: आभूषण के रूप में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण एक मनुष्य को 'निष्क कण्ठ' कहता है।[१६] यहां निष्क का अर्थ गले का आभूषण है। पंचविश ब्राह्मण में भी निष्क का उल्लेख आभूषण के रूप में हुआ हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल की भांति इस काल में भी निष्क का प्रयोग आभूषण और निश्चित तौल के धातुखण्ड दोनों रूपों में होता था।

उत्तरवैदिक साहित्य में 'शतमान' का उल्लेख मिलता हैं। सम्भवत: यह सौ रत्ती तौल के बराबर होता था। एक स्थल पर शतमान के वृत्ताकार होने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि परवर्ती सुवर्ण मुद्राओं के समान शतमान भी आकार में गोल होता था। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि इसकी दक्षिणा तीन शतमान है।[१७] इसी ग्रन्थ में राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में राजा के रथ के पिछले पहिए में दो वृत्त (गोल) शतमान बांधने का उल्लेख है।[१८] कालान्तर में वे शतमान ब्राह्मण पुरोहितों को दक्षिणा में दे दिये गये। पुन: शतपथ ब्राह्मण में ही दो स्थानों पर शतमान का उल्लेख सुवर्ण के साथ मिलता हैं।[१९] इस पर डा. भण्डारकर का मत है कि शतमान मुद्रा


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे और क्रय–विक्रय का माध्यम थे।

इस काल के साहित्य में एक अन्य धातु खण्ड 'कृष्णल' का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ के अवसर पर रथ–दौड में भाग लेने वालों को एक–एक कृष्णल पुरस्कार के रूप में दिये जाने का उल्लेख मिलता है। काठक संहिता 'हिरण्य कृष्णल' का उल्लेख करती है।[२०] इससे प्रकट होता है कि कृष्णल सोने का होता था। भण्डारकार के अनुसार यह एक मुद्रा थी परन्तु इसे गुंजा की तौल का धातुखण्ड कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद का कथन है कि राजा जनक ने एक हजार गायों को एकत्र करके प्रत्येक गाय के सींग में १० पाद बंधवा दिये और यह घोषणा की कि जो व्यक्ति सबसे अधिक विद्वान होगा उसे वे सपाद गाय दे दी जायेगी। रौथ तथा कीथ आदि विद्वानों का मत है कि पाद किसी तौल का चतुर्थांश था, परन्तु डा. भण्डारकर ने इसे भी एक मुद्रा माना हैं।

लेकिन उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि इन सबका प्रयोग दान आदि के सन्दर्भ में हुआ है न कि वस्तुओं के क्रय–विक्रय के सन्दर्भ में। दूसरा इनका प्रचलन किस संस्था विशेष द्वारा होता था और इनके मूल्य की क्या गांरटी थी, यह भी स्पष्टत: नहीं कहा जा सकता। तीसरा इनमें से किसी पर भी राजांक, अधिकार चिन्ह तथा लेख का अंकन सिद्ध नहीं होता। इसलिए इन्हें सिक्के न मानकर निश्चित माप–तौल का धातु खण्ड मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

भारत में सिक्कों के प्रचलन का स्पष्ट उल्लेख हमे सर्वप्रथम पाणिनि अष्टाध्यायी में मिलता है जिसका समय छठी और पांचवी शताब्दी ई.पू. के मध्य माना गया हैं। इसमें निष्क का उल्लेख स्पष्टत: मुद्रा के बोधक के रूप में हुआ हैं। उसमें एक,दो या तीन निष्कों से क्रीत वस्तु के लिए नैष्किकम्, द्विनैष्किकम् और त्रिनैष्किकम् शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार व्यक्ति की सम्पत्ति की अभिव्यक्ति के लिए उसमें नैष्क–शतिक और नैष्क–साहस्रिक शब्द मिलते है। इनके अतिरिक्त पाद, विशंतिक, त्रिशतिक,शाण और कार्षापण आदि का उल्लेख भी मूल्य–बोधक शब्दों के रूप में हुआ है।

इस प्रकार इन उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाणिनि के समय तक भारत में सिक्कों का प्रयोग सुचारू रूप से होने लगा था। चूंकि ब्राह्मणों और उपनिषदों में सिक्कों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अत: यह कहना उचित प्रतीत होता है कि सिक्कों का विकास इन ग्रन्थों की रचनाकाल के पश्चात् ही किसी समय हुआ होगा बहुत बाद में नहीं। इस आधार पर देश में सिक्कों के प्रचलन का समय ई.पू. छठी तथा पांचवी शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

**डा. देवेन्द्र कुमार गुप्ता**
**प्राचीन भारतीय इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग**
**गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## सन्दर्भ संकेत


१. पी. एल. गुप्त, प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ. २

२. ऋग्वेद, ४/२५/१०

३. वही, ४/२४/१०, 'क इयं दशभिर्ममेन्दं क्रीणाति धनुभिः'

४. वही, ८/१/५

५. वही, ८/३२/२०

६. वही, ५/१९/३, 'निष्कग्रीवो बृहदुकथ एना मध्वा न वाजयु'

७. वही, ८/४७/१५,

८. वही, २/३३/१०,

९. वही, १/१२६/२,

१०. मैकडॉनल एवं कीथ, वैदिक इण्डैक्स, पृ. १, ४५५

११. अथर्ववेद, ३/१५/४,

१२. वही,

१३. ऐतरेय ब्राह्मण, ५/२९/९, ३३/६, ३९/८

१४. अथर्ववेद, २०/१३१/८

१५. शतपथ ब्राह्मण, ११/४/१/१

१६. ऐतरेय ब्राह्मण, ८/२२

१७. शतपथ ब्राह्मण, ५/५/५/१६

१८. वही, ५/४/३/२४–२६

१९. वही, १२/७/२/१३, १३/२/३/२

२०. काठक संहिता, ११/४




CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ओम् शब्द की व्यापकता

भारत की आध्यामिक परम्परा में ओम् शब्द की व्यापकता अनेक प्रसंगों एवं विविधताओं के संदर्भ में हुई हैं प्राचीन भारतीय आर्यों के वैदिक मंत्रों का उच्चारण इस पवित्र शब्द द्वारा ही होता था। वेदमंत्रों का आरंभ और अंत इसी शब्द द्वारा होता है। अध्यात्म परमपरा में यह शब्द व्यापक परमसत्ता का प्रतीक है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण में ओम् शब्द की ध्वनि स्वाभाविक रूप से समाविष्ट है। प्रकृति के अन्य पहलुओं के साथ भी ओम् शब्द का समन्वय है जो क्रमानुसार विभिन्न अलौकिक ध्वनियों से सम्प्रेषण रखता है। ओम् में अक्षर ओर वर्ण दो विभाग हैं एक अक्षर है ओर तीन वर्ण है। उस एक अदृश्य अक्षर के ऊपर तीन वर्ण बैठे हुए हैं। उन तीन वस्तुओं को अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखने वाला जो एक धरातल है उसी का नाम ओम् है। अतः ओम् का ध्यान करने के लिये आत्मा की खोज करनी चाहिये। ओम् शब्द ब्रह्मा की पृष्टभूमि का धरातल है। इसलिए ओम् को व्यापक रूप से समझने के लिए आत्मा का ज्ञान अनिवार्य है।

सभी उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा की सम्पूर्ण कलाओं का व्यापक निरूपण एवं विवेचन किया गया है। ताकि जीवात्मा की कलाएं सिद्ध हो जाये। इनमें परात्पर–अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर चारों एक वस्तु का नाम है। उपनिषदों की दार्शनिक पृष्ठभूमि के मतानुसार इन चारों को **''षोड़स पुरूष''** कहते हैं। यह आत्मा की आधी मात्रा हैं यही अक्षर नाम का गुढ़ोत्मा है एवं अव्यक ही महान वस्तु का प्रतीक है। यही महानात्मा है, यही परमात्मा है। अन्तरात्मा में बुद्धि, मन, अहंकार, इन तीनों का समावेश है। यह शरीर इस अन्तरात्मा से एक पृथक भौतिक वस्तु है। इसी को बाह्यात्मा कहते हैं। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से आत्मा के दस विभिन्न प्रकार माने गये है। सूक्ष्म दृष्टि से चार आत्मा है। चारों में पहला आत्मा है तथा बीच की दो आत्मा जिनको अन्तरात्मा और परमात्मा कहते हैं। इस आत्मा में एक प्राण ओर दूसरा शरीर हैं यही जीवात्मा का सामान्य रूप है। सभी उपनिषदों में इसी जीवात्मा का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु एक विचारणीय बिन्दु यह है कि जीवात्मा का सर्वात्मना वर्णन इन उपनिषदों में नही हुआ है। अलग उपनिषदों में अलग–अलग भागों का वर्णन हुआ है। परन्तु प्रत्येक भाष्य में जो भी एक भाग का वर्णन हुआ है उसमें अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। 'ईशोपनिषद' में गुढ़ोत्मा ओर अव्यय तथा प्रधानरूप से विद्या अविद्या का वर्णन है। केनोपनिषद में कर्म्मात्मा के एक भाग प्रज्ञान का एवं उसमें रहने वाले चित्त का वर्णन हैं उस प्रकार 'कठोपनिषद' में भोक्तात्मा का वर्णन है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा को कौन सा भाग कर्मभोग करता है इसके उत्तर वैश्वानर तैजस–प्राज्ञरूप कर्म्मात्मा देता है। भोग में भोक्ता, भोगायतन, भोग साधन ओर भोग्यपदार्थ इन चारों वस्तुओं की आवश्यकता होती हैं चारों में से एक भी नही होता है तो कर्म्मभोग नहीं होता है। इनमें जीवित दशा में स्थूल शरीर भोगायतन हैं एवं वेश्वानर–तेजस प्राज्ञमय कर्म्मात्मा भोक्ता है। जिससे स्थूल शरीर त्यागानन्तर इस भोक्तात्मा के कर्मभोग के लिए एक नया सूक्ष्मशरीर बन जाता है। आत्मगतिविधा में इस सूक्ष्म शरीर को ''आतिवाहिक'' शरीर कहा गया हैं एवं प्रज्ञान (मन) ओर विज्ञान दोनों भोग के प्रायोजक हैं एवं वासना संस्कार पुञ्ज भोग्य है। इस प्रकार अहंकार एवं प्राणनाम से प्रसिद्ध वैश्वानर–तैजस प्राज्ञरूप कर्म्मात्मा एवं विज्ञान प्रज्ञानात्मा भोग साधन है, अतएव कर्म्मात्मा के ही भोक्ता रहने पर भी प्रयोजकत्वेन विज्ञान ओर प्रज्ञान का भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसी अभिप्राय से भोक्तात्मा को स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है–

''आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।''

आत्मा से विज्ञानात्मा अभिप्रेत है। मन से प्रज्ञानात्मा अभिप्रेत हैं। मन से प्रज्ञानात्मा अभिप्रेत है एवं इन्द्रियों से वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ तीनों की समष्टिरूप कर्म्मात्मा अभिप्रेत हैं। ''कठोपनिषद्'' में इसी भोक्तात्मा का वर्णन है। जिसे हमने अन्तरात्मा कहा है–वही कंठ का भोक्तात्मा है। केनोपनिषद् कर्म्मात्मा के केवल प्राज्ञभाग का वर्णन था और यहाँ प्रज्ञान विज्ञान सहित चेतनामुगृहीत कर्म्मात्मा का वर्णन है। उपरोक्त विषयान्तर्गत यह बात और समझ लेनी चाहिये कि पूर्व में जिन जीवात्माओं के भेद बतलाएं हैं उनमें प्रत्येक में भी सत्यभाव हैं सब मिलकर एक सत्य है तथा प्रत्येक में तीन सत्य निहित है अर्थात् प्रत्येक में आत्मा–प्राण–पशु ये तीन–तीन भाग है। सबसे पहले गुढोत्मा नाम के अक्षरात्मा को षोड़शीपुरूष कहते हैं। उसमें अव्यय भाग आत्मा है। अक्षर भाग प्राण है, क्षर भाग पशु हैं इसीलिए 'ईशोपनिषद्'' में केवल षोड़शीपुरूष के साथ 'प्रणव' की तुलना की गयी है।

इसी संदर्भ में अव्यक्त आत्मा है। वाक्–प्राण अव्यक्तात्मा के प्राण है। एक महान आत्मा रयि–प्राण प्राण है। आकृति–प्रकृति–अहंकृति पशु है। विज्ञान आत्मा है। चेतना प्राण प्रण है। विद्या अविद्या नाम की सांख्योक्त ८ बुद्धि पशु है। प्रज्ञान नाम का चान्द्रसौम्यमन आत्मा है, प्रज्ञा–प्रज्ञा प्राण है। भूतमात्रा प्राणमात्रा और प्रज्ञा मात्रा पशु है। अहंकार आत्मा है एवं जो प्राण भाग प्रज्ञान के है। वे ही इस अहंकार के हैं एवं विधाकर्म इसका पशुभाग है। छठा शरीर आत्मा है। भूतप्राण किंवा अभप्राण इसके प्राण हैं। जाया–प्रज्ञा वित्तादि पशु है, इस प्रकार सब में पृथक–पृथक स्वतंत्र सत्यसंस्था सिद्ध हो जाती है।

ऊपर हमने बताया है कि शरीर (बाह्यात्मा) का आधार अहंकार है। जब तक शरीर में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंभाव है तभी तक शरीर खड़ा है। जिस दिन अहंकार निकल जायेगा शरीर उसी दिन समाप्त हो जायेगा। अहंभाव और तदाश्रित शरीर दोनों का निर्माण अषाढ़ा और उख्यपृथिवी से होता है अषाढ़ा पृथिवी चित्याग्निरूप होने से भूतपयी है एवं उख्यपृथिवी चित्तेनिधेयमयी होने से प्राणमयी है। इस प्राणपृथिवी (प्राणाग्नि) से अहंकार का जन्म होता है। एवं भूतपृथिवी से शरीर का निर्माण होता है। जैसे पृथिवीपिण्ड की सत्ता उस पृथिवी के अमृतरूप चित्तनिधेय प्राण पर निर्भर हैं एवमेव इस चित्यपृथिवी से बनने वाले शरीर की सत्ता, चित्रनिषेध प्राणाग्नि से बनने वाले अहंकार पर निर्भर हैं। शरीर मर्त्यपिण्ड हैं अहंकार अमृतमयी है। जब तक अमृत का संबंध है तभी तक मर्त्य भूतपिण्ड (शरीर) की सत्ता है। यह भूतपिण्ड पाश्चभौतिक हैं। शरीर का जितना भाग अस्थिमांसादिरूप कठिन भाग है। वह सब पृथिवी हैं। रूधिर, लाला, मूत्र आदि जितने तरल पदार्थ है सब पानी है। मुख, गुदा, हथेली–कक्षा आदि में जो प्रतयक्षानुभूत जो गरमी है वही तेज है एवं सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त, वायुवाहिनी, शिराओं में व्याप्त वायु प्रत्यक्ष ही है, एवं जिन छिद्रों में से रस, वायु का संचार होता है वही आकाश है, इस पाञ्चभौतिक शरीर में वह अहंकार रहता है। वह अहंकार त्रयवयव है, क्योंकि अहंकार को पैदा करने वाला चित्तनिधेय नाम का आग्नेयप्राण त्रयवयव हैं। त्रिवृत्त–पश्चदश–एकविंश इन तीनों स्तोमों के भेद से वह एक ही प्राण त्रिधा में विभक्त है। त्रिवृतप्राण वैश्वानर कहलाता हैं यह अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है पञ्चदश प्राण तैजस है यह क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है एवं एकविनशप्राणप्राज्ञ प्राज्ञ है यही ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। अहंभाव का कुछ भाग नित्य प्रति नए–नए उत्पन्न होने वाले भूतों को सुरक्षित रखता है। वही भाग वेश्वानर कहलाता है। एक भाग गति द्वारा नई–नई वस्तु उतपन्न करता रहता है। यही तैजस है, एक भाग विषय जात का अनुभव करता है। इन तीन के अलावा साधारण मनुष्यों की दृष्टि में चौथा भाग काम नहीं आता है। इन तीनों का समन्वय बना रहता है। इन तीनों के समुच्चय को अहंकार कहा जाता है, इन्ही तीनों को चित्तनिधेय प्राणमय होने से प्राणात्मा भी कहा जाता हैं। इस विषय का वर्णन 'केनोपनिषद्'' में किया गया है। अतएव प्रकृत में हम उसे अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। केवल शरीर का आधार अहंभाव है, शरीर पाञ्चभौतिक है, इसी का नाम बाह्यात्मा हैं। इसका निर्माण चित्य पृथिवी से होता हैं एवं अहंभाव वैश्वानर तैजस प्राज्ञ की समष्टि है। इसका निर्माण चित्त निधेय प्राण पृथिवी से होता है, अतएव यह अहंभाव शरीर का आधार कहलाता है। कर्म्म भोगने के लिए इसी अहंभाव को लोकान्तर में जाना पड़ता है अतएव इसे कर्म्मात्मा कहा जाता है। इसीलिये उपनिषदों में यह आत्मा, प्राणात्मा, अहंकार,कर्म्मात्मा इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

इसी क्रमबद्धता के संदर्भ में पृथिवी के बाद चन्द्रमा का नाम आता है। इस चन्द्रमा का जो भाग हमारें में आता है। उसका नाम है–संकल्प विकल्पात्मक मन। इसी को हम प्रज्ञान कहते हैं। परन्तु


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रज्ञान एक दूसरी वस्तु है। प्रज्ञान चन्द्रमा का एक भाग है। चन्द्रमा से ऊपर सूर्य है। इसका भाग भाग बुद्धि कहलाता है, उसे कोचित कहते हैं यही विज्ञान नाम से प्रसिद्ध हैं इसके ऊपर परमेष्ठी है उसका भाग महान कहलाता है। इसके ऊपर स्वयम्भू है। उसी के भाग को अव्यक्त कहते है। इस प्रकार ये छः आत्मा हो जाते है। इन छहों में पाँच तो प्राणरूप पाँच प्राकृतात्मा है एक स्थूल आत्मा है, इन पाँचों प्राकृतात्माओं को अपने में रखने वाले अक्षर का नाम गूढोत्मा है। गूढोत्मा आत्मा है। पाँच आत्मा प्राण है। शरीर पशु हैं। इन तीनों की समष्टि का नाम जीवप्रज्ञापति है। वास्तव में यही साक्षात ओम् है। यही ओम् आत्मज्ञान से संबंध रखने वाला है। ओम् के इसी अर्थ से आत्मा की खोज की जा सकती हैं। आत्मा की खोज करने के लिए ओम् को पहचानना जरूरी है। इस प्रकार प्रकृति की अव्यक्त सत्ता में ओमभाव की सत्ता व्याप्त है। केवल अव्ययादि में भी ओम् भाव विद्यमान है। 'ओम्' शब्द स्वयं वाक् है। इसका उच्चारण करना या इसकी पुनरावृत्ति जन के विषय में प्राणरूप है। इसके साथ मनोयोग के जोड़ने पर यह ओम मनः प्राण वाङ्मय बन जाता है। ओम और आत्मा दोनों ही मन प्राण वाङ्मय है। यदि नियमित रूप से अन्तःकरण द्वारा या हृदय की आन्तरिकवृति द्वारा मन प्राण–वाङ्मय 'ओम' इस एकाक्षर का ध्यान किया जाता है तो दीर्घकाल में शब्दब्रह्म के द्वारा आत्म तत्व को प्राप्त किया जा सकता है।

डा० किशना राम बिश्नोई
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गु०ज०वि० (हिसार)


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# तनाव तथा हृदय रोग : एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन

सारांश :–

आज के इस आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुख साधनों की दौड़ में प्रतिस्पर्धा कर रहा है। जबकि ये सभी भौतिक सुख साधन मिथ्या हैं अर्थात् स्थायी नहीं हैं, परन्तु इन साधनों का उपयोग करके उसने अपनी जीवन शैली में इतना परिवर्तन कर लिया है उसका शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रहा है। इसका एक मात्र कारण है कि उसने प्रकृति की वास्तविकताओं से आँखें फेर ली है। जिसके कारण वह अनेक मानसिक विकृतियों से ग्रसित हो गया है।

शारीरिक तथा मानसिक रोगों की श्रृंखला में इन दिनों एक भयंकर अभिवृद्धि हुई है और वह है– **'तनाव'**। हममें से अधिकांश लोग मानसिक तनाव से पीड़ित रहते है और उसी दबाव से अशांत तथा विक्षुब्ध मन: स्थिति में समय गुजारते हैं। जिसे हम एक प्रकार का **मानसिक ज्वर** कहते हैं। इस ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को अपनी अधिकांश शक्ति व्यर्थ ही खर्च करनी पड़ती है। इस शक्ति को **अनुकूलन ऊर्जा** कहते हैं तथा इस प्रणाली को **अनुकूलन प्रणाली** कहते हैं।

तनाव के कारण, जो आज के परिपेक्ष्य में, तीन मुख्यत: हैं :–

१. अनावश्यक आवेगमयता।
२. व्यर्थ की भाग दौड़।
३. उपभोगों की दौड़ में अपने को पिछड़ा पाना।

तनाव हृदय रोगों का एक मुख्य कारण है क्योंकि यह शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर हमारे शरीर की जैविक क्रियाओं को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैविक क्रियाओं में बाधा के फलस्वरूप हृदय रोग (मायोकार्डियल) होता है।

**हृदय रोग के लक्षण :–** हृदय रोग के लक्षण मुख्यत: निम्न हैं :–

१. हृदय में तीव्रता से दर्द उत्पन्न होना तथा उसका कंधों तथा दायें हाथ में फैलना।
२. छाती पर भार महसूस करना।
३. उल्टी होना, जी घबराना।
४. पसीना आना।
५. बेहोशी होना तथा हृदय की धड़कन कम होना।
६. पेट के ऊपरी भाग में भारीपन तथा अस्वाभाविक गैस बनना आदि।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**तनाव से बचने के उपाय :–**

१. आवेश तथा असंयम के स्थान पर विवेक और संयम का दैनिक जीवन में समावेश होने पर तनावों में भारी कमी हो सकती है।

२. वास्तविकता को आदर्शों के अनुकूल ढालने के लिये संघर्ष किया जाना चाहिए।

३. अपने भीतर तथा बाहर से सज्जनता की जीवन नीति बनाकर रहें।

## तनाव तथा हृदय रोग : एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन

आज के इस आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुख साधनों की दौड़ में प्रतिस्पर्धा कर रहा है। जबकि ये सभी भौतिक सुख साधन मिथ्या हैं अर्थात् स्थायी नहीं हैं, परन्तु इन साधनों का उपयोग करके उसने अपनी जीवन शैली में इतना परिवर्तन कर लिया है कि उसका शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रहा है। इसका एक मात्र कारण है कि उसने प्रकृति की वास्तविकताओं से आँखें फेर ली है। जिसके कारण वह अनेक मानसिक विकृतियों से ग्रसित हो गया है।

शारीरिक तथा मानसिक रोगों की श्रृंखला में इन दिनों एक भयंकर अभिवृद्धि हुई है और वह है– तनाव, हममें से अधिकांश लोग मानसिक तनाव से पीड़ित रहते हैं और उसी दबाव से अशांत तथा विक्षुब्ध मन: स्थिति की श्रृंखला में इन दिनों एक भयंकर अभिवृद्धि हुई है और वह है– तनाव, हममें से अधिकांश लोग मानसिक तनाव से पीड़ित रहते हैं और उसी दबाव से अशांत तथा विक्षुब्ध मन: स्थिति में समय गुजारते है। जिसे हम एक प्रकार का **मानसिक ज्वर** कहते हैं। इस ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को अपनी अधिकांश शक्ति व्यर्थ ही खर्च करनी पड़ती है।

प्रकृति ने हमारी जीवन रक्षा के लिए हमारे भीतर एक ऐसी व्यवस्था बना रखी है। जो प्रतिकूल परिस्थितियों से निपटने के लिये शारीरिक सक्रियता एवं मानसिक स्फूर्ति, के रूप में काम करती है। इसे **'अनुकूलन प्रणाली'** कहते हैं।

इस प्रणाली के अन्तर्गत जो शक्ति (ऊर्जा) शारीरिक सक्रियता तथा मानसिक स्फूर्ति को बढ़ाने के रूप में प्रयोग की जाती है। वह तनाव जैसी प्रतिकूल परिस्थितियों से निपटने में खर्च हो जाती है और मनुष्य दरिद्रों की भाँति मौत के दिन पूरे करता है। अत: तनाव के बारे में कहा जा सकता है कि इसका प्रधान कारण चिन्तन में अधीरता, उत्तेजना एवं भ्रांतियों का भरा होना है।

१. **अनावश्यक आवेगमयता :–** इस प्रकार का तनाव जीवन में व्यर्थ की हड़बड़ी तथा अत्याधिक भाग–दौड़ के कारण उत्पन्न होता है। कभी–कभी वह इस अत्याधिक भागदौड़ के कारण अपना सर्वनाश भी कर लेता है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. प्रारम्भिक बचपन परिवार एवं शिक्षा के दौरान विकसित एवं प्रकल्पित आदर्शों से वास्तविक जीवन का अन्तर होने पर दैनिक जीवन में पैदा होने वाला तनाव।

३. जबकि तीसरे प्रकार का तनाव आज के परिपेक्ष्य में उपभोगों की दौड़ में अपने को पिछड़ा होने की अहिर्निश चिन्ता की उपज है।

तनाव के कारण :— यद्यपि तनाव के भिन्न–भिन्न कारण हो सकते हैं, परन्तु व्यक्ति के मन पर उसकी जो प्रतिक्रिया होती है। वह जीव रासायनिक दृष्टि से एक सी ही होती है।

कनाडा के प्रख्यात शरीर वैज्ञानिक **हंससेल्ये** ने अपने वर्षों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि जब एक व्यापारी, व्यापार संबंधी विचार तथा कार्य करता है अथवा एक खिलाड़ी खेल में भाग लेता है और खेल के प्रति सतर्क रहता है। तब इन सभी की बाह्य परिस्थितियां भिन्न–भिन्न है, परन्तु इन क्रियाओं के कारण इन लोगों को जो अतिरिक्त मानसिक तथा शरीरिक प्रयास करना होता है तथा उससे शरीर के अन्दर जो प्रतिक्रियायें पैदा होती है उसका शरीर वैज्ञानिक रूप एक सा होता है। इन सभी लोगों की अधिवृक्क ग्रंथि का कार्टेस अधिक सक्रिय हो जाता है तथा रक्त से अधिक हारमोन स्रावित होने लगता है और छाती की इन्डोक्रीन ग्रन्थि, जिसे **'थाइमस'** कहते हैं। सिकुड़ जाती है।

अत: तनाव के कारण भिन्न हो सकते, परन्तु मन पर उसकी जो प्रतिक्रिया होती है। वह एक सी ही होती है इसके पश्चात मुख्य बात यह है कि— तनाव की तीव्रता। जब तनाव अधिक तीव्र होता है, तो ये क्रियायें कार्टेक्स की सक्रियता, हारमोन्स का स्राव तथा थाइमस का सिकुड़ना अधिक तेज हो जाता है परन्तु कम होने पर ये क्रियायें कम हो जाती है।

अत्यधिक तनाव की स्थिति में शरीर की **'अनुकूलन प्रणाली'** संकट का संकेत पाकर तेजी से क्रियाशील हो उठती है और पूरी शक्ति से मोर्चे पर डट जाती है। हंससेल्ये का कहना है कि यही कारण है कि विशेष संकट के समय कई व्यक्ति असाधारण काम कर डालते हैं। जैसे प्राण संकट में पड़ने पर भागने की जरूरत, लम्बी कूद का अभ्यास ना होने पर भी व्यक्ति चौड़ी खाई पार कर डालता है। लेकिन ऐसी स्थिति में, जब सम्पूर्ण अनुकूलन ऊर्जा मोर्चे पर डटी हो तो शेष हिस्से में अनुकूलन क्रियायें शिथिल पड़ जाती है। जिससे भीतरी अंगों की कार्य क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। जिसे **'थकान'** कहते हैं। अधिक तनाव से थकान आने की यही प्रक्रिया है। इस थकान के कारण ही शरीर की विभिन्न माँस पेशियों की कार्य क्षमता घट जाती है, और उनका शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जिसके अन्तर्गत शरीर के विभिन्न तन्त्रों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। जैसे तेज मानसिक थकान से हृदय के पेशियों वाले भाग **'मायोकार्डियल'** में स्नायुविक सन्तुलन बिगड़ जाता है। इससे जैव रासायनिक परिवर्तन होते हैं और रक्त के आवागमन व नियन्त्रण में बाधा पहुँचती है। जिससे हृदय की पेशियो में ऑक्सीजन तथा पोषक पदार्थ सन्तुलित मात्रा में नहीं पहुँच पाते और



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय–आघात होता है। **हंससेल्ये** ने एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी गिनाया है कि यदि दिनोदिन जीवन में तनाव अधिकाधिक बढ़ता जायेगा, तो हमारी समस्त अनुकूलन–ऊर्जा खर्च हो जायेगी। यदि हमने अपने इस भण्डार को तेज गति से लुटाया तो उतनी ही तेजी से हमारा सन्तुलन बिगड़ता जायेगा, और हम भयंकर बीमारियों की चपेट में आ जायेंगे। आधुनिक सामाजिक–जीवन में ये भयंकर रोग तेज गति से बड़ रहे हैं जैसे– हृदय रोग, कैंसर, उच्च–रक्तचाप, दमा, आत्म–हत्यायें, मादक द्रव्यों का अधिक सेवन, मार–पीट आदि। ये रोग औद्योगिक रूप से विकसित देशों में बेतहाशा बढ़ रहे हैं। जिन्हें हंससेल्ये ने **'अनुकूलन के रोग'** नाम दिया है।

**हृदय का दौरा :–** शरीर में हृदय की एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, क्योंकि इसका मुख्य कार्य अशुद्ध रुधिर को शुद्ध करके आक्सीजन तथा पोषक पदार्थों को रुधिर की सहायता से शरीर के विभिन्न भागों को पहुँचाना है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया धमनी तथा शिराओं के द्वारा सम्पन्न होती है। जब हृदय की धमनियों की क्रियाशीलता में रुकावट आती है तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा ये रोग इस बात पर निर्भर करते हैं कि रुकावट का आकार क्या है। जब धमनियों में थक्का जमना शुरु हो जाता है तो रुधिर संचालन रुक जाता है। इस प्रकार सहायक धमनियों में रुकावट हो जाने से हृदय के उस भाग में रुधिर का प्रवाह एकदम बन्द हो जाता है। जिससे हृदय की माँस पेशियों को रुधिर का प्रवाह एकदम बन्द हो जाता है, जिससे हृदय की माँस पेशियों को रुधिर की पूर्ति नहीं हो पाती। अतः हृदय के उस भाग में रुधिर प्रवाह बन्द होने को हृदय दौरा (मायोकार्डीयल) कहते हैं। इस प्रकार हृदय के उस भाग को आक्सीजन न मिलने से वह भाग मृत हो जाता है इसलिए इसे हार्ट–अटैक भी कहते हैं।

तीव्र हृदय का दौरा जिसे डाक्टरी भाषा में कोरोनरी थ्रोम्बोसिस, मायोकार्डियल इनफेक्शन, ऐक्यूट कोरोनरी इन्यएफीशिन्सी आदि अनेक नामों से जाना जाता है। जिनमें से मुख्यतः दो नाम प्रचलित है। जो हमें इस रोग का पूरा ज्ञान कराते हैं। १. ऐक्यूट कोरोनरी इन्यएफीशिन्सी २. मायोकार्डियल इन्फेक्शन।

ये रोग अचानक हृदय के एक भाग में धमनी के रक्त प्रवाह में अस्थायी रुकावट आने से या ऐंठन के कारण माँसपेशियों के ठीक प्रकार से काम ना करने से होता है। जब हृदय पर ये आघात होते है तो छाती में एक दर्द जो शूल की भाँति चुभता हुआ होता है, उत्पन्न होता है। परन्तु डाक्टरी उपचार से जब मिनटों/घंटों में दर्द समाप्त हो जाता है तो रक्त संचार बढ़ जाता है और रुकावट दूर होने का आभास होने लगता है। यह हल्का–हृदय का दौरा होता है।

सामान्यतः ऐसा देखा गया है कि धमनियों में अवरोध के दो कारण हैं :–

१. धमनियों में रक्त का थक्का जम जाना।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. धमनियों में चर्बी (कोलेस्ट्रोल) जम जाने से, हृदय के उस भाग में रक्त संचार ना होने से वह भाग निष्क्रिय हो जाता है।

**हृदय रोग के लक्षण :–** हृदय रोग के लक्षण मुख्यत: निम्न हैं :–

१. हृदय में तीव्रता से दर्द उत्पन्न होना तथा उसका कंधों तथा दायें हाथ में फैलना।
२. छाती पर भार महसूस करना।
३. उल्टी होना, जी घबराना।
४. पसीना आना।
५. बेहोशी होना तथा हृदय की धड़कन कम होना।
६. पेट के ऊपरी भाग में भारीपन तथा अस्वाभाविक गैस बनना आदि
७. पेट ऊपरी भाग में भारीपन तथा अस्वाभाविक गैस बनना आदि।

**हृदय–शूल (Angina) :–** हृदय की माँसपेशियों को रक्त पहुँचाने का काम, इसकी बाहरी सतह पर फैले धमनियों के जाल का होता है इस रक्त में आक्सीजन की प्रचूर मात्रा होती है। जब माँसपेशियों में, धमनियों में कोलेस्ट्रोल जमने से अवरोध के कारण रक्त का संचार बन्द हो जाता है, तब हृदय में तीव्र वेदना होती है और यह वेदना सीने में प्रारम्भ होकर दोनों हाथों में, गला, गर्दन एवं पीठ आदि में फैल जाती है। इसे हृदय–शूल या एन्जाइना कहते हैं। यह दर्द ज्यादातर चलते, तेज चलने या सीढ़ियाँ चढ़ने आदि से उत्पन्न होता है। आराम करने पर यह दर्द कम हो जाता है। यह हृदय–शूल कभी–कभी मौसम खराब होने तथा हवा में तेजी होने के कारण भी बढ़ जाता है।

**निदान के सुझाव :–** हृदय रोगियों को हृदय–आघात से बचने के लिये निम्न उपचार करने चाहिए:–

१. रोगियों को अपनी दिनचर्या में सुधार लाना चाहिए अर्थात् सुबह उठकर १–२ किलोमीटर तक घूमना चाहिए। जिससे सुबह की स्वच्छ वायु, जिससे आक्सीजन की पर्याप्त मात्रा होती है, को ग्रहण करके अशुद्ध रुधिर को शुद्ध करने में सहायता मिलती है।

२. रोगियों को चाहिए कि वे अपने खान–पान तथा रहन–सहन की शैली को बदले अर्थात् उनके भोजन में माँस, चर्बी, धूम्रपान आदि वस्तुएं जो कोलेस्ट्रोल ज्यादा बनाती है कम सेवन करें तथा सन्तुलित आहार ले।

३. यह भी देखने में पाया गया है कि यह रोग अब स्त्रियों में भी बढ़ गया है। जिसका कारण गर्भ निरोधक गोलियों का ज्यादा मात्रा में सेवन करना है। अत: चाहिये कि डाक्टर की सलाह पर ही गर्भ निरोधक गोलियों का सेवन करे और यदि आप हृदय–आघात से ग्रस्त हुए है तो डाक्टर को इससे अवगत करा दें।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. हृदय–आघात का मुख्य कारण तनाव है। आज के तनाव पूर्ण वातावरण में, चाहे वह जीवन आजीविका उपार्जन के लिये हो या परिवार के पालन–पोषण करने के लिये अधिक व्यस्त एवं तनाव पूर्ण रहना हो, क्योंकि तनाव ही एक ऐसा कारक है जो शरीरिक तथा मानसिक क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर हमें भयंकर रोगों की श्रेणी में खड़ा कर देता है।

अतः चाहिए कि जितना सम्भव हो सके प्रसन्नचित तथा समायोजित प्रकार से जीवन–यापन करना चाहिए।

**तनाव से बचने के उपाय :–**

१. आवेश तथा असंयम के स्थान पर विवेक और संयम का दैनिक जीवन में समावेश होने पर तनावों में भारी कमी हो सकती है।

२. वास्तविकता को आदर्शों के अनुकूल ढालने के लिये संघर्ष किया जाना चाहिए।

३. अपने भीतर तथा बाहर से सज्जनता की जीवन नीति बनाकर रहें।

**सन्दर्भ ग्रन्थ**

स्वामी धर्मानन्द (१९९८) : जीवन विज्ञान दर्पण

पं० श्री राम शर्मा (१९९७) : मानसिक स्वास्थ्य, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

**श्री शिवकुमार चौहान**

**शोध कर्त्ता– मनोविज्ञान विभाग,**

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# यह देखो 'ताज़' विशाल खड़ा!

वह कौन? कहां से आया था, उसकी सब बात निराली थी,
जब मिली उसे सच्ची शिक्षा, फोड़ी मादक–मधु–प्याली थी,
'तलवन–वासी', नरपुंगव का, यह देखो स्वप्न साकार खड़ा।

उस कर्मयोगी यतिवर ने निज, जीवन हंस–हंस बलिदान किया,
कुछ करना है, दृढ़ निश्चय कर, घर–बार त्याग संन्यास लिया,
उस 'मुंशीराम' अलबेले का, यह देखो 'ताज' विशाल खड़ा।

एक 'जादूगर' एक बोली ने, उसकी आत्मा झकझोरी थी,
परतंत्र देश में शिक्षा की, एक नई संस्था खोली थी,
उस झोली वाले बाबा का, यह देखो गौरव–गान खड़ा।

उसकी शिक्षा थी वीर बनो, निर्भय होकर जूझो रण में,
वह कहता था तुम आर्य वीर, कायरता मत लाओ मन में,
उस वीर अमर बलिदानी का, यह देखो खुद बलिदान खड़ा।

इस 'गुरूकुल' की माटी चन्दन, इसका चप्पा हरियाला है,
इसका गौरव हिम–शिखर तुल्य, इसका सब जगह उजाला है,
उस देव–तुल्य, महामानव का, यह देखों शुभ्र–निशान खड़ा।

इसकी गोदी में जो पलता, उसका इससे पावन नाता,
वह भुला–भुला कर भी इसको, कभी मन से भूल नहीं पाता,
उस मनमोही, मतवाले का, यह देखो प्यार–निशान खड़ा।

यहाँ धर्म रहे, यहाँ दया रहे, यहाँ सत्य, न्याय–व्यापार रहे,
उत्थान ही इसका हो हमसे, यह चमन सदा गुलजार रहे,
उस श्रद्धा के अमर पुजारी का, यह देखो तन–मन–प्राण खड़ा।

**महावीर "नीर" विद्यालंकार**
**कार्य. प्रधानाचार्य**
**गुरूकुल कांगड़ी "विद्यालय–विभाग", हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# 'आओ! दीप जलाएं'

वेदों के पावन पथ पर, फिर चले हमारा देश,
ऋषि मुनियों के गूंजे, भूपर पुनः मधुर उपदेश।

मित्र बने धरती के सब जन, सभी दिशाएं मित्र बनें,
हटें दनुजता के जो छाए, सदियों से हैं मेघ घने।

ज्योतिर्मय हो भू का कण कण, ज्योतिर्मय हो जन अन्तर,
ज्योतिर्मय हो आभा मन की, ज्योतिर्मय हो मन सत्वर।

मोहाक्रान्त मनुज के उर में, उठे नवलतम् उद्बोधन,
प्रकृति जयी के गूढ़ रहस्यों का हो सुन्दर संशोधन।

नव्य ज्योति पा, ले अंगडाई, मानव जगती का उद्भ्रान्त,
समरसता का श्रोत बहे ज्योतिर्मय मानव मन विश्रान्त।

आर्य बनें हम भारतवासी, जगती आर्य बनाएं,
आर्य सपूतों! मानवता का, आओं दीप जलाएं।।

राधेश्याम 'आर्य'
मुसाफिर खाना २२७८१३
सुलतानपुर (उ०प्र०)


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# समालोचना

**प्रो० भवानीलाल भारतीय–हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन**
**स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान केन्द्र, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,**
**पृष्ट–४३९, मूल्य–४०० रूपयें**

आचार्य श्री गोवर्धन शास्त्री आर्यजगत के लब्धप्रतिष्ठ शिक्षा शास्त्री थे। गुरूकुल में (१८८१–१९२७) काङ्गड़ी के मुख्याध्यापक होते हुए उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द की प्रेरणा से हिन्दी में भौतिकी ओर रसायन की पुस्तकों की गत शताब्दी के प्रथम दशक में रचना की जो कई वर्षो तक स्कूल सिलेबस में पाठ्य पुस्तकें रहीं। उन्होंने फ्रेंच दार्शनिक की विख्यात पुस्तक एमिल का हिन्दी रूपान्तर भी किया। उनकी जन्मशती के अवसर पर १९८१ में संघड़ विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर ने गोवर्धन स्मृति सन्मान की स्थापना की। पहले पुरस्कार के लिए सर्वसम्मपति से आचार्य रामप्रसाद को मनोनीत किया गया। अगले वर्ष जब ऐसे ही वैदिक विद्वान् को चुनने का प्रश्न हुआ तो सहज में श्री भवानीलाल भारतीय का नाम सामने आया। आप को प्रशस्ति पत्र प्रदान करते हुए तत्कालीन कुलपति गुरुकुल काङ्गड़ी ने महर्षि दयानन्द के जीवन चरित्र विषयक आपके अनुसंधान तथा आर्यसमाज के इतिहास के सम्बन्धं में अभूतपूर्व जानकारी का उल्लेख करते हुए कहा था कि वह दिन दूर नहीं जब कि आप की लिखी गई महर्षि दयानन्द की प्रामाणिक एवं विश्लेषण प्रधान जीवनी प्रकाशित होकर जिज्ञासु पाठकों का ज्ञानवर्धन करेगी।

पाठ्य पुस्तक ''हिन्दी काव्य को आर्य समाज की देन'' इस श्रृंखला में एक मान्य ओर प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस के द्वारा आपने स्वामी दयानन्द से प्रेरित सैंकड़ों नाम और कुछ इतने नामी नहीं, कवियों की तेजस्वी रचनाओं को उजागर किया है। आप का अध्ययन क्षेत्र और पुस्तकागार कितना विस्तृत है, इस ग्रन्थ के अध्ययन से साफ जाहिर है।

आज से १०३ वर्ष पूर्व १८९७ में अमदाबाद मण्डल ने बालाभाई जमनादास वैश्य द्वारा गुजराती में रचित महान स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र प्रकाशित किया था। उसमें डाक्टर ऐंड्र जैक्सन डेविड ने जोरदार प्रस्तावना लिखी। उन्होंने कहा कि मैं आर्यसमाज में एक ऐसी सार्वभौमिक ज्वाला का दिव्य दर्शन कर रहा हूँ जो अमेरिका, अफ्रीका, एशिया के मैदानों, पहाड़ों, राज्यों, साम्राज्यों को भस्मीकृत कर देगी और पुरातन, संकुचित,भ्रष्ट आचार विचार को नष्ट करके



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवीन, खुले, स्वच्छ, स्नेहिल, शुद्ध, बुद्ध फर्म को स्थापित कर प्राणीमात्र का कल्याण मार्ग प्रशस्त करेगी।

भारतीय जी के अनुसंधानों से स्पष्ट है कि गत सौ वर्षो में आर्य संस्कारों से प्रेरित सैंकड़ों कविजन ने सचमुच डा० डेविस का दिव्य स्वप्न साकार कर दिया है। अभी दिल्ली दूर है सही, किन्तु वैचारिक क्रान्ति सर्वत्र, यत्र–तत्र फैल रही है। भारत का संविधान इस का सबूत है। यह दयानन्द की दिग्विजय का प्रतीक है। जैसा कि उक्त जीवनी में लिखा है कि गुरुनानक के बाद ऋषि दयानन्द ने ही पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराई ओर जन–जन में आत्मविश्वास और परमोत्साह की अग्नि प्रज्वलित की। मानव की प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया।

आलोच्य ग्रन्थ में ११ अध्याय हैं। भारतीय नव जागरण के सफर में आर्यसमाज की भूमिका का विद्वान् लेखक ने विषद वर्णन किया है ओर जैसा डा० राकेश ने लिखा है, अब हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए इस सामग्री को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु काल ओर द्विवेदीकाल आर्यसमाज की क्रान्तिकारी और आक्रामक विचारधारा से कैसे अछूता रह सकता था, इस का दिग्दर्शन विद्वान् लेखक ने स्थान–स्थान पर कराया है। स्वामी दयानन्द की वन्दनीय जीवनी पर अनेक कविजन ने लेखनी उठाकर जो साहित्य रचना की है, वह आज भी रोमांचकारी है। उत्कर्षवादी है। तीन अध्याय तो दयानन्द के जीवनी परक हैं। वैदिक मूल्यों का अनुसरण करते हुए अरविन्द, विवेकानन्द, गांधी, तिलक, गोखले, लाजपतराय, श्रद्धानन्द, हंसराज, सुभाषचन्द बोस ने वीर आर्य युवकों के ऐसे महान त्यागी समूह पैदा किए, जिन की कुर्बानियों की बदौलत हिन्द आजाद हुआ, लेकिन पूरी आजादी अभी नहीं आई। आज फिर भारतीय युवक भोगवाद की गिरफ्त में फंसता जा रहा है, ऐसे समय में एक बार फिर दयानन्द की सिंह गर्जना की जरूरत है आलोच्य ग्रन्थ इस मांग को पूरी करता है। स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान केन्द्र को इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए साधुवाद।

**–बलभद्र भारती**
**पूर्व कुलपति**
**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# THE WORDSWORTHIAN MATRIX IN MATTHEW ARNOLD'S 'RESIGNATION'

**Resignation**[1] is a highly reflective and philosophical peom. Swinburne describes this poem as 'the final flower of Arnold's Wordsworthianism'. But there is a difference between Anold's attitiude to Nature and that of Wordsworth. Wordsworth expresses the belief that it is 'Nature's privilege to lead from Joy to Joy'. According to him 'every flower enjoys the air it breathes'. Arnold, on the other hand, expresses the view that the secret of Nature is not Joy, but peace, and that Nature seems 'to bear rather than rejoice' 'The general life, which does not cease/Whose secret is not joy, but peace.....'[2]

Arnold addressed this poem to his sister and included it in his first volume of poems (1849). It was written 'in recollection of their mountain walks and talks togther'. Arnold gave **Resignation** a vary precise setting and situation. The occasion as well as the Lake country setting, is patently Wordsworthian : the poet, speaker and his sister (called in the poem Fausta) are taking a walking trip over Whythburn Felts to Keswick; the journey is one they had made ten years before so that the poem (like **Tintern Abbey**) involves a contrast between the impressions of first and second visit.This suggestion of Arnold to his sister Jane ( given a fictitious name 'Fausta') reminds us of Wordsworth who in identical situation asks his sister Dorothy in **Tintern Abbey.**

.....Therefore let the moon
Shine on thee in thy solitary walk;
And let the misty mountain-winds be free
To blow against thee; and , in after years,
When these wild ecstasies shall be matured
Into a sober pleasure; when thy mind
Shall be a mansion for all lovely forms,
Thy memory be as a dwelling-place
For all sweet sounds and harmonies;[3]



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Both poems **Resignation** and **Tintern Abbey** - are intimate yet public communications with the poet's sister, which turn upon memories and reflections associated with a particular place, then and now. The differences between the two poems are, however, more striking than the similarity. Whereas wordsworth's Dorothy plays the silent role of apt and acquiscent pupil, Arnold's Fausta - revealing pseudonym - is presented for correction, amiably enough, as a misguided voice.

In this poem we have a complete and lucid presentation of what may be called the poet's philosophy of life'. It may be noted that the poet here subdues 'his wayward energies to a calm, impersonal vision and comprehansion of life'. So, the spirit of Resignation is caught in a different mood altogether. According to Duffin, the poem is chiefly notable for the intensely felt memories of the Lakeland walk and the panoramic vision, which inspired Arnold to some of his loveliest writing, and at one place to a pastoral scene that consciously emulates Milton's **L'Allegro.**[4]

The quality of **Resignation** is, in fact, purely Arnoldian : characters and setting, though well-defined are not genuinely dramatic. Similarly, the journey through the cumberland nills, though it has an immediate topographical interest, is with its difficulties and its end at the unbounded sea, the journey of life.[5]

**Resignation : To Fausta** is composed of relaxed iambic tetrameter rhyming couplets in language adapted to the conversational context established by the sub-title. Its place-revisited structure parallels wordsworth's 'Lines composed a few Miles Above **Tintern Abbey;** but the theme and structure of the poem differ radically from those wordsworth's. whereas **Tintern Abbey** concentrates upon the instinctive joy which the speaker had found in Nature five years earlier, and re-finds on a higher level in the 'holier love' which produces the joy of elevated thoughts 'Arnold's speaker concentrates upon a 'general life' whose 'secret is not joy, but peace : 'whose dumb wish is not missed/ If birth proceeds, if things subsist;/ The life of plants and stones and rain'.[6] If he could lend a voice to the turf, hills, stream and rooks, they would 'seem to bear rather than rejoice' for, Nature's life, like man's suffers from 'The something that infects the world' the line with which the poem concludes.

It is significant to note here that Aronld is not a participant in the tragic sufferings of human and creaturily life; he beholds in the detachment of his 'rapt security' uniformly pleasant things or at least undisurbing ones : a ruler in a


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
great-historied land, the beautiful eyes of a woman, a 'happy group' returing home after the day's toil through 'shining streets' and the beneficent aspects of Nature, the pastures and woody hills, the cuckoo and stream and wet grass of a quiet pastoral landscape. The note of withdrawal of a diminution both of involvement and of energy is unmistakable.

It is further to mark that he contrasts a life of fierce resolution and activity with one 'freed from passions and the state/of struggle these necessitate' and argues that the second of these states is more appropriate for a poet. From his high vantage point above the agitated life of humanity, the poet is able to survey the course of mankind. The poet is a man set apart from others : he understands action and suffering, but he takes no part in them. He is above the strief and because he does not envy what he sees, his separateness causes him no pain :

From some high station he looks down
At sunset, on a populous town;
Surveys each happy group, which fluts,
Toil ended, through the shining streets,
Each with some errand of its own-
And does not say : **I am alone.**[7&8]

Like Arnold, wordsworth too condemns the disease of general life and takes refuge in the lap of Nature where he is led to the beauty and truth that is beyond sense.[9] Wordsworth's pantheism is evident in a very famous passage of the poem:

..... And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
of elevated thoughts; a sense sublime
of something far more deeply interfused
Whose dwelling is the light of the setting suns,
And the sound ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man;
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things.[10]


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In **Tintern Abbey** wordsworth and Dorothy stand 'here upon the banks of this fair river'.The poet mourns his lost childhood oneness with Nature but derives joy from the knowledge that his sister still possesses the power that he has lost. The poem ends on a triumphant assertation of his belief in a matured and 'sober pleasure' based on the 'wild ecstasies' of youth. Memory becomes a source of joy; 'Nature never did betray the heart that loved her.' The poet , ' a worshipper of Nature' can readily become its priest.

**Resignation** is one of those poems - wordsworth provides a number - which have an added dimension for readers who know the Lake District. This poem falls into five parts and the second part is a recollection, shared with his sister Jane, whom he calls Fausta, of a walk they had done in 1833 (ten years previously) with a party led by Thomas Arnold. As Arnold says in his note, those 'familiar with the English Lake country' will be able to trace the walk, and - one may add - will take enormous pleasure in doing so.

The relevance of the walk to the argument of the poem is not obvious, but perhaps (since the walk is being partly repeated ten years later) enforces one of the poems' ideas. that the world does not change, however, much man may do so. Subordinating his personal life, he surveys mankind and Nature. He sees man doing great deeds and achieving great triumphs, but does not envy them. Instead, he gazes quietly over the awakening earth - 'Before him he sees life unroll,/A placid and continuous whole - 'and knows the secret of the universal life is a peaceful contuinity outlasting death. This is the life which the poet., with his 'sad lucidity of soul', craves, and it was hinted at in the first section. The idea seems to be a kind of entering into the life of the Time-spirit, or earth spirit. Returning to the first theme he again urges on Fausta 'quiet and a fearless mind', gently approaching her for letting her heart be busy about the vanity of human cares. The poet, secure in his vision, may appear weak and foolish to the world, but he sees in each moment the birth of life and death. Action blinds us and carries us no further but Nature teaches us 'to bear rather than rejoice'.[11]

**Tintern Abbey** is, in other words, about the dissociation of sensibility from thought and their reintegration. Having had to abandon his childhood intuitions for the sake of thought, and having had to adandon thouht when he would recover (as in his last visit), his days together, to see in his childhood intuitions, the origin of his


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

moral ideas and to find both in his unified response to the evolution of his thought, 'A lover of the meadows and the woods', being 'well pleased to recognize' he concludes in the final lines of the main section:

In nature, and the language of the sense,
The anchor of my purest thoughts, the nurse,
The guide, the guardian of my heart and soul
of all my moral being.[12]

Like the later Wordsworth, the chief characteristic of the poet of Resignation is that he lives without personal feeling or desire, he is sensitive to the world's charms but he 'bears to admire uncravingly,.[13]

**Tears**

Are in his eyes, and in his ears
The murmur of a thousand years;
Before him he sees Life unroll
A placid and continuous whole;
The general Life which does not cease
Whose secret is not Joy, but peace;
That Life, whose dumb wish is not miss'd
If birth proceeds, if things subsist;
The Life of plants, and stones, and rain;
The Life he craves; if not in vain
Fate gave what chance shall not control.
His sad lucidity of soul.[14]

In few, Arnold's **Resignation** contains his characteristic turn for philosophy, and his attempt to find solace in Nature when oppressed in mind, and splendid discriptions of Nature which recall to Wordsworthian matrix in **Tintern Abbay.**

**NOTES AND REFERENCES :-**

1 The early poetry of Matthew Arnold consists of Sonnets and some such important poems as 'Mycernius', 'The New Sirins', 'To A Gipsy Child By The


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Sea-Shore', 'Consolation', 'Resignation', etc. Like Shakespeare who is supposed to have 'unlocked his heart' in his sonnes, Arnold too, drops the mask and gives direct expression to his thoughts and fellings in his sonnedts.He attributes the miseries of human life to the interference of fate and depicts this fact through fictitious and historical personae created by him in his sonnets and other poems. In this regard Arnold is with ancient Greeks and also reminds us of Shakespeare's famous lines in King Lear: 'As flies to wanton Boys, are we to the gods;/ They kill us for their sport, ( King lear, iv.i.36). These personae in the sonnets are alienated figures due to the contrast they observe between the past and present, and between the life in Nature and the life in society.

2 The Poetical Works of Matthew Arnold, Ed. Macmillan & Co. Ltd. (New York : The Macmillan Company, 1907), p.57.

3 Wordsworth Poetical Works, Ed. Thomas Hutchinson (Oxford University Press, rpt. 1981) p. 164.

4 H.C. Duffin, Arnold, the Poet (London : Bowes & Bowes Publishers Ltd., 1962).

5 G.K. Strange, Matthew Arnold : the Poet as Humanist (Princeton: Princeton Univ. Press, 1967).

6 The Poetical Works of Matthew Arnold, p.58.

7 Ibid., p. 59. These lines are comparable to Bacon's statement in his essay, 'of Truth' :

It is pleasure to stand upon the shore and to see ships lost upon the sea; a pleasure to stand in the window of a castle, and to see a battle and the adventures there of below; but no pleasure is comparable to the standing upon the vantage ground of Truth. (a hill not to be commanded, and where the air is always pure and serene) and to see the errors and wanderings, and mists, and tempest, in the vale below; so always that this prospect be with pity, and not with smelling or pride. Certainly, it is heaven upon earth to have a man's mind move in charity, rest in providence and turn upon the poles of truth. Baacon's Essays, ed. ( with introduction to notes) F.G. Selby (London : Macmillan & Co. Ltd., 1961).


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8 In this respect he is indebted to Goethe whose ideas as expressed in his Wilhelm Meister influenced M.Arnold deeply in his young age:

Look at men, how they struggle after happiness and satisfaction. Their wishes, their toil, their gold, are ever hunting restlessly and after. After that which the poet has received from Nature - the right enjoyment of the world .... Now fate has exalted the poet above all this, as if were a god. He views the conflicting tumult of passions; sees families and kingdoms raging in aimless commotion..... He has a fellow-feeling of the mournful and the fate of all human beings. (Carlyle's translation of Wilhelm Meister, Book II, Chapter 2, in Works, XXIII, 112).

9 Melvin Radar, Wordsworth - A Philosophical Approach (Oxford University Press, London, 1967), pp.156-57.

10 Wordsworth Poetical Works p.164

11 If I have done any sort of justice to the argument, it will be obvious that this poem is not the profound philosophical achievement. Some critics would have it , but it is full of detectable things. It is an 'occasional' poem, probably composed in Arnold's early twenties, with his sister for primary and admiring audience. I value it more for its beauty than for its message, and find it chiefly notable for the intensely felt memories of the Lake land walk and the panoramic vision which inspired Arnold to some of his loveliest writing, and at one place to a pastoral scene that consciously emulates L'Allegro. H.C. Duffin, Arnold the Poet (London : Bowes and Bowes Publishers Ltd., 1962).

12 Wordsworth Poetical Works p. 165

13 'The man whose spirit is controlled', says The Bhagwadgita, 'who looks on all impartially, sees self abiding in all beings, and all beings in self. 'This self, is the Highest self, beyond all mere personality.'

14 The Poetical Works of M.Arnold, p.60.

**Dr. Satendra Kumar**
**L.N.V. Rampura**
**Neemuch-458181 (M.P.)**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गुरुकुल-पत्रिका

## मासिक शोध-पत्रिका

## Monthly Research Magazine

सम्पादक

**प्रो० महावीर**

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

शताब्दि वर्ष २००१-२००२

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -२४९४०४

| | | |
|---|---|---|
| जनवरी-मार्च<br>सन् २००१ | वर्ष<br>५२ वां | माघ-चैत्र<br>संवत् २०५७ |

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्पादक मण्डल


| | | |
|---|---|---|
| मुख्य संरक्षक | : | प्रो० धर्मपाल<br>कुलपति |
| संरक्षक | : | प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री<br>आचार्य एवं उपकुलपति |
| परामर्शदाता | : | प्रो० विष्णुदत्त राकेश<br>प्रोफेसर, हिन्दी विभाग |
| सम्पादक | : | प्रो० महावीर<br>कुलसचिव एवं प्रोफेसर संस्कृत विभाग |
| व्यवसाय प्रबन्धक | : | डॉ० जगदीश विद्यालङ्कार<br>पुस्तकालयाध्यक्ष |
| प्रकाशक | : | प्रो० महावीर<br>कुलसचिव |
| मूल्य | : | २५ रुपये वार्षिक |


मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल हरिद्वार फोन : 415975, 415692

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषयानुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | वेदमञ्जरी | आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार | १ |
| २. | सम्पादकीय | प्रो० महावीर | २ |
| ३. | गुरुमन्त्र—गायत्री मन्त्र | स्व. आचार्य रामप्रसाद वेदालङ्कार | ४ |
| ४. | भज रे विश्वपतिं .... | आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार | ८ |
| ५. | साहित्यसुधासिन्धोः .... | डॉ. कृष्ण कुमार | १० |
| ६. | सायणाचार्य, पाश्चात्य .... | डॉ. नरसिंह चरण पण्डा | १५ |
| ७. | "विद्याष्टकम्" एक..... | डॉ. हरिनारायण दीक्षित एवं डॉ. किरण टण्डन | २९ |
| ८. | भक्त प्रह्लाद : एक .... | श्री महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार | ३४ |
| ९. | योग में बहिरङ्ग .... | डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार | ४१ |
| १०. | वेदों में चन्द्र वर्णन | डॉ. प्रीति गर्ग | ४६ |
| ११. | दिव्य चक्षु कैसे पावें ? | डॉ. ब.द. धवन | ५२ |
| १२. | दुरित—दूरीकरण सप्तकम् | श्री मनोहर विद्यालङ्कार | ५५ |
| १३. | उल्लेख अलङ्कार और .... | डॉ. मैत्रेयी | ५९ |
| १४. | वैदिक कालीन विदेशी व्यापार | डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता | ६४ |
| १५. | आओ! दानव वृत्ति भगाएं | श्री राधेश्याम आर्य | ७१ |
| 16. | **Management of ....** | **Mr. Rajat Agarwal** | **72** |
| 17. | **Two Unmet ....** | **Brig. Chitranjan Sawant** | **82** |
| १८. | जीवन पथ पर .... | श्री महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार | ८७ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# वेदमञ्जरी

## मर्त्यानाम् ऋषिकृत्

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्।।

(ऋग्० १–३१–१६)

**ऋषिः** हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** त्रिष्टुप्।

(**अग्ने**) हे अग्रणीः तेजोमय परमात्मन्! (**नः**) अस्माकम् (**इमाम्**) एताम् (**शरणिं**) व्रतलोपरूपां हिंसाम् (**मीमृषः**) क्षमस्व। (**इमम्**) एतम् (**अध्वानम्**) भ्रान्तमार्गावलम्बनमपि मीमृषः क्षमस्व (**यम्**) भ्रान्तमार्गं (**दूरात्**) सुदूरं यावद्, वयम् (**अगाम**) चलितवन्तः स्म। हे परेश! त्वम् (**सोम्यानाम्**) सौम्यजनानाम् (**आपिः**) बन्धुः, (**पिता**) जनकवद् रक्षकः, (**प्रमतिः**) शुभचिन्तकश्च असि। त्वम् (**मर्त्यानाम्**) मरणधर्मणां मनुष्याणाम् (**भृमिः**) भ्रमयिता (**ऋषिकृत्**) ऋषिकर्ता च (**असि**) भवसि।

स्वजीवने वयम् इतरा हिंसाः कुर्मो न वा कुर्मः, परं व्रतलोपरूपाम् आत्महिंसां तु निरन्तरं कुर्म एव। कदाचिद् वयं सत्यभाषणस्य व्रतं गृह्णीमः। कदाचिन्नित्यसन्ध्यावन्दनय अग्निहोत्रस्य च व्रतं धारयामः। कदाचिन्नियमितव्यायामस्य प्रातर्भ्रमणस्य च व्रतं स्वीकुर्मः। कदाचिद् ब्रह्मचर्यपालनस्य व्रतं दध्मः। कदाचिद् वेदस्वाध्यायस्य व्रतम् अङ्गीकुर्मः। परन्तु सद्य एव एतानि व्रतानि लोपयामः। हे परमात्मन्! त्वम् अग्निरसि, अग्निर्भूत्वा सर्वान् मार्गं दर्शयसि। अस्मानपि मार्गं दर्शय। त्वं व्रतपतिरसि, अस्मभ्यमपि व्रतेषु दृढताधारणस्य शक्तिं प्रदेहि। यां व्रतभङ्गरूपां हिंसां वयम् अद्यतनदिवसं यावत् कुर्वन्त आस्महे, तदर्थम् अस्मान् क्षमस्व।

व्रतलोपातिरिक्तं द्वितीयमपराधं वयम् अकुर्म, यदिदानीं यावद् भ्रान्तमार्गमनुसरामः, भ्रान्तमार्गमनुसरन्तश्च सुदूरम् आगाम। साम्प्रतं चैतद् विलोक्य शिरो नश्चक्रायते यद् यावन्तं भ्रान्तं पन्थानं वयं पारितवन्तः स्मः, ततः प्रत्यागमनाय कियान् प्रयासोऽपेक्षितः। हे प्रकाशमय अग्निदेव! त्वमेव प्रकाशं प्रदाय तस्मात् कुमार्गान्नः प्रत्यागमय। त्वत्तो दूरं भूत्वा वयं भ्रान्तमार्गमनुसृतवन्तः, तदर्थमपि नः क्षमस्व।

क्षमां वयम् एतस्मात् कारणान्न याचामहे यद् दण्डान्मुक्तिमिच्छामः। जानीमो वयं यद् दण्डाऽप्रदानरूपां क्षमां त्वं कदापि न करोषि। अतस्तव दण्डस्य वयं स्वागतं कुर्मः। व्रतलोपस्य उन्मार्गगामितायाश्च दुष्परिणामोऽस्माभिः। पर्याप्तं भुक्तः, यदि चाद्यापि कश्चिद् भोगोऽवशिष्टस्तर्हि तं भोक्तुमपि वयमुद्यताः स्मः। क्षमायाचनां वयं भाविनि काले तेभ्योऽपराधेभ्यो मुक्त्यर्थं कुर्मः। क्षमां स एव याचते यः स्वकीयमपराधं स्वीकरोति, भविष्यत्काले च तस्मादपराधात् त्राणस्य यस्य मनसि उत्कटा वाञ्छा भवति। तयैव मनोवृत्या वयं त्वत्संमुखमुपस्थाय क्षमां प्रार्थयामहे।

हे प्रभो! त्वं सौम्यजनानां बन्धुः, पिता, हितचिन्तकश्चासि। त्वत्कृपया वयमपि सौम्या भवेम। त्वं भृमिः ऋषिकृच्चासि। यथा कुम्भकारो मृत्तिकां चक्रे समारोप्य भ्रमयित्वा च हस्तकौशलेन नानाविधेषु पात्रेषु परिणमयति, तथैव त्वं स्वकीये दिव्यचक्रे समारोप्य भ्रमयित्वा च सामान्यं मर्त्यमपि ऋषिं करोषि। हे देव! त्वम् अस्मास्वपि स्वकीयां कृपादृष्टिं कुरु, अस्मानपि मर्त्यान् ऋषीन् विधेहि।

**आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय.....

# गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का शताब्दी वर्ष में प्रवेश

**४ मार्च १९०२** को हरिद्वार से ३ मील दूर कांगड़ी गाँव के दक्षिण में पुण्यसलिला गंगा के पावन तट पर **महात्मा मुंशीराम** ने गुरुकुल कांगड़ी के रूप में भारतीय परम्पराओं, चिन्तन धाराओं तथा मानवीय जीवन मूल्यों के कल्पवृक्ष का बीजारोपण किया था। ९९ वर्ष की अनथक यात्रा पूर्ण कर आज **४ मार्च २००१** को यह शिक्षा संस्थान नालन्दा, तक्षशिला आदि इतिहास प्रख्यात विश्वविद्यालयों की परम्परा में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करता हुआ **शताब्दी वर्ष** में प्रवेश कर चुका है। वैभवशाली, समृद्ध, ज्ञान–विज्ञान से भासमान, विश्वगुरु भारत का महान् लक्ष्य धारण किये हुए यह विश्वविद्यालय बहुमुखी विकास को प्राप्त कर रहा है। गुरुकुल के संस्थापक कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द ने प्राचीन और अर्वाचीन विषयों की शिक्षा के साथ–साथ ब्रह्मचारियों में चरित्र बल और राष्ट्र प्रेम की भावना जगाने के लिए इस संस्था का शुभारम्भ किया था।

राष्ट्र में जब कभी कोई विपदा आई, गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मजदूरी करके धन एकत्र कर पीड़ितों की सहायता की ।

**महात्मा गांधी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, पं. मदनमोहन मालवीय, भारतरत्न इन्दिरा गांधी,** सदृश राष्ट्र नेताओं ने यहाँ पधारकर स्वयं को गौरवान्वित माना। यही वह पुण्य भूमि है, जहाँ काशी के मूर्धन्य विद्वान् **पं. पद्म सिंह शर्मा, आचार्य रामदेव, आचार्य गोवर्धन शास्त्री, डॉ. महेशचरण सिन्हा, वेदों के उद्भट्ट विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** सदृश वरेण्य विद्वान् अध्यापन कार्य कराते रहे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने राष्ट्र को विविध विषयों में निष्णात् स्नातक प्रदान किये हैं, जिन्होंने इस संस्था का यश चहुं ओर बढ़ाया है। **बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में एम.सी.ए., एम.बी.ए., एम.एस.सी. (सूक्ष्म विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान) आदि विषयों का प्रारम्भ होना, हरिद्वार में कन्या गुरुकुल महाविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्ययन–अध्यापन और बी.टेक. पाठ्यक्रम का समावेश, पर्यावरण भवन, संस्कृत भवन आदि का निर्माण, वैदिक रसायन, वैदिक वनस्पति शास्त्र, वैदिक प्रबन्धन आदि पर ध्यान केन्द्रित करना, इस तथ्य को दर्शाता है कि यह विश्वविद्यालय आज भी प्राचीन और अर्वाचीन, विज्ञान और अध्यात्म के मधुर समन्वय की दिशा में अग्रसर है।**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शताब्दी वर्ष में प्रवेश करते समय अतीत से प्रेरणा लेकर उज्ज्वल भविष्य की संकल्पना के साथ **शताब्दी वर्ष उद्घाटन समारोह** आयोजित किया जा रहा है। इसमें **गुरुकुल शिक्षा सम्मेलन, स्नातक सम्मेलन, नारी शिक्षा सम्मेलन, वेद विज्ञान सम्मेलन** के द्वारा नई चेतना, नई प्रेरणा प्राप्त करने का सार्थक प्रयास हो रहा है। इस समारोह में उपस्थित सभी स्नातकों का, विविध विषयों में पारंगत विद्वानों का, आर्य नेताओं का हम हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन करते हैं।

## गुजरात में भूकम्प

गत दिनों गुजरात में महाविनाशकारी भूकम्प ने राष्ट्र को हिला दिया। देखते–देखते लाखों जीवन मृत्यु–मुख में समा गये। भूकम्प–पीड़ितों की सहायता के लिए देश–विदेश से करोड़ों हाथ आगे बढ़े। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के शिक्षकों एवं शिक्षकेतर कर्मचारियों ने भी तत्काल अपना एक दिन का वेतन प्रधानमन्त्री सहायता कोष में भेजकर गुरुकुलीय परम्परा का पालन किया। शारीरिक शिक्षा विभाग के छात्रों ने भी दो घण्टे में तीन हजार की राशि एकत्रित कर देशभक्ति का परिचय दिया। दो लाख का ड्राफ्ट गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, कुलसचिव प्रो. महावीर एवं वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्ता ने उत्तरांचल के मुख्यमन्त्री श्री नित्यानन्द स्वामी को भेंट किया।

**प्रो. महावीर**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# गुरुमन्त्र– गायत्री मन्त्र

**ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**
(य.अ.३६ म.३, ऋ.म.३ सू.६३ म.१०)

अन्वयः– ओम् भूः भुवः स्वः। सवितुः देवस्य(यत्) वरेण्यं भर्गः, तत्(वयं) धीमहे। यः नः धियः प्रचोदयात्।

सं. अन्वयार्थः– ओम् नाम से विख्यात् प्रख्य प्रभु सर्वरक्षक, सत् चित् आनन्द स्वरूप है वा प्राणाधार, दुःख विनाशक और सुखस्वरूप है। सविता देव का जो वरणीय तेज है उसको हम धारण करते है, जो हमारी बुद्धि को सुमार्ग को प्रेरित करे।

अन्वयार्थः– (ओम्) "ओम्" यह परमेश्वर का निज नाम है और मुख्य नाम हैं (भूः भुवः स्वः) वह सत् चित् आनन्द है, आनन्द स्वरूप है। यद् वा वह प्राणों का भी प्राण–जीवनाधार वा प्राणों से भी प्यारा, स्वयं दुःखों से रहित, सब दुःखों को हरने वाला, स्वयं सुख स्वरूप और अपने उपासकों को सुखों की प्राप्ति कराने हारा हैं। उस (सवितुः देवस्य) सर्वजगत् के उत्पादक, सूर्य आदि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, सर्वप्रिय समग्र ऐश्वर्यों के प्रदान करने हारे, कामना करने के योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे दिव्य देव का (वरेण्य भर्गः) जो अतिश्रेष्ठ वरण करने के योग्य भर्गः सब क्लेशों को भस्म करने हारा तेजोमय पवित्र शुद्ध स्वरूप है(तत् धीमहि) उसका हम लोग ध्यान करे और धारण करें। (यः नः धियः प्रचोदयात्) ऐसा यह जो परमात्मा है वह हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रेरित करें।

इसको गायत्री मन्त्र भी कहते है। क्यों कहते है?, गुरुमन्त्र इसको इसलिये कहते हैं कि उपनयन संस्कार के उपरान्त वेदारम्भ संस्कार में आचार्य गुरु सबसे पूर्व शिष्य को गायत्री मन्त्र का उपदेश करता है। इसलिये इसको गुरुमन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र को सावित्री मन्त्र भी कहा जाता है। वह इसलिये कि इस मन्त्र का देवता सविता है। 'गायत्री' शब्द के दो अर्थ होते हैं। यह कि 'गायन्तं त्रायते' जो गान करने वाले का त्राण करे अर्थात् जप करने वाले की रक्षा करे। जो 'गयान्–प्राणान् त्रायते'(श. १४.८.१५७) प्राणों की रक्षा करे। या फिर स्तुत्यर्थक गा(गै) धातु से उणादि कोश के अनुसार 'शत्र' प्रत्यय के अनन्तर स्त्रीलिंग में डीप प्रत्यय करके गायत्री शब्द निष्पन्न होता है। यह शब्द योगरूढ़ होने से अपने अर्थ को प्रकट करता हुआ भी मन्त्र विशेष के लिये आता है। इसके अतिरिक्त गायत्री छन्द जो २४ अक्षरों का होता है। इसके अनुसार २२,२३, और २५,२६ अक्षरों वाले मन्त्र भी निचृत् भूरिक्, विराट् स्वराट् नामो से गायत्री ही कहलाते है। इस मन्त्र अर्थात् तत्सवितुर्वरेण्यं..... प्रचोदयात्। तक २३ अक्षर होने से यह भी (निचृत्) गायत्री मन्त्र कहाता है। 'भूः भुवः स्वः' इन महाव्याहृतियों के मिल जाने पर यह २३+४=२७ अक्षर हो जाते है। अक्षरों की इस गिनती के कारण इस का छन्द उष्णिक् हो जाता है। इस प्रकार छन्द की दृष्टि से गायत्री न रहने पर इसको गायत्री ही कहते है क्योंकि धात्वर्थ से यह अपने गाने वाले अपने जाप करने वालों का त्राण करता है या उनके 'गयान प्राणान् त्रायते' प्राणों की रक्षा करती है। मन्त्र को बोलते समय ओ३म्


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही इसका प्रारम्भ करते है।

'विश्वामित्र' इस मन्त्र का ऋषि है। इस मन्त्र का जो जप करता है जो इसका गान करता है सदा जो उस सविता देव के तेजः स्वरूप का ध्यान करता है, उसके वरणीय तेज को जो अपने में धारण करता है वह फिर 'विश्वामित्र' बन जाता है सभी उसको अपने मित्र से लगते है और वह भी सब को अपने मित्र सा लगता है। वह भी सब से स्नेह करने लगता है सब को पापों से हटाता रहता है और हित कर्मों में लगाया करता है। सब के गुह्य रहस्यों को ढापता रहता है और सब के गुणों को उजागर करता रहता है, इत्यादि। इन्हीं गुणों के कारण वह सब को प्यारा लगने लगता है और सब उसको प्रिय लगने लगते है। सब को वह अपना प्रतीत होने लगता है और सब उसको अपने प्रतीत होने लगते है।

वैदिक साहित्य में इस गुरुमन्त्र गायत्री की बड़ी महिमा है। इस की विस्तृत व्याख्या से पूर्व शास्त्र प्रमाणों से इस को कहा जाता है।

यास्काचार्य लिखते है–'गायता' मुखादुदपतदिति गायत्री। गान करते हुए परमेश्वर के मुख से सर्वप्रथम गायत्री निकली, अतः इसका नाम 'गायत्री' है। दूसरी व्युतपत्ति जो हम ऊपर कह आए है, वह यह है कि 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री' गान करते हुए–जप करते हुए उपासक की यह रक्षा करती है, इसलिए भी इसे गायत्री कहते है।

शास्त्रों में इस गायत्री, सावित्री वा गुरुमन्त्र वा महामन्त्र का स्थान–स्थान पर गुणगान किया गया है। अत्रि ऋषि का कहना है कि **"सावित्र्यास्तु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम्।"** इस गायत्री मन्त्र सावित्री मन्त्र गुरुमन्त्र से बढ़ कर कोई और मन्त्र नहीं है। यह मनुष्य को पवित्र करने वाला है अतः इस को परम मन्त्र माना गया है।

मनु महाराज जी मनुस्मृति में इसके विषय में लिखते है–

**ओंकारपूर्विकास्त्रिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।**
**त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।।**

मनु. २.८१

ओंकारपूर्वक तीनों अव्यय महाव्याहृति(भूः, भुवः, स्वः) और त्रिपदा–तीन पदों वाली गायत्री को वेद का मुख समझना चाहिये।

शंख ऋषि ने शंख स्मृति में इस गायत्री के विषय में कहा है–गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशनी। गायत्र्यास्तु परंनास्ति दिवि चेह च पावनम्। गायत्री वेद जननी है। गायत्री सब पापों का नाश करने वाली है। गायत्री से बढ़कर पवित्र करने वाली कोई और अद्वितीय वस्तु न तो इस पृथिवी पर है और न ही द्युलोक में।

शंख ऋषि ने इस के विषय में आगे लिखा है– **हस्तत्राण प्रदा देवी पततां नरकार्णवे।**

अपने पाप के कारण अपने कुकर्मो के कारण, जो मनुष्य नरक अर्णव दुःख दौर्भाग्यो के समुद्र में गिर पड़े है, उन्हें यह गायत्री अपने हाथ का सहारा देकर ऊपर उठाती है।

गायत्री मन्त्र– सावित्री मन्त्र– गुरुमन्त्र–महामन्त्र की इस महिमा के कारण से ही शास्त्रकारों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ने इसके अध्ययन–स्वाध्याय, मनन चिन्तन व जप आदि का विधान किया है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।**
**सावित्रीमप्युधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।।**

मनु. २.१०४

जलाशय आदि के समीप जाकर सन्ध्या वन्दन आदि नित्य कर्म करने वाला साधक एकान्त वन में जाकर गायत्री–सावित्री महामन्त्र का भी समाहित मन होकर, एकाग्रचित्त होकर अध्ययन करे–मनन चिन्तन और निदिध्यापन करे।

महर्षि याज्ञवल्क्य जी लिखते है–**"जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात्। सन्ध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेत् सूर्यदर्शनात्।"**(आचार. २४५) सायंकाल साधक सावित्री मन्त्र का तब तक जप करे जब तक कि तारे नहीं दिखाई दे और प्रातः तब तक गायत्री मन्त्र का जप करे जब तक कि सूर्योदय न हो जाए।

शंख ऋषि कहते है–**"सव्याहतिकां प्रप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। ये जयन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित्।"**

जो मनुष्य ओंकार और तीन महावृतियों के सहित मननपूर्वक इस गायत्री–सावित्री महामन्त्र का जप करते हैं उनके लिये कहीं भी कुछ भी भय नहीं हैं। अर्थात् वे सर्वत्र निर्भय होकर विचरते है।

मनु जी लिखते है–

**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिगुणैः।**
**उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।।**

मनु. २०.८५

विधियज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र आदि जो जप यज्ञ है वह दस गुणा विशेष दस गुणा बढ़कर है, पर अगर यह जप यज्ञ भी उपाशुं हो, तो वह सौ गुणा श्रेष्ठ है–बढ़कर है और अगर यही जप यह मास रूप में किया जाये तो वह फिर सहस्रगुणा लाभकारी होता है।

ऋषिवर दयानन्द ने सहस्रो मनुष्यों को जनेऊ देकर द्विज बनाया, उन्हें सन्ध्या सिखाई, गायत्री का जप बताया और लाखों जनो को सदुपदेश देकर सन्मार्ग दिखाया। स्वामी जी से एक वृद्धा ने आकर पूछा–महाराज! हमारा उद्धार कैसे होगा?

ऋषिवर ने कहा–माता, गायत्री जप से ।

शंख ऋषि कहते है–**"सावित्रीजपनिरतः स्वर्गमाप्नोति मानवः। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः। गायत्रीं तु जपेद् भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनीम्।"**

ओ३म्.....भू, अन्वयार्थ

व्याख्या– 'ओम्' यह परमेश्वर का निज नाम है। इस सब वेदादि सत्य शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान नाम मुख्य नाम निज नाम ओम् बताया गया है। अन्य सब नाम गौणिक गुणों के आधार पर है। इस



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम से परमेश्वर के सब नामों का बोध होता है। गीता में भी कहा गया है कि **"ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणः"** –ब्रह्मणः ओम् तत् सत् इति निर्देशः–ब्रह्म की ओर निर्देश ओम् तत् सत् इसी से किया जाता है। अर्थात् ओम् उसका नाम है और वह सत्यस्वरूप है। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि जी ने भी योग दर्शन १.१७ में कहा है कि 'तस्य वाचकः प्रणवः' उसका वाचक शब्द प्रणव अर्थात् ओम् है--अर्थात् उसका नाम प्रणव ओम् है। वेदों में ओम् यजु. ४०–१५ में मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे ओम् क्रतो स्मरः–हे क्रतोः ओम् स्मरः हे जीव तू क्रतु बन–सुकर्मा बन–यज्ञकर्मा बन और ओम् का स्मरण कर। जो ओम् का स्मरण करता है उसके लिये यह अवश्य है कि वह कर्मठ भी बने और कर्म करे तो सत् कर्म ही करे। यज्ञ कर्म ही करे और शुभ कर्मों को करे और उस सर्वरक्षक ओम् का स्मरण कर, भजन करे–गुणगान करे। यह वाक्य अनूठा है, इससे दुहरी प्रेरणा मिलती है वह यह कि मनुष्य जितना जितना कर्म करता जायेगा–सत्कर्म–शुभकर्म–यज्ञकर्म करता जायेगा उतना–उतना उसका ओम् के स्मरण में दिल लगता जायेगा–उसको उसमें रस आने लगेगा। जितना जितना वह उस दिव्य ओम् के स्मरण में आनन्द अनुभव करता जायेगा उतने उसके कर्म और भी उत्तम होते जायेंगे, निष्काम होते जायेंगे। वेद कहता है–हे क्रतो! ओम् स्मर, तू इच्छापूर्वक ओम् का स्मरण कर–हृदय की टीस के साथ ओम् का स्मरण कर–भजन कर ऐसे कि वेद के शब्दों में एक दिन तुझमें ओम् और तू 'ओम्प्रतिष्ठ' उस 'ओम्' में तू प्रतिष्ठित हो जाए और ओम् तुझ में प्रतिष्ठित हो जाए.....।

व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द 'अव रक्षण गति....' धातु से बनता है, इस के १९ अर्थ है और गति के ज्ञान–गमन प्राप्ति तीन अर्थ करें तो इसके इक्कीस अर्थ हो जाते है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसको आप्लृव्याप्तौ धातु से भी निष्पन्न होता है, ऐसा माना गया है। अकार, उकार, मकार इन तीन मात्राओं से भी ओम् शब्द बना माना जाता है। अकार से विराट् अग्नि और विश्व आदि नाम का ग्रहण होता है। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस का तथा मकार से ईश्वर आदित्य प्रज्ञा आदि का ग्रहण होता है। ये सभी नाम ओंकार से जाने जाते है और ये ईश्वर हैं, तो इस प्रकार 'ओ३म्' उस परब्रह्म परमेश्वर की बड़ी महिमा है और उसका स्मरण–भजन–चिन्तन जाप खूब करना चाहिये और इसी के संरक्षण में रहकर सदा अपने उत्थान में अग्रसर होते रहना चाहिए। दान शब्द का अपने ढंग का एक महत्व है जिसके लिये स्वतन्त्ररूप से एक पुस्तक लेखक ने लिखी है जो स्वाध्याय प्रेमी छपने पर देख सकते है। यहां तो गायत्री मन्त्र–गुरु मन्त्र के विषय में विवेचन है।

जो इस मन्त्र का मनन् चिन्तन एवं जप करते है, सर्वप्रथम हम उस सर्वरक्षक ओम् को स्मरण करते है–अपनी रक्षा के लिये उस सर्वव्यापक परब्रह्म परमेश्वर का आह्वान करते है। उससे बढ़कर कौन बुद्धिमान और शक्तिशाली और महान् कौन हो सकता है?, उससे बढ़कर कौन और सहारा हो सकता है? तभी तो उपनिषदों में कहा गया है कि– **एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परमम् एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्म लोके महीयत।**

भूः भुवः स्वः

**स्व. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार**
**पूर्व–उपकुलपति**
**गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# भज रे विश्वपतिं त्वं भज रे

भज रे 'प्राणपतिं' त्वं भज रे।
भज रे 'विश्वपतिं' त्वं भज रे।।

संसारोऽयं बहुतर–रङ्गः
विकटवारिधिर्बहुल–तरङ्गः।
क्रूरनिशाचरकृत बहु–भङ्गः,
क्रोधकाममदलोभ–प्रसङ्गः।
त्यज रे मायामोहं त्यज रे
भज रे 'प्राणपतिं' त्वं भज रे ।।१।।

मा कार्षीस्त्वं मिथ्याचारम्
मा त्याक्षीस्त्वं सत्याचारम्।
मा धाक्षीस्त्वं विद्यागारम्
मा हार्षीस्त्वं वित्तागारम्।
त्यज रे भ्रष्टाचारं त्यज रे
भज रे 'विश्वपतिं' त्वं भज रे ।।२।।

श्रुतिमन्त्रैर्वीणां झङ्कारय
प्रभुगीतेस्त्वं स्वरमुत्पादय।
चेतसि रे तरङ्गमुत्थापय
गद्गदतामात्मानं प्रापय।
त्यज रे त्वं सन्तापं त्यज रे
भज रे 'प्राणपतिं' त्वं भज रे ।।३।।

यमनियमासनप्राणान् साधय
प्रज्ञाध्यानसमाधीन् धारय।
आत्मन् चित्तनिरोधं कुरु रे
प्रणवजपे त्वं हृदयं कुरु रे।
त्यज योगप्रत्यूहांस्त्वं रे
भज रे 'विश्वपतिं' त्वं भज रे ।।४।।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगाङ्गानुष्ठानाद् दीप्तिं
ज्ञानस्य त्वं सद्यो धारय।
वितर्कबाधने प्रतिपक्षं च
योगाभ्यासे सततं भावय।
त्यज रे रागं द्वेषं त्यज रे
भज रे 'प्राणपतिं' त्वं भज रे ।।५।।

कायेन्द्रियशुद्धिं त्वं तपसा
समाधिसिद्धिमीश–प्रणिधानात्।
प्राणायामविलासाच्च त्वं
कुरु प्रकाशावरणविनाशम्।
त्यज रे त्वं 'व्युत्थानं' त्यज रे
भज रे 'विश्वपति' त्वं भज रे ।।६।।

कुरु रे धर्माधर्मविवेकम्
धारय त्वं चित्ते वैराग्यम्।
योगविभूतिपदं चारुह्य
तस्माद् ध्यानं स्वयं निवारय।
त्यज रे व्यर्थप्रलापं त्यज रे
भज रे 'प्राणपतिं' त्वं भज रे ।।७।।

प्रज्ञालोकं 'संयम' विजयाद्
ज्योतिष्मतीं वृत्तिं च प्राप्य।
भगवत्प्राप्तिं कुरु रे साधक
योगपदात् प्राप्नुहि कैवल्यम्।
त्यज रे द्वैधं भ्रान्तिं त्यज रे
भज रे 'विश्वपतिं' त्वं भज रे ।।८।।

**आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# साहित्यसुधासिन्धोः रचयिता

# विश्वनाथदेवः

संस्कृतकाव्यशास्त्रकृत्सु विश्वनाथदेवो गुणिगणाग्रगण्योऽपि न तथा स्वानुगुणानुरूपां प्रतिष्ठां प्रसिद्धिं वा लेभे यथाः साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथः। विश्वनाथदेवस्य कृतिः साहित्यसुधासिन्धुः काव्यशास्त्रविषयको ग्रन्थो मम्मटकृतकाव्यप्रकाशसदृशः सर्वाङ्गसम्पूर्णः सकलकाव्याङ्गसमीक्षासमवेतो वर्तते। वर्तमानसमयेऽपि नाऽतिप्रसिद्धिं गतोऽयं ग्रन्थः कतिपयपुस्तकालयेषु पाण्डुलिपिरूपेण सुरक्षितोऽवर्तत। परं १९७८ तमे रिव्रष्टाब्दे जम्मूविश्वविद्यालयस्य डा. रामप्रतापनाम्नो विदुषः प्रयासैः क्षीरसागरात् पीयूषमिव प्राचीनपुस्तकालयेभ्यः समुद्धृतः प्रकाशनमवाप। प्रसिद्धेषु काव्यशास्त्रेतिहासग्रन्थेषु सूचिबद्धतामप्राप्तोऽप्ययं साहित्यसुधासिन्धुर्निजगौरवेण प्राप्तः प्रतिष्ठाम्।

## १. विश्वनाथदेवस्य परिचयः

विश्वनाथदेवस्य परिचयस्य सम्बन्धे केचन सङ्केताः समुपलभ्यन्ते। तद्यथा--

(i) विश्वनाथदेवस्य तिसृणां कृतीनां परिचयोलभ्यते – चित्रमीमांसा, मृगाङ्कलेखा साहित्यसुधासिन्धुश्च। तत्र चित्रमीमांसायामलङ्कारविवेचनं लेखकेन कृतम्। मृगाङ्कलेखा नाटिका वर्तते, साहित्यसुधासिन्धुश्च वर्तते काव्यशास्त्रविषयकः प्रौढो ग्रन्थः। मृगाङ्कलेखानाटिकायां प्रस्तावनायां साहित्यसुधासिन्धोश्च समाप्तिप्रसङ्गे विश्वनाथदेवेन स्वल्पः परिचय आत्मनः प्रस्तुतः।

(ii) मृगाङ्कलेखानाटिकाप्रस्तावनातः प्रतीयते यद् विश्वनाथोऽयं दक्षिणभारतीयो गोदावरीसरितस्तटवर्तिधारासुरनगरे जन्म लेभे। तस्य जनकस्त्रिमल्लदेवः शिवपुरीं काशीनगरीं स्वनिवासमकल्पयत्[1]। मृगाङ्कलेखानाटिकायाः लेखनसमयो वर्तते १६६४ तमो वैक्रमाब्दः।[2]

(iii) साहित्यसुधासिन्धुग्रन्थेऽपि विश्वनाथदेवेन स्वकीयः स्वल्पपरिचयः लिखितः। अष्टमतरङ्गे ग्रन्थसमाप्तिप्रसङ्गे ह्याचार्येण लिखितम्[3]--

गोदावरीसरित्तटवर्तिनी वर्तते धारासुरनगरी। तत्रत्याऽनन्तदेवात्मजेन त्रिमल्लदेवेन वाराणस्यां(सर्वार्थमुक्तिपुर्यां) स्वनिवासः कल्पितः। तस्यात्मजेन च विश्वनाथेनाऽयं ग्रन्थः (साहित्यसुधासिन्धुः) कृतः। असौ मतिमतां मनांस्यामोदेन विभृयात्। एवं च त्रिमल्लदेवतनूजविश्वनाथकृतसाहित्यसुधासिन्धावर्थालङ्कारमार्जनाऽभिधानोऽष्टमस्तरङ्गः समाप्तः। कृतिश्चायं विश्वनाथस्य। शुभं भवतु।

## २. विश्वनाथदेवस्य समयः

विश्वनाथदेवस्य कृतिषूल्लिखितैर्विवरणैः प्रतीयते यद् गुणविभूषिते महाराजविक्रमादित्ये दिवंगते समयक्रमेण १६४९ तमे वैक्रमाब्दे ह्येकादश्यां गुरुवासरे विश्वनाथेन विदुषा शिवनगर्यां वाराणस्यां



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) विश्वनाथदेवकृतैर्विवरणैः प्रतीयते—विश्वनाथः साहित्यसुधासिन्धुग्रन्थमिमं १६४९ तमे वैक्रमाब्दे (१५९२ तमे खिष्टाब्दे) लिलेख। मृगाङ्कलेखा विश्वनाथदेवेन १६६४ तमे वैक्रमाब्दे (१६०७ तमे खिष्टाब्दे) लिखिता। विवरणैरेतैरनुमीयते, यदि विश्वनाथदेवेन पञ्चाशद्वर्षवयसि साहित्यसुधाबिन्दुर्विरचितः, तदनन्तरञ्च पञ्चषष्टिवर्षायुषि मृगाङ्कलेखा विरचिता, तदनन्तरञ्च तस्य विदुषो दशवर्षं यावज्जीयनावधिर्यदि कल्प्यते, विश्वनाथदेवस्य जीवनकालः १५४२—१६१७ खिष्टाब्दमध्यवर्ती सम्भावनीयः।

(ii) भारतीयेतिहासे मुगलशासकस्य हुमायूंनरपतेः शासनकालः १५३०—१५५६ खिष्टाब्दमध्यवर्ती, अकबरशाहस्य १५५६—१६०५ खिष्टाब्दमध्यवर्ती जहानगीरसम्राजश्च शासनकालः १६०५—१६२७ खिष्टाब्दमध्यवर्ती ध्रुवमितिहासविद्भिर्गण्यते। अतो विश्वनाथदेवस्य स्थितिस्त्रयाणामेतेषां मुगलशासकानां शासनावधावासीत्।

## ३. विश्वनाथदेवस्य नामानि

साहित्यसुधासिन्धुग्रन्थरचयितृनामानि त्रिभिः प्रकारैः समुपलभ्यन्ते—विश्वनाथः, विश्वनाथः शर्मा, विश्वनाथदेवश्च। लेखकेन स्वकृतिषु त्रयाणामेव नाम्नामुल्लेखो विहितः। मृगाङ्कलेखाप्रस्तावनायामसौ स्वात्मानं "विश्वनाथ शर्मा" इति लिलेख।[४] नाटिकायाश्चतुर्थाङ्कस्य समाप्तावसौ स्वात्मानं विश्वनाथदेवमलिखत्।[५] साहित्यसुधासिन्धोरष्टमतरङ्गसमाप्तिप्रसङ्गे लेखकः स्वात्मानं विश्वनाथमलिखत्।[६]

विवरणैरेतैः प्रतीयते यद्यपि लेखकः स्वात्मानं त्रिभिः प्रकारैर्लिलेख तथापि तस्य नाम मूलतो विश्वनाथ एवाऽऽसीत्। कुलपरम्पराप्राप्तेषु नामसु देवपदप्रयोगादसौ (अनन्त देव—विमलदेव) स्वात्मात्मानं विश्वनाथदेवं जगाद।

## ४. विश्वनाथदेवस्य—कृतयः

यथा प्राग् लिखितं, विश्वनाथदेवस्य तिसृणां कृतीनां परिचयो लभ्यते—चित्रमीमांसा, मृगाङ्कलेखा,साहित्यसुधासिन्धुश्च। एतासां कृतीनां स्वल्पपरिचयोऽत्र प्रस्तोतुमुचितः।

(i) तिसृष्वेतासु कृतिषु चित्रमीमांसा वर्तमानसमये नोपलभ्यते। रचनाया अस्या संकेतो विश्वनाथदेवकृतसाहित्यसुधासिन्धोः सप्तमे तरङ्गे चित्रकाव्यविवेचनप्रसङ्गे समुपलभ्यते।[७]

(ii) मृगाङ्कलेखा चतुरङ्कविभक्ता ललिता नाटिका वर्तते। नाटिकायामस्यां कलिंगजनपदाधिपस्य पार्थिवस्य कर्पूरतिलकस्य कामरूपाधिपसुतायाश्च मृगाङ्कलेखायाः प्रणयविवाहप्रसङ्गाः कविना वर्णिताः। नाटिकाया अस्य प्रकाशनं सरस्वतीभवनटेक्स्ट बुक नं. २६ ह्यन्तर्गतं वाराणस्यां १९३१ तमे खिष्टाब्देऽभवत्। सम्पादनं चाऽत्र साहित्याचार्येण नारायणशास्त्रिणा खिस्ते महोदयेन विहितम्।

(iii) साहित्यसुधासिन्धुर्वर्तते विश्वनाथदेवस्य प्रौढा काव्यशास्त्रीया रचना। अस्य ग्रन्थस्य


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ५. साहित्यसुधासिन्धुः

विश्वनाथदेवकृतसाहित्यसुधासिन्धुग्रन्थस्य काव्यशास्त्रीयस्य प्रकाशनमर्वाचीनमेव वक्तव्यम्। ग्रन्थास्य पाण्डुलिपिषु बह्वीषु विभिन्नपुस्तकालयेषु सुरक्षितासु सतीष्वपि नाऽयं ग्रन्थो बहुकालं यावत् प्रकाशनमवाप। डा. रामप्रतापेष वेदालङ्कारेण विभिन्नपुस्तकालयेभ्यो विभिन्नसंस्करणानि संगृह्य पाठांश्च संयोज्य ग्रन्थोऽयं विस्तृतभूमिकया हिन्दीव्याख्यया च सहितः सम्पादितः। अथ च वाराणसीस्थ-भारतीयविद्याप्रकाशनसंस्थयेयं रचना १९७८ तमे रिव्रष्टाब्दे प्रकाशिता।

साहित्यसुधासिन्धुर्ध्वनिसम्प्रदायस्य संग्रहग्रन्थो गण्यते। मम्मटकृतकाव्यप्रकाशमाश्रित्य विश्वनाथदेवेनाऽस्य प्रणयनं विहितम्। अनेके समीक्षकास्तु साहित्यसुधासिन्धुं काव्यप्रकाशस्यैव परिष्कृतसंस्करणमामनन्ति। परन्तु नैषा स्थितिः सम्भावनीया। साहित्यसुधासिन्धुप्रणयने मम्मटमनुसरन्नपि विश्वनाथदेवः स्वमौलिकत्वं प्रदर्शयन् मतभेदानपि प्रकटयामास।

साहित्यसुधासिन्धौ सर्वेषामेव काव्याङ्गानां समीक्षणविधिर्विश्वनाथेनोपन्यस्तः। परं नासौ रूपकाणां (नाट्यनां) विवेचनञ्चकार सर्वेषामेव काव्याङ्गानामत्र सूक्ष्मविवेचना वर्तते। अष्टसु तरङ्गेषु विभक्तस्याऽस्य विषयवस्तु निम्नक्रमेण वर्तते –

**(i) प्रथमस्तरङ्गः**– प्रथमे तरङ्गे काव्यशास्त्रकृता विश्वनाथदेवेन मङ्गलाचरणानन्तरं काव्यप्रयोजनान्युक्त्वा काव्यलक्षणं व्याख्यातम्। काव्यलक्षणविधाने विश्वनाथो भोजमनुचकार। तदनन्तरं काव्यभेदाः प्रोक्ताः। काव्यानि त्रिविधानि भवन्ति – उत्तममध्यमाधमानि(ध्वनिगूणीभूतव्यङ्ग्यचित्राणि)। परन्त्वत्र विश्वनाथदेवस्य वचनमिदमपि वर्तते–ईदृशं भेदकरणं नोचितं न न्यायसङ्गतम्।

**(ii) द्वितीयस्तरङ्गः**– द्वितीयतरङ्गे त्रिविधशब्दानां वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानां त्रिविधार्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यनां त्रिविधानाञ्च वृत्तीनां शब्दव्यापाराणामभिध लक्षणाव्यञ्जनानां व्याख्यानमस्ति।

**(iii) तृतीयस्तरङ्गः**– तृतीयतरङ्गे ध्वनिकाव्ययोर्द्वयोर्मुख्यभेदयोर्लक्षणामूलध्वनेरभिधामूलध्वनेश्च व्याख्यानमस्ति। अथ च लक्षणामूलध्वनेर्द्वौभेदौ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ प्रोक्तौ। अभिधामूध्वनेश्चापि संलक्ष्यक्रमासंलक्ष्यक्रमौ भेदौ प्रोक्तौ। रसनिष्पत्तिप्रक्रियायाश्च विस्तरेण व्याख्या लेखकेन कृता। विश्वनाथदेवेन द्वादशरसानां विवेचनं विहितम्–शृङ्गारवीरकरुण-रौद्राद्भुतभयानकबीभत्सहास्यप्रेयोदातशान्तोद्धतानाम्। रसानां विभिन्नभेदानां विभावानुभावव्यभिचारिभावानां वर्णनं विद्यते। पुनश्च ध्वनेरेकपञ्चाशद् भेदानां सप्त भेदानां ध्वनेश्च सङ्करसंसृष्टिजन्यासंख्यभेदानां व्याख्याऽस्मिंतरङ्गे शास्त्रकृता विहिता।

**(iv) चतुर्थस्तरङ्गः**–चतुर्थे तरङ्गे गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यास्याष्टभेदानां व्याख्या वर्तते। ते च भेदा वर्तन्ते–अंगूठापराङ्गवाच्यसिद्ध्यङ्गास्फुटसन्दिग्धप्राधान्यकाक्वाक्षिप्तासुन्दरकाव्यानि। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिसम्मिततां प्रदर्श्य विश्वनाथेन चित्रकाव्यं – शब्दचित्रं वाच्यचित्रञ्च द्विविधं वर्णितम्।


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**(v) पञ्चमस्तरङ्गः**— पञ्चमे तरङ्गे काव्यदोषाणां वर्णनं वर्तते। अत्र शास्त्रकृता प्रथमं तावत् काव्यदोषसामान्यलक्षणं प्रोक्तम्। तदनन्तरं त्रयोदशपददोषाणां विंशतिवाक्यदोषाणां त्रयोविंशत्यर्थदोषाणाञ्च विवेचना वर्तते। अथ च त्रयोदशरसदोषाणामपि स्वरूपं शास्त्रकारेण व्याख्यातम्।

**(vi) षष्ठस्तरङ्गः**— षष्ठे तरङ्गे गुणसामान्यलक्षणं प्रदर्श्य विश्वनाथस्त्रीन् गुणान् प्रोवाचमाधुर्यौजःप्रसादान्। तदनन्तरमसौ गुणसम्बद्धान् रसान् गुणव्यञ्जकवर्णान् गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीः वृत्त्यः वैदर्भीगौडीपाञ्चालीर्व्याचख्यौ। अथ ग्रन्थकर्ता गुणालङ्कारप्रविभागं प्रदर्श्य दण्डिसम्मतानां दशशब्दगुणानां दशार्थगुणानां लक्षणान्युदारणानि च निर्दिदेश। असौ वामनप्रोक्तानां काव्यपाकानामपि वर्णनञ्चकार। मम्मटेन यथा प्राचीनाचार्यप्रोक्तगुणास्त्रिषु गुणेष्वन्तर्भाविताः विश्वनाथस्तत्राऽसहमतिं प्रकटयामास।

**(vii) सप्तमस्तरङ्गः**— सप्तमे तरङ्गे शब्दालङ्काराणां विवेचना वर्तते। शब्दालङ्काराः षट् सम्भवन्ति वक्रोक्त्यनुप्रासयमकश्लेषसमुच्चयचित्रालङ्काराः। अलङ्काराणामेतेषां भेदानां लक्षणान्युदाहरणानि च शास्त्रकृता सोदाहरणं सविशदं व्याख्यातानि।

**(viii) अष्टमस्तरङ्गः**— अष्टमे तरङ्गे प्रथमं तावत् प्राचीनाचार्यमम्मटादिप्रोक्तानामेकषष्ट्यलंकाराणां गणना विश्वनाथदेवेन कृता। अथोपमाद्यलङ्काराणां भेदोपभेदसहिता विवेचना विहिता। शास्त्रकृदत्र प्रसङ्गे प्रादर्शयद् यत् केषाञ्चिदलङ्काराणामन्येष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावो भवति। यथा अपह्नुतिश्लेषसमासोक्तिनिदर्शनाऽप्रस्तुप्रशंसालङ्कारा उपमायामन्तर्भवन्ति। तदनन्तरं लेखको ह्युपमादोषानुक्त्वा स्ववंशपरिचयं प्रास्तौत्।

## ६. साहित्यसुधासिन्धोः प्राचीनसंस्करणानि

साहित्यसुधासिन्धोर्न काऽपि प्राचीनटीका समुपलभ्यते। परमस्य ग्रन्थस्य तिस्रो हस्तलिखिताः प्राचीनपाण्डुलिपयः समुपलभ्यन्ते—

**(i) जम्मूसंस्करणम्**— जम्मूस्थितरघुनाथमन्दिरपुस्तकालये विद्यमानेयं पाण्डुलिपिरतिप्राचीना। १८७६ तमे खिष्टाब्दे पण्डितो ह्याशानन्दो वाराणसीं गत्वाऽस्य ग्रन्थस्य लिपिकरणकार्यं समापादयत्। पाण्डुलिपिसमाप्तिप्रसङ्गे लिखितमस्ति—"इदं पुस्तकं काशीस्थचिन्तामणिना लक्ष्मणब्रह्मचारिणे दत्तम्"।

**(ii) अलवरसंस्करणम्**— पाण्डुलिपिरियमलवरनगरस्थितप्राच्यविद्याप्रतिष्ठानशाखाकार्यालये विद्यमाना वर्तते। लिपिकालोऽस्याः विद्यते १८४७ तमः खिष्टाब्दः।

**(iii) तिरुपतिपाण्डुलिपिः**— पाण्डुलिपिरियं तिरुपतिस्थितवेङ्कटेश्वरविश्वविद्यालयस्य ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट संस्थायां सन्निहितास्ति। लिपिकालोऽस्याः वर्तते १९९८ तमो विक्रमाब्दः।

## ७. साहित्यसुधासिन्धोर्वैशिष्ट्यम्

साहित्यसुधासिन्धुः काव्यशास्त्रीयसमीक्षासिद्धान्तानां सङ्ग्रहग्रन्थो वर्तते। अत्र रुद्रटकृतकाव्यालङ्कारवन्मम्मटकृतकाव्यप्रकाशवद्विश्वनाथकृतसाहित्यदर्पणवत् सर्वेषामेव काव्याङ्गानां



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

काव्यसमालोचनासिद्धान्तो विश्वनाथेन सङ्गृहीतः समापितश्च। साम्प्रतमत्र पूर्ववर्तिनामाचार्याणां मतानि परिष्कृतरूपेण समावेशितानि। एवमत्र ग्रन्थे षोडशशताब्दिपर्यन्तं प्रचलितानां काव्यसम्प्रदायपरम्पराणां सङ्कलनं विश्वनाथेन कृतम्।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कृष्ण कुमार

**सन्दर्भाः**

१. सूत्रधारः (स्मृतिमभिनीय)– नन्विमामेव गोदावरीतीरपवित्रधारासुरनगरनिवासिनः साम्प्रतं विरचितवाराणसीवसतेस्त्रिमलदेवतनूजस्य विश्वनाथदेवशर्मणः कृतिं मृगाङ्कलेखाभिधानां नाटिकामभिनेतुमुयुक्त एवाऽस्मि। मृगाङ्कलेखा–प्रस्तावना।

२. अस्य समयश्च विक्रमसंवत्सरस्य सप्तदशशतकम्। अस्माभिरुपलब्धे प्रायशो ग्रन्थकर्त्रैव स्वयं लिखिते प्राकृतनाटिकापुस्तके संवत् १६६४ इति समयो निर्दिष्टो वर्तते।
रामप्रतापसम्पादितसाहित्यसुधासिन्धोः विषयावतरणिकायाम्, पृ. XX

३. आस्ते धारासुराख्यं नगरमतिलसत्केशवोद्दामधाम
प्रभ्राजत् कीर्तिपूरं विलसति सविधे यस्य गोदावरी सा।
तत्रत्यो नन्ददेवात्मज इह वसतिं मुक्तिपुर्यां सवर्यां
तस्याङ्गजस्योल्लसति कृतिरियं विश्वनाथाभिधस्य।।
प्रवलकर्कशतर्कविचारणोल्लसितकाव्यसुलक्षणलक्षिता।
विमलदेवतनूजविनिर्मितिर्मतिमतां वितनोतु मनोमुदम्।।

इति श्रीत्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ अर्थालङ्कारमार्जनं नामाष्टमस्तरङ्गः। समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

कृतिरियं विश्वनाथस्य। शुभं भवतु।
कीर्तिशेषं गते तैस्तैर्गुणैर्विक्रमभूभुजि
ग्रहाम्भोधिरसेन्दौ तस्मिन् सवत्सक्रमे।
एकादश्यां गुरौ स्वीयः सुधासिन्धुर्विलेखितः
पत्तने चन्द्रचूडस्य विश्वनाथेन धीमता।।

४. विमलदेवतनूजस्य विश्वनाथशर्मणः कृतिम्।

५. समाप्तेयं मृगाङ्कलेखाभिधाना नाटिका कृतिरियं विश्वनाथदेवकवेः।

६. श्रीत्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ।

७. चित्रान्तरोदारणान्यस्मत्कृतचित्रमीमांसायां द्रष्टव्यानि। साहित्यसुधासिन्धोः (७.२७९) वृत्तिभागे द्रष्टव्यानि।

८. वस्तुतः अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सायणाचार्य, पाश्चात्य वेदभाष्यकारों एवं महर्षि दयानन्द की वेद भाष्य पद्धतियां : एक अध्ययन

वेदों ने मानव मात्र को अमूल्य उपदेश दिये हैं। इन वैदिक मन्त्रों में निहित नानाविध ज्ञान को समग्र मानव समाज के लिए अत्यन्त सरल , सुस्पष्ट एवं बोधगम्य करने के लिए समय समय पर अनेक विद्वानों ने व्याख्या ग्रन्थों का प्रणयन किया । परन्तु समय के स्रोत में भाष्यकारों के सम्पूर्ण व्याख्या ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। जिन व्याख्याकारों के भाष्य आज उपलब्ध है, (अंशत: अथवा सम्पूर्ण) उनमें प्रमुख हैं—स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, सायण, उव्वट, महीधर, भरतस्वामी तथा दयानन्द। निरुक्तकार यास्क ने यद्यपि वेद का कोई स्वतन्त्र भाष्य नहीं किया, तथापि निरुक्त में विविध विषयों के ७३४ मन्त्र और ३२ शाखा मन्त्र आदि की व्याख्या उपलब्ध होती है। कुछ पाश्चात्य भाष्यकारों ने भी वेद के ऊपर भाष्य अनुवादादि कार्य किये हैं। उनमें प्रमुख हैं—ग्रिफिथ, मैक्समूलर, मैक्डानल, ओल्डेनवर्ग तथा व्हिटनी।

यहां हम केवल सायण एवं कुछ प्रमुख पाश्चात्य वेद भाष्यकारों तथा दयानन्द की वेदभाष्य पद्धतियों के विषय में संक्षेप में चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम हम सायण को ही लेते हैं।

आचार्य सायण संस्कृत के अच्छे विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण—आरण्यकों की व्याख्या लिखी है। सायणकृत वेदभाष्यों के नामोल्लेख से स्पष्टत: प्रतीत होता है कि उन्होंने चारों वेदों की संहिताओं[1] के ऊपर अपने प्रामाणिक भाष्य लिखे, तथा चारों वेदों के ब्राह्मण भाग की भी व्याख्या लिखी। शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के समग्र ब्राह्मणों पर सायण ने भी भाष्य लिखे। शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के ऊपर उनका भाष्य असम्पूर्ण उपलब्ध है। सामवेद के आठ ब्राह्मण[2] उपलब्ध होते हैं। इन आठों ब्राह्मणों पर सायण ने भाष्य लिखे। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण तथा दो आरण्यक के ऊपर सायण ने पहले ही व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद की एक ही शाखा से सम्बन्ध ब्राह्मण तथा आरण्यक[3] की व्याख्या सायण ने बनाई। कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सायणाचार्य ने तैत्तिरीय शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक के ऊपर अपने भाष्य लिखे। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य के एक विशाल भाग के ऊपर अपने विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे। यह बात सत्य है कि सायण ही एक मात्र ऐसे भाष्यकार है जो इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य लिखने में समर्थ हुए है। यही उनके भाष्यों का महत्त्व है। द्वितीयत: उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की अच्छी छानबीन की है। प्राय: प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं--कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्दस्वामी तथा माधव आदि जैसे भाष्यकारों के अर्थो को भी यथावकाश ग्रहण किया है। परवर्ती



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल में पाश्चात्य विद्वान् ही अपने भाष्य, अनुवाद आदि लिखने में समर्थ हुए हैं।[५]

सायणाचार्य के वेद भाष्यों में इतने गुण के बावजूद भी (उनके भाष्य में) उससे अधिक दोष हैं जो हम यहां संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

प्रथमतः सायण ने "याज्ञिक पद्धति"[६] को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उन्होंने वेदों की याज्ञिक कर्मकाण्डपरक व्याख्या तक ही अपने भाष्य को सीमित रखा। इसका एक भयंकर परिणाम यह निकला कि वेद की उदात्त और जीवन को उत्थान की ओर प्रेरित करने वाली शिक्षाओं को भूलकर लोग उन्हें केवल यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली वस्तु ही समझने लगे। तभी तो सायणाचार्य ने "कृण्वतो विश्वमार्यम्"[६] जैसी उच्च भावना रखने वाली ऋचा को सोमरस पीसने और छानने के कर्म में विनियुक्त किया। अर्थात् इस मन्त्र का अर्थ एवं विनियोग दोनों ही गलत हो गया। इस प्रकार **"शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि सर्वन्तु नः"**[७](आदि) मन्त्र शनि ग्रह की पूजा में प्रयुक्त होने लगा। अर्थात् याज्ञिक एवं कर्मकाण्डपरक व्याख्या से अनेक दोष उत्पन्न हो गये। मन्त्रों का गलत विनियोग होने लगा। इससे मूर्तिपूजा को बढ़ावा मिला। इसके बाद संसार में जाति की प्रथा सृष्टि हो गई। फलतः लोगों के मन में भेदभाव, घृणा, अस्पृश्यता आदि भाव पैदा हो गये, जिनका आज भी हम फल भोग रहे है। मन्त्रों का अनर्थ (करने) होने से नाना प्रकार की विकृतियां पैदा हो गई समाज में, जिससे कि (सायण के समय) स्त्री एवं शूद्र वेद पढ़ने में असमर्थ थे।

द्वितीयतः सायणाचार्य वेद को अपौरुषेय मानते हुए भी उसमें इतिहास आख्यान आदि समावेश करते है। अर्थात् सायण वेद में अनित्य इतिहास स्वीकार करते है।[८] इसका कारण है कि उन्होंने निरुक्त आदि ग्रन्थों से अधिक सहायता नहीं लेकर पुराण इतिहासादि ग्रन्थों से अधिक से अधिक सहायता लेकर मन्त्रों की व्याख्या की है। फलतः वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, इन्द्र, आदि शब्द आये है। लोग उन सबका इतिहास वेद में मानने लगे। इससे वेद का अपौरुषेयत्व अक्षुण्ण नहीं रहता। अर्थात् वेद अगर नित्य है, अपौरुषेय है, तो उसमें हम इतिहास कैसे स्वीकार कर सकते हैं। अगर वेद में अनित्य इतिहास है यह हम स्वीकार कर लेंगे तो पाश्चात्य विद्वानों की बात भी हमें माननी होगी कि वेद "ऋषि कृत" है–"मनुष्य कृत" है, एवं उसमें देव देवताओं के गीत गाये गये है। परन्तु हम यह स्वीकार नहीं कर सकते।

तृतीयतः सायण ने अनेक मन्त्रों का अर्थ अश्लील ढंग से किया है। जिन मन्त्रों का अर्थ पढ़ने में संकोच भाव आता है और उससे वेद के प्रति श्रद्धा कम हो जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि सायण ने तो इस प्रकार नग्न अर्थ को जैसे तैसे संस्कृत में लिख दिया पर उसको पढ़ने के बाद साधारण धार्मिक लोगों के मन में क्या भाव उत्पन्न होगा?, यह वे सोचने में असमर्थ रहे। हम जिन पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को असभ्य एवं नग्न मानते हैं, उस संस्कृति के विद्वान् जैसे ग्रिफिथ आदि ने इस प्रकार मन्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद करने का भी साहस नहीं किया। ऋग्वेद के X.८६ १६–१७ इन दो मन्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद न करते हुए ग्रिफिथ ने नोट में लिख दिया कि "I pass over stanzas 16 and 17, which I cannot translate into decent English"[९].



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायणाचार्य के भाष्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने यज्ञादि कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, नानाविध देवी–देवताओं की मिथ्या कल्पना तथा बहुदेवोपासना, भूतप्रेत, फलित--ज्योतिष, जात–पांत, ऊंच–नीच भेदभाव, अनैतिक आचरण, अनित्य इतिहास–आख्यान(की खोज), यज्ञ में पशुबलि, मांस–भाक्षण विधान, अभिचार, मारण उच्चाटन, वशीकरण, जादू–टोना एवं अश्लील चर्चा आदि दोष नित्य–अपौरुषेय वेद पर आक्षिप्त किये है।[१०] इससे पाश्चात्य भाष्यकारों ने अनुप्राणित होकर वेद को अनित्य, मनुष्यकृत एवं केवल ऐतिहासिक पुस्तक के रूप में स्वीकार किया है और अपने–अपने भाष्य लिखने में समर्थ हुए हैं।

सायण के वेदार्थ के सन्दर्भ में पं. बलदेव उपाध्याय लिखते है–"सायण ने याज्ञिक पद्धति को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को दृष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया। आजकल इसमें कुछ परिवर्तन करने क आवश्यकता होगी, परन्तु मार्ग यही है।..... पुन: आगे वे लिखते हैं कि सायण के अर्थ से ही हमें आज सन्तोष नहीं हो रहा है। वेद के गम्भीरता तथा रहस्यमयता के हेतु भिन्न–भिन्न युगों में नवीन व्याख्या–सम्प्रदायों का उदय होता आया है। याज्ञिक अर्थ के ऊपर आध्यात्मिक अर्थो की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलनात्मक भाषाशास्त्र से भी सहायता ली जा सकती है। वेदों का अर्थ मुख्यत: अध्यात्मपरक तथा रहस्यवादी है।"[११]

अत: इन सब अध्ययनों से सायणाचार्य की वेदभाष्य पद्धति विषयक (गुणों एवं दोषों का) ज्ञान सरलता से उपलब्ध होता है।

अब हम पाश्चात्य विद्वानों (Western Scholars) की वेदार्थ (वेदभाष्य) विषयक अवधारणाओं की चर्चा करेंगे। अर्थात् पाश्चात्य विद्वानों की वेदभाष्य पद्धति (पाश्चात्य पद्धति) की क्या महत्त्व एवं रहस्य है इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का भाष्य, अनुवाद एवं संपादनादि कार्यों में प्रशंसनीय योगदान किया है। मुख्यत: यूरोप के विद्वानों ने १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में भारतीय साहित्य से परिचय प्राप्त करना प्रारम्भ किया। १८५० ई. में विलसन (H.H. Wilson) ने सायण भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया। ग्रासमान (H. Grassman) ने १८७६–७७ में ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद जर्मन भाषा में किया । लुड्विग (A. Ludwig) ने ऋग्वेद का गद्य में अनुवाद तथा व्याख्या प्रस्तुत की। ग्रिफिथ (R.T.H. Griffith) ने वाराणसी में रहकर चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। ये सब ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित है। व्हिटनी (W.D. Whitney) ने १९०५ ई. में अथर्ववेद का टिप्पणी के साथ अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ लेनमान (C.R. Lanman) के द्वारा भूमिका के साथ कैम्ब्रिज में प्रकाशित भी हुआ है। जर्मन विद्वान् ओल्डनबर्ग (H. Oldenberg) ने ऋग्वेद पर बड़ी मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या की है तथा ऋग्वेद के छन्द तथा अन्य विषयों का भी विवेचन किया है। उनके ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। कीथ (A.B. Keith) ने तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद किया, तथा वेद के विषयों की समीक्षा करते हुए कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे। साथ–साथ इन्होंने ऋग्वेद के दोनों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ब्राह्मणों का समीक्षात्मक भूमिका के साथ अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायण के वेद भाष्य के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने अपने–अपने वेदार्थ प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। यास्क के निरुक्त को इन विद्वानों ने बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने निरुक्त की व्याख्याओं में भी कुछ दोष खोजे हैं और उनका कहना है कि इसकी व्याख्याओं या व्याख्या–पद्धति पर निर्भर रहना वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल नहीं है। वेदों के अनुवाद तथा व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों को तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है, जो निम्न प्रकार है:–

१. प्रथम वर्ग के अनुसार वेद भारतीयों की सम्पत्ति है। कारण भारत में प्राचीन काल से स्कन्दस्वामी आदि की भाष्य परम्परा प्रचलित रही है। इस प्राचीन परम्परा से अलग होकर अर्थात् इन भाष्यों की उपेक्षा करके वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की धारणाओं के आधार पर इस वर्ग के विद्वानों ने प्राचीन भारतीय भाष्यकारों के भाष्य का विविध भाषाओं में अनुवाद करना ही समुचित समझा। इन विद्वानों में प्रमुख है–आर. ग्रिफिथ, एच.एच. विल्सन एवं एफ. मैक्समूलर।

२. द्वितीय वर्ग में वे विद्वान् है, जिन्होंने प्राचीन वेदभाष्यकारों के दोष दिखला कर उनकी व्याख्याओं को हेय समझा और बतलाया कि तुलनात्मक, भाषावैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर वैदिक मन्त्रों का अर्थ सायण आदि की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। वेदार्थ की यह पद्धति समीक्षात्मक पद्धति अथवा ऐतिहासिक पद्धति के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसे विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि भारतीय व्याख्याता परम्परा का पक्षपाती होने से मूल अर्थ तक पहुंच ही नहीं सकता। अत: ब्राह्मण व्याख्याकार के ऊपर अन्ध श्रद्धा का आक्षेप लगाते हैं और रथ आदि पाश्चात्य विद्वान् उसे वेदों के अर्थ करने के लिए सर्वथा अयोग्य ठहराते हैं। और योग्य किसे समझते है?, उस पाश्चात्य विद्वान् को! जो भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होकर भी तुलनात्मक भाषाशास्त्र, मानव शास्त्र आदि विषयों की जानकारी रखता है।

३. तृतीय वर्ग निश्चित रूप से मध्यम मार्ग को ही स्वीकार करता है। इस वर्ग के विद्वानों के विचार में भारतीय भाष्यकारों का भाष्यों को पूर्णतया स्वीकार करके उसका अनुवाद करना ठीक नहीं है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से वेदों का भाष्य करते हुए भी सायण, महीधर आदि भाष्यकारों से जो सहायता मिल सकती है, वह लेनी ही चाहिए। इन मध्यम मार्गियों में प्रमुख विद्वान है–लुड्विग, पिशल एवं गैल्डनर[१२]। इस विषय में पिशल तथा गैल्डनर के कुछ विचार वैदिक स्टडीज में भी उपलब्ध होते हैं।[१३]

अब हम इन पाश्चात्य भाष्यकारों के भाष्य के माध्यम से वेदों का प्रतिपाद्य विषय क्या है? तथा इसमें किस प्रकार की विद्यायें उपलब्ध हैं, इस विषय में विहंगम दृष्टि से आलोकपात करेंगे।

सर्वप्रथम ग्रिफिथ को लेंगे, जिन्होंने चार वेदों के अनुवाद अंग्रेजी में किये। इन्हें आधुनिक युग का सायण कहा जाता है। इन्होंने सायण, महीधर आदि के वेदभाष्यों का आश्रय लिया है परन्तु इन भाष्यों में अश्लील भाष्य को सर्वदा उपेक्षा करके उन सब मन्त्रों का अनुवाद करना भी अनुचित



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझा। वे कहते हैं, ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आर्यों के भारत में पूर्ण रूप से बस जाने से पहली अवस्था को प्रकट करते हैं।[१४] उनहोंने वेबर का मत दिखलाते हुए यह भी बतलाया है कि आर्यों का उत्तरी भारत में फैलना सरस्वती के पार गंगा तक पहुंचना इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है।[१५] उनकी दृष्टि में काव्यात्मकता की अपेक्षा वेद का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है।[१६] उनके अनुसार यजुर्वेद, ऋग्वेद की अपेक्षा एक उन्नत सभ्यता एवं संस्कृति का बोध कराता है तथा सामवेद के द्वारा भारतीय आर्यों के ऋग्वेद से परवर्ती धर्मानुष्ठान के विषय में जानकारी मिलती है। अथर्ववेद के सम्बन्ध में उनका विचार है कि यह प्रार्थना सम्बन्धी ज्ञान की व्याख्या कराता है जिसमें आशीर्वाद, जादू–टोना आदि भी है। इसी प्रकार मित्रों के मंगल और शत्रुओं के विनाश आदि का भी इसमें विश्लेषण है। साथ ही परम तत्त्व ब्रह्म तथा आत्मा आदि का यहाँ निरुपण किया गया है।[१७]

इस प्रकार ग्रिफिथ साहब के अनुसार चारों वेदों से आर्यों के विभिन्न कालों के आचरण, विश्वास तथा व्यवहार आदि का बोध होता है। इन्हें ऐतिहासिक और धार्मिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए ही प्रमाण माना जा सकता है।

एफ. मैक्समूलर जर्मन के अच्छे विद्वानों में से एक हैं। वे जीवन पर्यन्त वेद के विविध विषयों का अध्ययन करते रहे तथा वैदिक साहित्य के भण्डार को अपने लेखन, सम्पादनादि कार्यों से समृद्ध करते रहे। "Sacred Books of the East" (पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला) का अनेक भागों में सम्पादन तथा सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का अनुवाद उनकी महनीय कीर्ति का उद्घोष करता है। ऋग्वेद के एक सूक्त(१०.७५) की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि यह वैदिक कवियों तथा वातावरण के विषय में हमारे धुंधले विचारों को वास्तविकता प्रदान करने में सहायक हैं। यहां वर्णित नदियां, पंजाब की असल नदियां हैं और यह काव्य एक ग्रामीण भाट के वचनों की अपेक्षा एक स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन करता है।[१८] ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि ये नदियों के व्यक्तिवाचक नाम है और इससे एक पर्याप्त, विकसित सभ्य जीवन का बोध होता है।[१९] ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५ वें सूक्त को उद्धृत करते हुए वे इस सूक्त को चुनने के दो आधार बताते हैं–एक तो यह है कि यह सूक्त वैदिक कवि के विस्तृत भौगोलिक वातावरण को दिखलाता है, दूसरा यह है कि यह सूक्त वैदिक युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालता है।[२०] इस प्रकार यह भारत के तत्कालीन निवासियों के जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। वेदोक्तधर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह विचार किया है कि वेद में एक देववाद या बहुदेववाद नहीं माना जा सकता अपितु हीनोथीज्म मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[२१] इस प्रकार मैक्समूलर वेद में इतिहास मानते हुए उसमें तत्कालीन समाज की विभिन्न अवस्थाओं के विषय में तथ्य उपलब्ध है–ऐसा विचार व्यक्त करते है। परन्तु परवर्ती समय में आये वेद भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उनके इस प्रकार वेद विषयक विचार को खण्डित किया है, जो हम आगे वर्णन करेंगे।

ए. मैक्डानल ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लन्दन में (बोडन) प्रोफेसर रहे तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष भी। वैदिक साहित्य के ऊपर उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जो आज अंग्रेजी तथा हिन्दी अनुवाद के साथ सर्वत्र उपलब्ध है। उनके द्वारा लिखे गये 'Vedic Reader' आज भी भारत में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के (संस्कृत) वेद पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। उनके अनुसार पुरातन युग की अअन्य साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचारधारा को अंकित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ(ऋग्वेद, अथर्ववेद) कहे जा सकते है, और इनका महत्त्व उन पाठकों के लिए अपरिमित है जो मानव जाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते है।[२२] ऋग्वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि ऋग्वेद के कथानक अपेक्षाकृत मानव–विकास की बहुत प्राथमिक अवस्था का निर्देशन करते हैं। उसमें पूर्वतन युगों की प्रतिच्छाया भी अंकित है।[२३] इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी उन्होंने ऋग्वेद को भारतीय इतिहास के ज्ञान का साधन बतलाया है–भारतीय आर्य उस समय आदिवासियों के साथ युद्ध में तत्पर थे, यहां उन पर की गई अनेक विजयों का वर्णन है।[२४] इस प्रकार ऐतिहासिक विवरणो के साथ–साथ वेद में भौगोलिक तथ्य भी उन्होंने स्वीकार किये हैं। उनका कहना है कि उसमें अनेक नदियों के नाम हैं, कुछ पेड़–पौधे और पक्षियों के भी नाम है।[२५] उनके अनुसार भारतीय विचार परम्परा एवं सभ्यता संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से कुछ मन्त्र तो निश्चय ही बड़े महत्त्व के हैं।[२६] उनकी दृष्टि में यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा किसी नये युग के भारत की परिस्थितियों का वर्णन करता हे–"यजुर्वेद न केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक क्षेत्र से ही हमें परिचित कराता है, अपितु भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के एक बिल्कुल नये युग की सूचना देता है।"[२७] सामवेद के सम्बन्ध में उनका कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद का इतना महत्त्व नहीं। अथर्ववेद के सम्बन्ध में उनका विचार है कि इसमें मन्त्र–तन्त्रों का एक प्रकीर्ण संग्रह है। यह वेद प्रागैतिहासिक युग की अपरिष्कृत भावनाओं से अनुप्राणित है। उन्होंने यह भी कहा है कि अथर्ववेद में ज्योतिर्विद्या, वैद्य विद्या, शाप–अभिचार इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है।[२८] इस प्रकार मैक्डानल वेदों में (नाम, जाति–वर्णो आदि का) इतिहास मानते हैं तथा वेदों की उदात्त भावनाओं से दूर रहते हैं।

ओल्डेनवर्ग भी वेद में इतिहास मानते हैं। उनके अनुसार वेद में असभ्य जातियों के विश्वास भी दृष्टिगोचर होते है।[२९] उनकी दृष्टि में वेद में एकेश्वरवाद नहीं है, अपितु बहुदेववाद है।[३०] यज्ञों तथा स्तुति–प्रार्थनाओं का उचित ढंग से अनुष्ठान करना ऋग्वेद का मुख्य उद्देश्य है इसी के चारो ओर कवियों का आध्यात्मिक जीवन घूमता है।[३१] वेद के धर्म और संस्कृति के विषय में उनका कहना है कि वेद का धर्म और पूजा–पद्धति एक और तो अतीत के असभ्य धर्म की ओर संकेत करते है। दूसरी ओर वे आगे की और भी संकेत करते हैं। अधिकांश वैदिक देवता बहुत समय से अपने मौलिक अर्थ खो चुके हैं। जैसे इन्द्र आगे गर्जन करने वाला मात्र नहीं रह गया इत्यादि। इस प्रकार ओल्डनवर्ग भी वेद में इतिहास स्वीकार करते हैं।

एम. विन्टरनिट्ज के विचारों से भले ही हम सम्पूर्णतया सहमत नहीं है फिर भी वेदों के प्रतिपाद्य विषय आदि के विषय में उनका दृष्टिकोण विद्वानों के सामने उपस्थापित करना भी जरूरी है। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद से प्रारम्भिक देव–गाथाओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। वेद के कुछ देवों तथा धार्मिक धारणाओं का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है–"प्राचीन आर्यावर्त के धार्मिक विश्वासों का प्रथम रूप जानने के लिए इन वैदिक सूक्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। काव्य दृष्टि से भी इसका विश्व साहित्य में अपना ही स्थान है।[३२] उनके अनुसार भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जानने के लिए तथा इण्डो–यूरोपियन् जातियों के गाथा–विज्ञान को समझने के लिए और विश्व भर के प्रागैतिहासिक मन को हृदयगत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़कर और कोई प्रमाण--ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं है।[३३] कुछ सूक्त विशुद्ध देव स्तुति के लिए लिखे गये है। और ये जो देव स्तुतियां हैं, उनमें प्रयुक्त देवता कोई प्राकृतिक तत्त्व भी हो सकता है। उदाहरणार्थ–इन्द्र और वृत्र के युद्ध का यथाश्रुत वर्णन करते हुए वे कहते हैं–'उसमें कोई संदेह नहीं कि इन्द्र–वृत्र के इन युद्धों में कोई बड़ी प्राकृतिक घटना ही निबद्ध है। इन देव सम्बन्धी वैदिक वर्णनों में आलंकारिक वर्णन भी है। सचमुच, यदि इन अग्निगाथाओं का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्भव कवियों के इन्हीं रूपकों तथा अन्य अलंकारों में हम पाएगें'[३४] उनके विचार से ऋग्वेद के कुछ सूक्तों से लौकिक तथा तन्त्र–मन्त्र सम्बन्धी विषयों का भी ज्ञान होता है, जैसे--द्यूत सम्बन्धी सूक्त से द्यूत के परिणाम तथा द्यूतकर की कर्मदशा का परिचय मिलता है। कुछ सूक्तों से मुर्दे को गाड़ने का संकेत मिलता है। वेद के संवाद–सूक्तों के विषय में उनका मत है–'यह संवाद साहित्य वस्तुत: भारत की प्राचीन वीरगाथा काव्य है, जिसके उदाहरण हमें अन्य देशों के साहित्य में भी मिलते है।[३५] अत: उनके विचार में वेद में काव्यात्मकता, आलंकारिता, आख्यानात्मकता होते हुए भी प्राचीन आर्यो के विश्वासो, संस्कृति और सभ्यता के विवरण प्राप्त होते हैं।'"

व्हिटनी के अनुसार वेदों में आर्यो के भारत में प्रथमत: आगमन काल के मुख्य स्थानों का वर्णन उपलब्ध होता है। उनकी दृष्टि में वेदों से प्राचीन मानव विशेषकर आर्यो के धर्म, सभ्यता, भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों आदि के विषय में कुछ सूचनाएं प्राप्त होती है।[३६]

इस प्रकार कोलब्रुक, ब्लूमफील्ड, कीथ, विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी ऐतिहासिक पद्धति को स्वीकार किया हैं तथा अपने–अपने ग्रन्थों में वेद–विषयक अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। इस सन्दर्भ में हम केवल इतना कह सकते है कि पाश्चात्य भाष्यकारों ने वेदों को समुचित ढंग से अध्ययन नहीं किया, तथा वेद के गूढ़ अर्थ को जानने के लिए यथोचित प्रयत्न भी नहीं किया है। केवल सायण, महीधर आदि जो भाष्यकारों ने भाष्य किये हैं, उसके आधार पर एवं कुछ इधर–उधर करके मन्त्रों का अर्थ लिखने में समर्थ रहे, उसमें जो अश्लील प्रतीत हआ उसके विषय में बिना विचार किये ही उसका अनुवाद करना पसन्द नहीं किया। अत: पाश्चात्य वेद भाष्य(पद्धति) से हमें कोई विशेष लाभ नहीं मिला।

अब हम महर्षि दयानन्द सरस्वती की वेदभाष्य पद्धति के विषय में संक्षेप में चर्चा करेंगे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदाध्ययन क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण योगदान देकर एक नये युग का प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने स्वल्प जीवन काल में ऋग्वेद के ७ वें मण्डल के ६२ वें सूक्त के मन्त्र तक एवं यजुर्वेद का सम्पूर्ण भाष्य किया। स्वामी जी ने पुन: प्राचीन वेदार्थ शैली की विभिन्न पद्धतियों का उद्धार किया और वेद के यथार्थ स्वरूप को हमारे सामने उपस्थित किया।

### दयानन्द की वेदभाष्य शैली

महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में अपने वेद विषयक सिद्धान्तो का निरुपण किया है। ग्रन्थ के प्रयोजन के विषय में उन्होंने कहा–"यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं में वेदों में आप से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे।"[३७] वास्तव में उन्होंने वेदों की व्याख्या के लिये जिस प्रशस्त मार्ग का अनुसरण किया था, वही वेदव्याख्यान के लिए समुचित मार्ग है। उनके अनुसार उनका भाष्य प्राचीन आचार्यों के अनुकूल और सप्रमाण है। उनके शब्दों में–

**आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।**
**तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यते तु नान्यथा।।**
**येनाधुनिक भाष्यैर्ये टीकाभिर्वेद दूषकाः।**
**दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्वयार्थं विवर्णनाः।।**
**सत्ययार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां य सनातनः।**
**ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्।।**[३८]

उन्होंने कहा कि इन ऋषि मुनियों की प्राचीन शैली के आधार पर मन्त्रों के अर्थ किये जायेंगे, जिससे आधुनिक (प्राच्य और पाश्चात्य दोनों) भाष्यों और टीकाओं के द्वारा जो वेद दूषक अन्यथा अर्थ करने से मिथ्यादोष उत्पन्न हुए है, वे सब विनष्ट हो जायेंगे एवं इस वेद भाष्य से वेद का जो सनातन सत्य अर्थ है उसका प्रकाश होगा। अर्थात् वेदों के भाष्य करने में महर्षि दयानन्द ने किसी नवीन शैली या मार्ग का अवलम्बन नहीं किया है। उनकी शैली वही है जो कि प्राचीन ऋषि आदि की सदा रहती आयी है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि ने अपनी भाष्य लिखने की शैली के विषय में कहा है-

**मन्त्रार्थ भूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।**
**पदार्थान्वय भावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः।।**

सर्वप्रथम वे मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर का संकेत देकर तत्पश्चात् मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख करते हैं। पुनः मूल मन्त्र को लिखकर उसका पद–पाठ किया गया हैं। उसके बाद वे संस्कृत में पदार्थ, अन्वय और भावार्थ लिखते हैं, पश्चात् संस्कृत भावार्थ को हिन्दी भाषा में दिया गया है।

महर्षि दयानन्द की कुछ मान्यतायें हैं जिन्हें वे वेदार्थ में अत्यन्त आवश्यक समझते हैं और वेदभाष्य करते समय उन सबका समुचित रूप से पालन भी किया हैं। उन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक मान्यता के विषय में प्राचीन ऋषियों, वेद भाष्यकारों तथा स्वयं वेद के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। संक्षेप में उनकी मान्यताएं[३९] निम्न प्रकार हैं–

वेद ईश्वर की वाणी है तथा वह सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वह ईश्वरीय ज्ञान, होने से स्वतः प्रमाण है। केवल मन्त्र भाग को ही वे वेद मानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि कृत होने से वह वेद पदवाच्य नहीं है। कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में अनित्य इतिहास है। वेद के पदों का अर्थ करने के लिए निरुक्त प्रतिपादित "यौगिक पद्धति" स्वामी जी को मान्य है। अर्थात् वे सभी शब्दों को यौगिक अथवा योगरूढ़ मानते हैं। रूढ़ शब्दों की सत्ता ये वेदों में नहीं मानते। उनके भाष्य का मुख्य आधार है, प्राचीन ब्राह्मण, निरुक्त तथा व्याकरण, जिससे वे वेद का वास्तविक अर्थ निश्चित करने में मफल



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे हैं। सायण, महीधर आदि ने इसकी बहुत कम सहायता ली है और यत्र तत्र अपनी कल्पना से ही काम चलाया है। पाश्चात्य विद्वानों के भाष्य तो सायण, महीधर आदि के अर्थों का ही अनुसरण करते हैं, अतः जो दोष सायण आदि के हैं वे सब इन भाष्यों में भी यथावत् आ गये इसमें लेश मात्र संदेह नहीं। उनके अनुसार वेद के समस्त पद यौगिक होने के कारण प्रकरण भेद से तथा आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक भेद से उनके अनेकार्थ हो सकते हैं, होते भी हैं। जैसे लौकिक संस्कृत भाषा में "अहि" सांप को कहते हैं, परन्तु वेद में इसके मेघ आदि अनेक अर्थ होते हैं। वैसे "अग्नि" शब्द से ईश्वर, आत्मा, राजा, नेता, विद्वान्, अध्यापक और भौतिक अग्नि आदि विभिन्न अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। ऋषि वाचक वशिष्ठ शब्द का अर्थ प्राण भी है–"वशिष्ठ वे प्राणः"। इस प्रकार यौगिक पद्धति को स्वीकार करने से वेदों में अनित्य इतिहास, बहुदेवोपासना, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, यज्ञों में पशुबलि, मृतक श्राद्ध, अश्लील अर्थों का प्रतिपादन, अनैतिक आचरण, छल–कपट, जादू–टोना, फलित–ज्योतिष आदि आक्षेपों से मुक्त हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु इसके अतिरिक्त वेदों की शिक्षाएं अत्यन्त पवित्र, उदात्त गुण सम्पन्न एवं सार्वभौम है। दयानन्द के अनुसार वेदों के अवयव रूप विषय तो अनेक है, परन्तु उनमें चार मुख्य है–विज्ञान, कर्म, उपासना एवं ज्ञान। स्वामी जी के अनुसार वेदभाष्य करते समय देवता के स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए ताकि सत्यार्थ प्रकट किया जा सके। अतः उन्होंने इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण आदि जड़ देवताओं की भौतिक व्याख्या में इन्हें जड़ दिखाया है और आध्यात्मिक अर्थ में इन्हें पृथक से चेतन देवता न (मानकर) दिखाकर परमेश्वर के ही विभिन्न गुण, कर्मानुसार नाम सिद्ध किये हैं अर्थात् एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। अतः उन्होंने बहुदेवतावाद सिद्धान्त का खण्डन करके एकेश्वरवाद की स्थापना की है। इस सिद्धान्त की ठोस आधारशिला हमें ऋग्वेद तथा निरुक्त में मिलती हैं। ऋग्वेद[८] में स्पष्ट उल्लेख है–"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।" दूसरी ओर निरुक्त[९] में भी निर्दिष्ट है–"महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवति।" अतएव अग्नि आदि को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना भी उचित है। महर्षि दयानन्द ने वैदिक मन्त्रों का उचित स्थान पर विनियोग करने के लिए भी निर्देश दिये हैं। उनकी एक बहुत महत्त्वपूर्ण एवं अलौकिक विशेषता रही है कि वे रचना और स्वार्थपरक महत्त्वाकांक्षा से सर्वथा विमुक्त रहे। उनकी महत् आकांक्षा और जीवन का व्रत यही रहा कि मानव समाज अपने अनादि सत्य धर्म और आचरण को पहचाने और उसके अनुसार आचरण करे। अन्ततः वे अपने लक्ष्य पथ पर चलकर वेदार्थ प्रक्रिया को एक नूतन दिशा देने में समर्थ रहे।

## सायणाचार्य तथा महर्षि दयानन्द

मध्यकालीन वेदभाष्यकारों के वेदार्थ से स्वामी दयानन्द सन्तुष्ट नहीं थे। अतः ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उन्होंने कहा है–"जो रावण, उवट, सायण, महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूल मन्त्र और ऋषि कृत व्याख्यानों से विरुद्ध है। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद वेदांग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो–जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है। और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी है कि इसमें कोई मन्त्र अपनी (कल्पित) रीति से नहीं लिखी जाती। और जो–जो भाष्य सायण महीधर आदि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानों से विरुद्ध हैं।"[४२]

सायणाचार्य कृत भाष्य के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए वे कहते हैं–जो सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जानकर यह कहा है कि सब वेद क्रिया काण्ड परक है, यह मिथ्या है, क्योंकि वेद तो सब विद्याओं से युक्त है।[४३] वैदिक मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ करने के वे विरोधी नहीं हैं, किन्तु उनकी सदा यह मान्यता है कि वेदों में जिस यज्ञ–प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है, वह किसी संकुचित कर्मकाण्ड का अर्थ देने वाली (प्रकट करने वाली) न होकर समग्र ब्रह्माण्ड का सम्यक् रूप से संचालन करने वाली ब्राह्मी शक्ति का ही प्रतीकात्मक वर्णन है। अपितु यज्ञ प्रक्रिया की इस प्रकार प्रतीकात्मक तथा आध्यात्मिकार्थक अर्थ या व्याख्या करने से दयानन्द ने यज्ञ के नाम प्रचलित नानाविध पशुहिंसा तथा उन सभी बर्बर, अनाचारपूर्ण, निरर्थक तथा क्रियाबहुल पद्धतियों का विधिवत् विरोध किया जो वेद के नाम पर प्रचलित हो गई थी। वेदभाष्य के माध्यम से स्वामी दयानन्द यह अद्भुत तथा महनीय कार्य करने में सफल रहे।

ऋग्वेद भाष्य के नमूने अंक में स्वामी जी ने कहा है कि यहां सायणाचार्य आदि ने अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, यह ठीक नहीं है।[४४] इसी प्रकार वे कहते है–इन्द्र मित्रं.....इस मन्त्र[४५] का अर्थ सायण ने अन्यथा ही किया है। जैसे कि उन्होंने 'इन्द्र' शब्द यहां विशेष्य रूप में लिया है और 'मित्र' आदि विशेषण रूप में। यह उनको बड़ा भ्रम हो गया। वस्तुत: यहां विशेष्य अग्नि शब्द है जो इन्द्र आदि विशेषणों के साथ अन्वित होकर फिर वहीं सद् वस्तु ब्रह्म का विशेषण होता है। इस प्रकार विशेष्य प्रत्येक विशेषण के प्रति बार–बार अन्वित हुआ करता है, विशेषण नहीं।[४६] इसी प्रकार जहां एक विशेष्य के शत या सहस्र विशेषण हों, वहां विशेष्य का पुन: पुन: उच्चारण होता है। विशेषण का एक बार ही, उसी प्रकार इस मन्त्र में विशेषण और विशेष्य के अभिप्राय से परमेश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया है। यह सायणाचार्य ने नहीं जाना। अत: उनसे भ्रान्ति हो गई। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है[४७], जैसे–"इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि....।"[४८] यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

ऋग्वेद में अनेक मन्त्र हैं जहां इन्द्र, वृत्र अहि आदि शब्द साथ–साथ आये हैं। जिससे सायण इन्द्र वृत्र का युद्ध, देवासुर संग्राम आदि आख्यान–परक अर्थ करते हैं। अर्थात् पौराणिक कथाओं को वैदिक मन्त्रों के साथ जोड़कर आख्यान इतिहास–परक अर्थ करते हैं। ऋग्वेद १.३२.११ में आये 'अहि गोपा:' शब्द का अर्थ सायण करते हैं–"अहिवृत्रो गोपा रक्षको यासां ता"। अर्थात् अहि–वृत्र जिसका रक्षक है। परन्तु दयानन्द इस शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं–"अहिना मेघेन गोपा गुप्ता आच्छादिता:।" अर्थात् अहि–मेघ के द्वारा आच्छादित या (सम्यक्) रक्षित। यह स्पष्ट है कि सायणाचार्य ने यहां इन्द्र शत्रु वृत्र को जलों का निरोधक या गोप्ता माना हैं, दयानन्द ने यहां वृत्र का अर्थ 'सूर्य प्रकाशावरकम् मेघम्' इस प्रकार अर्थ किया है जब कि सायण ने वृत्र को असुर मानकर आख्यान–परक अर्थ किये हैं। इस प्रकार मन्त्रों के इतिहास–परक अर्थों को लेकर दयानन्द कहते



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं–"अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहास लेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहास वर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।"[४९]

## पाश्चात्य वेदभाष्यकार तथा महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि ग्रन्थों में अनेक स्थानों में पाश्चात्य विद्वानों के वेदार्थ विषयक दोष दिखाये हैं और खण्डन भी किया हैं। सायणाचार्य, महीधर आदि के भाष्यों का दोष दिखलाते हुए उन्होंने कहा है कि सायणाचार्य आदि के भाष्य के आधार पर यूरोप देशवासियों को वेदों में भ्रान्ति हो गई–"तद् द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति।"[५०] उन्होंने अन्य स्थलों पर भी यूरोपखण्ड के विद्वानों के वेदार्थ का खण्डन किया है। ऋग्वेद भाष्य के नमूने अंक में उन्होंने अंग्रेजी भाषा की व्याख्याओं के दोषों की ओर संकेत किया है।[५१] ऋग्वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए कई स्थलों पर विल्सन के वेदार्थ का भी खण्डन किया है।[५२] आर.टी.एच. ग्रिफिथ के आक्षेपों के उत्तर में लिखे गये पत्र में उन्होंने विल्सन के साथ–साथ मैक्समूलर के भाष्यों को भी युक्तियुक्त नहीं माना। मैक्समूलर के वेदार्थ–विषयक कई मत उन्होंने प्रस्तुत किये हैं और उनका निराकरण भी किया है। यथा–मैक्समूलर के देवतावाद तथा वेदों में भौतिक देवताओं का ही पूजन आदि मत को युक्तिपूर्वक खण्डन करने में स्वामी जी समर्थ रहे हैं। उनका कहना है–'आरम्भ से लेकर अन्त तक वेदो मे एक ही ईश्वर की उपासना है।' 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनेरुत' के द्वारा मैक्समूलर ने वेद के छन्दों भाग और मन्त्रों भाग दोनों की रचना की। प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों की कृति माना है, और उनका काल परिमाण भी निश्चित किया है। परन्तु दयानन्द जी का कहना है–छन्द और मन्त्रों का भेद और भिन्न–भिन्न कालान्तर में उनकी रचना की बात युक्तिसंगत नहीं है। पूर्व एवं नूतन ऋषियों का काल भेद से अभिप्राय नहीं है।

इस प्रकार ऋग्वेद भाष्य के नमूने अंक में वेदभाष्य सम्बन्धी पत्र के उत्तर में उन्होंने ऋग्वेद के १/४/५–६ इन दोनों मन्त्रों का अंग्रेजी अनुवादक विल्सन, मैक्समूलर, वोल्लेनसन, वैनफी, स्टीवन्सन आदि के अनुवाद को (हिन्दी भाषा में) प्रस्तुत करके उन सबका निराकरण किया है।

## उपसंहार

अन्त में हम यह कह सकते है कि महर्षि दयानन्द बहुत परिश्रम, अध्ययन, समीक्षात्मक दृष्टि से वेदों का सत्यार्थ लिखने(प्रकट) में समर्थ रहे हैं, इसमें लेश मात्र संदेह नहीं है। अरविन्द के शब्दों में–"It is remarkable attempt by Swami Dayananda, the founder of Arya Samaj to re-establish the Veda as a living religious scripture, Dayananda took as his basis free use of the old Indian Philosophy which is found in **Nirukta**. Himself a great Sanskrit Scholar, he handled his materials with remarkable power and independence. Dayananda has given the clue to the linguistic search of the Rsi. and reemphasise one central idea of the Vedic religion, the idea of the one Being with the devas expressing in numerous names. He further adds: 'In the matter of Vedic Interpretation, I am convinced that whatever may be the final



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of right clue.... . He has found the keys of the doors that time had closed and rent as under the seals of the imprisored fountains."[43]

इस प्रकार सायण, पाश्चात्य वेदभाष्यकारों तथा महर्षि दयानन्द के वेदभाष्यों से यह बात साफ है कि दयानन्द का वेदभाष्य सर्वगुणों से युक्त तथा सत्यार्थ का प्रकाशक है।

डॉ. नरसिंह चरण पण्डा
शोध अधिकारी,
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र,
वाराणसी

सन्दर्भ संकेत–

१. (i) तैत्तिरीय संहिता(कृष्ण यजुर्वेद की), (ii) ऋग्वेद संहिता, (iii) सामवेद संहिता, (iv) काण्वसंहिता(शुक्लयजुर्वेदीय), (v) अथर्ववेदसंहिता।

२. (i) ताण्ड्य ब्राह्मण(पंच विंश, महाब्राह्मण), (ii) षड्विंश ब्राह्मण, (iii) सामविधान ब्राह्मण, (iv) आर्षेय ब्राह्मण, (v) देवताध्याय ब्राह्मण, (vi) उपनिषद् ब्राह्मण, (vii) संहितोपनिषद् ब्राह्मण, (viii) वंश ब्राह्मण।

३. तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक।

4. We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have gained a firm footing without his leading strings. F. Max Muller, I Introduction to the Rgveda Edn.

५. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, अध्याय–५, पृ. ८८ ।

६. ऋग्वेद, ix/६३/५ ।

७. यजुर्वेद, ३६/१२ ।

८. मध्यकालीन भाष्यकारों में प्रमुख सायणाचार्य, उवट और महीधर के भाष्य प्रमुखतया विकृत यज्ञपरक एवं आख्यानपरक थे। सुधीर कुमार गुप्त, वेदभाष्य की पद्धति को दयानन्द की देन (जयपुर, १९८०)।

९. Note on Rgveda x.86.16-17, p. 509 (Chowkhamba, Edition,5th 1971).

१०. द्रष्टव्य, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, महर्षि दयानन्द सरस्वती।

११. द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, अध्याय ५, पृ. ८८–९०, (प्रकाशक, शारदा संस्थान, वाराणसी–५, १९८९)।

१२. द्रष्टव्य, विन्टरनिट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग–१, पृ. ५४ ।

१३. द्रष्टव्य, Pischel-Geldner, Vedische studien(Vedic studies), stuftgart, 2 Vols.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1889-1897.

14. Some of its hymns being rather Indo-European than Hindu, and representing the condition of the Aryans before their final settlement in India. Vide, preface to the Hymns of the Rgveda (Chowkhamba, 5th Edition, Varanasi), p.-9

15. The gradual spread of the face from these seats towards the east, beyond the Sarasvati and over Hindustan as far as the Ganges, can be traced in the later portions of the Vedic writings almost step by step. Ibid, p. -11.

16. The great interest of the Rgveda is, in fact, Historical rather than poetical. Ibid, p. -13.

17. Preface to the Hymns of the Atharva-Veda, p.-3.

18. The Vedas (A collection of F. Max Muller's six lectures), Lecture No. 4. The Religion of the Veda, p. 96.

१९. द्र. वही पृ. ९९ ।

२०. द्र. वही पृ. १०३ ।

२१. द्र. वही पृ. ८५ ।

२२. द्र. संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्या भवन प्रकाशन, वाराणसी,१९६२) पृ. २६ ।

२३. द्र. वही, पृ. ५६ ।

24. The Historical data of the Hymns show that the Indo-Aryans were still engaged in war with the aborigines, many victories over these foes being mentioned. A Vedic Reader (Oxford University press, London,1976), Indtoduction, p.-xxvii.

२५. वही, पृ. -xxvi ।

२६. द्र. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ११२ ।

२७. वही, पृ. १३२ ।

२८. वही, पृ. १७१–१८१ ।

२९. द्र. प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग–१, मूल लेखक एम. विन्टरनिट्ज, अनुवादक लाला लाजपत राय, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६१ ।

३०. वही, पृ. ६३–६४ ।

३१. वही, पृ. ६८ ।

३२. वही, पृ. ५९ ।

३३. वही, पृ. ५६ ।

३४. वही, पृ. ६८ ।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३५. वही, पृ. ७४–८७ ।

३६. द्र. **On The Vedas** (संस्कृत पुस्तक भण्डार से प्रकाशित शोधलेख, कलकत्ता–६, १९७२) पृ. ४१–४२ ।

३७. द्र. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, दयानन्द सरस्वती (ग्रन्थ प्रयोजन)।

३८. द्र. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, भाष्यकरण शंकासमाधानादि विषय।

३९. द्र. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सत्यार्थ प्रकाश, स्वमन्तव्यअमन्तव्यप्रकाश, ऋग्वेद एवं यजुर्वेद भाष्य (दयानन्द सरस्वती)।

४०. ऋग्वेद, १.१६४.४६ ।

४१. निरुक्त, ७.४ ।

४२. द्र. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९८४), दयानन्द सरस्वती, भाष्यकरण शंकासमाधानादि विषय, पृ. ३७२ ।

४३. यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति इत्युक्तम् तदन्यथास्ति। कुतः तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। वही, पृ. ३७० ।

४४. द्र. दयानन्दीय लघुग्रन्थ संग्रह (रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७५) पृ. १४६(संस्कृत)।

४५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। (ऋग्वेद १.१६४.४६)

४६. एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ. ३६५ ।

४७. द्र. वही, पृ. ३६५(संस्कृत)।

४८. द्र. निरुक्त ७.१८ ।

४९. द्र. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

५०. द्र. वही, पृ. ३८३ ।

५१. द्र. ऋग्वेद भाष्य के नमूने का अंक, प्रथम मण्डल प्रथम सूक्त, दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह, पृ. १४६–१९० ।

५२. वही, पृ. १४७ (संस्कृत), १५३, १५५, १५७, १६१ आदि।

53. Bankim, Tilak and Dayananda by Aurobindo, p. 44.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# "विद्याष्टकम्" एक परिचय

भारत के ऋषि–मुनियों ने आदि काल से मानव को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नाम के पंचमहाव्रतों का पालन करने का उपदेश दिया है। क्योंकि इन ऋषि–मुनियों का अनुभव रहा है कि सम्पूर्ण निष्ठा के साथ इन महाव्रतों का पालन करने वाला व्यक्ति सबका मित्र बन जाता है, सबके लिए पूज्य बन जाता है, उसके मन, वचन और कार्यों की पवित्रता सबका विश्वास जीत लेती है, उसकी वाणी उपदेशामृत का रूप धारण कर लेती है, वह अद्भुत शक्ति, आदरणीय आकर्षण और आत्मबल से सम्पन्न हो जाता है, उसमें त्रिकालज्ञता, दूरदर्शिता आदि अनुपम गुण उदित हो जाते हैं, तथा वह अपने संयमित आचरण से समाज में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही एक विशिष्ट व्यक्ति हैं–आचार्य मुनिश्री १०८ विद्यासागर जी। विद्यासागर जी ने अपने गुरू आचार्य मुनिश्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में रहकर उन्हीं की भांति पंचमहाव्रतों को निष्ठापूर्वक अपनाया। इस प्रकार भारतवर्ष के मैसूर प्रान्त के बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में दिनांक १० अक्टूबर,ई. सन् १९४६ को उत्पन्न विद्याधर, दिनांक १० जून, ई. सन् १९६८ को मुनि विद्यासागर बने। बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि महाव्रती, विद्वान् आचार्य विद्यासागर जी से प्रेरणा पाकर उनके शिष्य मुनिश्री नियमसागर जी ने **"विद्याष्टकम्"** शीर्षांकित एक लघु संस्कृत काव्यकृति, उन्हीं के प्रति भक्तिभावना की अभिव्यक्ति करते हुए, निर्मित की है।

मुनिश्री नियमासागर जी प्रणीत, प्रोफेसर डा. पी.एन. कवठेकर द्वारा सम्पादित, प्रदीप जैन कासल द्वारा प्रकाशित तथा जिला गुना(म.प्र.) के ब्रह्मचारी विवेक भैया द्वारा प्रेषित "विद्याष्टकम्" को प्राप्त करके और उसका परिशीलन करके मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। इन कृति का आद्योपान्त अध्ययन करने के पश्चात् हमारी यह अवधारणा बनी है कि वर्तमान समय में यह कृति न केवल संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने में समर्थ हुई है, अपितु वर्तमान में, क्षीण होती हुई, गुरुभक्ति भावना को पुनः जाग्रित करने में भी सफल है।

शिष्य के अन्तःकरण को अज्ञानान्धकार से मुक्त करके उसमें ज्ञान की ज्योति का आधान करने वाले आचार्य/गुरू की स्तुति करने की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीनकाल से चली आ रही है। "तैत्तिरीयोपनिषद्" का वचन 'गुरूदेवो भव' इस तथ्य का प्रमाण है। वैदिककाल के पश्चात् उत्तरवैदिककाल और लौकिक संस्कृत साहित्य के रचनाकाल में भी गुरू महिमा का गान होता रहा है। हमारे संस्कृत साहित्य में अनेकत्र गुरू महिमा का उद्घोष करने वाले पद्य अथवा पद्य संग्रह मिल जाते हैं। यथा–शिवमहिम्नस्तोत्र, दुर्गासप्तशती, दामोदरस्तोत्र, ईश्वरशतक, गायत्रीलहरी, महावीरजिनस्तवन, स्तवमाला, स्तुतिकुसुमांजलि, स्तुतिविद्याजिनशतक आदि।

सदाचारी, विद्वान् और सुयोग्य शिष्य इस बात को अच्छी तरह जानता और मानता है कि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु की कृपा दृष्टि के बिना वह अपने जीवन में अभीष्ट किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी तो यही मान्यता है कि यदि ईश्वर एवं ब्रह्मलोक की प्राप्ति करनी है तो सर्वप्रथम गुरु का अभिवादन करना चाहिए, उसे प्रसन्न करने का सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए, तथा उससे लौकिक–वैदिक–आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए–

**लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथा यात्मिकमेव च ।**
**आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।।**
**इदं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।**
**गुरूशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।।**

मनुस्मृति,२/११७,२३३

**प्रसन्ने गुरौ सर्वदेवाः प्रसन्नाः, प्रसन्ने गुरौ सर्वमन्त्राः प्रसन्नाः।**
**प्रसन्ने गुरौ सर्वयोगाः प्रसन्नाः प्ररुष्टे गुरौ सर्व एते प्ररुष्टाः।।**

स्वरचित गद्यकाव्य गोपालबन्धुः पृ.सं. ७

इस प्रकार शिष्य के योगक्षेम की चिन्ता करने वाले, महाव्रतों का पालन निष्ठा से करने वाले, जीवनपथ को आलोकित करने वाले गुरुदेव के उपकार का ऋण चुकाना लौकिक शिष्य के लिए प्राय असम्भव ही है–

**विधाय नित्यं हि दयां दयालुः कृत्वा कृपां पश्च सदा कृपालुः।**
**शिष्याय बोधं हि गुरू प्रदत्ते यं निष्कृतिस्तस्य न कापि लोके।।**

स्वरचित गद्यकाव्य, गोपालबन्धुः, पृ. ३५

किन्तु मुनिश्री नियमसागर जी बड़े सामर्थ्यवान् एवं सौभाग्यशाली हैं कि उन्होंने अपने गुरु विद्यासागर जी के चरणों में, सर्वस्व समर्पण की भावना से, "विद्याष्टकम्" नामक काव्यकुसुमांजलि अर्पित करते हुए "ऋषि ऋण" नामक भारतीय संस्कृति में प्रसिद्ध रूप से मुक्त होने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। गुरुभक्ति भावना से विभोर होते हुए उन्होंने कहा है कि यक्षादि देवताओं से प्रशंसनीय, लोकहित में संलग्न, अविनाशी, महाकवि, रक्षक, अत्यन्त पवित्र गुरु (आचार्य विद्यासागर जी) की मैं सादर वन्दना करता हूँ–

**विमुक्तश्चासि वाधारनिस्तीर्णो रामकः शुचिः।**
**निरारम्भौऽसि धाताऽसि स्तुतयक्षो मरः कविः।।**

विद्याष्टकम् के अन्तर्गत, प्रशस्तिपर्व,३

मुनि नियमसागर जी इस कृति के पूर्व–"रत्नत्रयस्तुतिशतक" नामक कृति की रचना कर चुके हैं। इस कृति में सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यग्ज्ञान रूप जैन दर्शन के प्रसिद्ध तीन रत्नों की महिमा प्रस्तुत की गई है। इस कृति के अधोलिखित श्लोक–

**वाराधारर! धारावा राक्षलास! क्षलाक्षराः।**
**धालाः! नो नोऽयलाधा रक्ष नो ज्ञज्ञ नो क्षर।।**

र.त्र.स्तु.श.,श्लोक सं. १०२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अक्षरों में ही परिवर्तन करते हुए इन्हीं अक्षरों से कवि ने अपनी अद्भुत कृति "विद्याष्टकम्" की रचना की है। इसके साथ ही दिगम्बर जैनाचार्य स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रणीत "स्तुतिविद्याजिनशतक:" इस काव्यकृति का साहित्यिक प्रेरणास्रोत है। इसके पूर्व आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज एवं आचार्य विद्यासागर जी महाराज भी अपने–अपने गुरुजनों एवं आचार्यों के प्रति भक्तिभावना का प्रदर्शन अपने–अपने काव्यों के माध्यम से कर चुके हैं और आज भी जैन एवं जैनेतर विद्वान् गुरु की स्तुतिपरक कृतियां प्रस्तुत कर कर रहे हैं। यथा–पं. महेन्द्र कुमार द्वारा विरचित "श्रीज्ञानसागरदशकं स्तोत्रम्", भागचन्द्र भागवत विरचित "सुधासागर अष्टक", पं. महेन्द्र कुमार महेश विरचित "श्रीसुधासागरपंचकं स्तोत्रं" आदि।[1] किन्तु "विद्याष्टकम्" आजकल की स्तुतियों एवं आरतियों से सर्वथा भिन्न है। इस स्तुतिकाव्य को कवि नियमसागर जी ने चित्रालंकार के चमत्कार से अद्भुत बना दिया है।

चित्रालंकार शब्दालंकार का एक भेद है, जिसमें वर्णविन्यास के वैचित्र्य द्वारा वर्णों को विविध रूपों में रखते हुए, चित्रों की सृष्टि की जाती हे और रचनाकार इस अलंकार के प्रयोग से पाठक और श्रोता को चमत्कृत करने का प्रयत्न करता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इस अलंकार का प्रयोग करने से महाकवियों को रोका है क्योंकि सहृदय पाठक का मन मस्तिष्क शब्दों के चमत्कार में उलझकर क्लान्त–श्रान्त हो जाता है, फलस्वरूप रस रूप आत्मतत्त्व के संस्पर्श से वंचित हो जाता है। "विद्याष्टकम्" के आठ श्लोकों की रचना कवि नियमसागर जी ने केवल आठ अक्षरों और तीन स्वरों से की है और इन श्लोकों को वर्ण विन्यास की विशिष्ट लिपि से आठ अक्षरों और तीन स्वरों से की है और इन श्लोकों को वर्ण विन्यास की विशिष्ट लिपि से आठ चित्रबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया है। अतएव इस लघुकाय काव्यकृति को समझना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है। किन्तु कवि ने इन सभी श्लोकों की संस्कृत और हिन्दी टीका लिखने के साथ–साथ , चित्रबन्धों को समझने की भी विधि समझा दी है। इसलिए इस काव्यकृति की दुरूहता समाप्त हो गई है और यह काव्यकृति सहृदय भक्त पाठक के हृदय को छूने में समर्थ हो गई है।

कवि अपनी रचना के द्वारा "सद्य: परनिवृत्ति" रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसमें रसपोषक गुणालंकारों को प्रयुक्त करता है और इन्हीं के माध्यम से वह अपना कलाकौशल भी प्रकट करता है। अपने कलाकौशल को प्रकट करने के लिए चमत्कारयुक्त अलंकरण की प्रवृत्ति कवि में आदिकाल से ही देखी गई है। वैदिक ऋचाओं में भी अलंकारयुक्त वाणी के निदर्शन स्थान–स्थान पर मिल जाते हैं। मन्त्रदृष्टा ऋषि अर्थालंकारों के समान ही शब्दालंकारों को भी अपने सूक्तों में प्रयुक्त करते थे।[2] रामायण, महाभारत आदि प्राचीन काव्यग्रन्थों में वर्ण–कौतुक से अन्त्यानुप्रासादि अंलकारों की सृष्टि की गई है।[3] निरर्थक शब्दों से पाठकों और श्रोताओं के हृदय को आनन्दित करने का प्रयत्न किया गया है।[4] विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से वर्ण्यवस्तु के वैशिष्ट्य को व्यक्त किया गया है।[5] यमकादि अलंकारों से वर्णों की अनेकरुपेण आवृत्ति करके विशिष्ट अर्थच्छटा प्रकट की है।[6] श्लेष के माध्यम से अनेकार्थक पद्य रचनाओं से पाठक के हृदय को चमत्कृत करने का प्रयास किया है।[7] एकाक्षर, द्व्याक्षर आदि चित्रालंकार के प्रयोग से काव्य की विशिष्ट विधा का साक्षात्कार करवाया है।[8] वर्णों को लिपि के माध्यम से सर्वतोभद्रबन्ध, पयबन्धादि आकृतियों में परिणत कर दिया है।[9] संस्कृत साहित्य



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षी है कि भक्तकवि भी अन्य अलंकारों के साथ ही चित्रालंकारों का प्रयुक्त करने में बड़े सिद्धहस्त रहे हैं। इस दृष्टि से स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित "स्तुतिविद्याजिनशतक" का उदाहरण दिया जा सकता है, जो स्तोत्रसाहित्य के अन्तर्गत होने के बावजूद सर्वतोभद्र चित्रालंकार के आदिम उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध है। महाकवि ज्ञानसागर जी ने भी अपने वीरोदय महाकाव्य में 'पद्यबन्ध' द्वारा गुरु के प्रति प्रणाम निवेदन किया है।[१०] इसी प्रकार नियमसागर जी ने 'विद्याष्टकम्' के माध्यम से श्लेषानुप्राणित चित्रालंकार के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त किया है। 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लोकों को विशिष्ट लिपि के द्वारा कवि ने क्रमशः—सर्वतोभद्रबन्ध, भारतदेशबन्ध, कलशबन्ध, श्रीफलबन्ध, स्वस्तिकबन्ध, रेडक्रासबन्ध, टेप रिकार्डरबन्धः, चतुरक्षरबन्ध, इन आठ चित्रबन्धों का साधन बनाया है। इसके अतिरिक्त इन्हीं आठ चित्रबन्धों के द्वारा—सर्वतोभद्र कल्पद्रुमबन्ध, मृत्युकूपबन्ध, सिद्धचक्रबन्ध, समकोण बन्ध, रजतसंयमोत्सववर्षाकबन्ध, जन्म दिनांक बन्ध, दीक्षा दिनांक बन्ध तथा पद प्राप्ति दिनांकबन्ध—इन नौ चित्रबन्धों की संरचना की है। 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लोकों के बाद उपसंहारात्मक दो और श्लोक हैं, जिनमें कवि ने चित्रालंकार का प्रयोग न करके, माधुर्य एवं प्रसादगुण से उत्कृष्ट रूप धारण करने वाली भक्तिभावना को ही व्यक्त किया है। यथा—

विद्यासागरश्रीदेवं नित्यं संस्तौति यो मुदा।
स सम्प्राप्य सदा शुद्धिमात्मनोऽरं शिवं व्रजेत्।।

विद्याष्टकम्,उपसंहार,श्लोक सं. १

"विद्याष्टकम्" के साथ ही नियमसागर के द्वारा प्रणीत 'प्रशस्तिपर्व' के सत्रह श्लोक भी ग्राह्य है। कवि ने विद्याष्टकम् के आठों श्लोक एवं प्रशस्तिपर्व के सत्रह श्लोक— इस प्रकार से २५ श्लोकों के समूह को विशिष्ट वर्णविन्यास द्वारा 'विश्वचक्रबन्ध' के रूप में प्रयुक्त करके पाठकों को एवं सहृदय समालोचकों को आश्चर्यमिश्रित आनन्दानुभूति प्रदान की है। प्रशंसनीय तथ्य यह है कि श्लोकों की संस्कृत टीका, हिन्दी टीका, विभिन्न चित्रों की संरचना भी मुनि नियमसागर ने स्वयं ही की है।

इस प्रकार "विद्याष्टकम्" के आठ, उपसंहार के दो, मंगलाचरण का एक और 'प्रशस्तिपर्व' के सत्रह—इस प्रकार से मात्र अट्ठाइस पद्यों वाली इस सार्थक कृति के रचयिता मुनि श्री नियमसागर जी महाराज का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

लेखक द्वय
१. डॉ. हरिनारायण दीक्षित
प्राक्तन प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा
प्राक्तन अधिष्ठाता—कला संकाय,
कुमायूँ वि.वि. नैनीताल
२. डॉ. किरण टण्डन
रीडर—संस्कृत विभाग,
कुमायूँ वि.वि. नैनीताल


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. ये स्तुतियां आचार्य ज्ञानसागर प्रणीत 'वीरोदय' महाकाव्य पर आधारित संगोष्ठी के 'कीर्त्तिस्तम्भ' नामक स्मारिका में प्रसूनांजलि के नाम से संकलित हैं।

२. धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।
देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहुतभम्।। (यजुर्वेद,१/८)

३. वहन्ति वर्णन्ति नदन्ति भान्ति, ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्चरान्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः, प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः।। (वाल्मीकि रामायण)

४. रामाभिषेके मदविह्वलायाः कराच्च्युतो हेमघटस्तरुण्याः।
सोपानमासाद्य चकार शब्दं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ठं ।। (सरस्वतीकण्ठाभरण, २/उ. सं. ६५)

५. जटाकटाहसम्भ्रमं भ्रमन्निलिम्पनिर्धरी, विलोलवी चिवल्लरी विराजमानमूर्धनि।
धगद्धगद्धगज्ज्वल्लाटपट्टपावके, किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम।। (शिवताण्डवस्तोत्र,१)

६. नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपंकजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।। (शिशुपालवध, ६/२)

७. अप्रगल्भा पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालायाः कवयो, बालका इव।। (नलचम्पू, १/६)

८. न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नाननना ननु।
नुन्नो नुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुन्।। (किरातार्जुनीयम्, १५/१४)

९. सकारना नारकास कायसाद दसायका।
रसाहवा वाहसार नाद वा द दवादना।। (शिशुपालवध, १९/२७)

१०. विनयेन मानहीनं विनष्टैनः पुनस्तु नः।
मुनये नमनस्थानं ज्ञानध्यानधनं मनः।। (वीरोदय, २२/३९)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# भक्त प्रह्लाद : एक क्रान्तिकारी प्रेरणात्मक जीवन

## (ऐतिहासिक विवेचन)

कभी–कभी संसार में ऐसा भी होता है कि अत्यन्त दुष्ट एवं अत्याचारियों के यहाँ सज्जन तथा दिव्यात्माओं का जन्म हो जाता है। भक्त प्रह्लाद भी ऐसे ही तामसिक वृत्तियों के सेनापति हिरण्यकशिपु के घर में जन्मे थे। उनकी माता का नाम कयाधू था। जब हिरण्यक कठोर तप के द्वारा अपनी भौतिक शक्तियों की साधना में जुटा हुआ था और अपने को संसार का एक छत्रसम्राट् बनाने के उद्यम में लगा हुआ था–नारद जी ने कयाधू को अपने आश्रम में रखकर निर्मल भक्ति एवं सत्य धर्म का उपदेश दिया था। प्रह्लाद गर्भ में थे। मुनि जी के उपदेशों का गर्भस्थ बालक पर अप्रतिम प्रभाव पड़ा। कयाधू के चार पुत्र और एक सिंहिका नाम की पुत्री भी थी। यथा–

**हिरण्यकशिपोर्भार्याकयाधूर्नाम दानवी।**
**जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुताम्।।**
**संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च।**
**तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत्।।**

भागवत् ६.१८.१२–१३

यथा समय बालक प्रह्लाद का जन्म हुआ प्रह्लाद सबसे छोटे होते हुये भी गुणों में सबसे बड़े थे। वे सौम्य स्वभाव, सत्य प्रतिज्ञ, संत प्रकृति, जितेन्द्रिय एवं सबका आदर करने वाले थे। गरीबों पर विशेष स्नेह रखते थे। अपने इन श्लाघनीय गुणों के कारण बालपन से ही सबके प्यारे बनते गये। खेल–कूद को छोड़कर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भगवान की भक्ति में थी। किन्तु दूसरी ओर उसका पिता अपने भाई हिरण्याक्ष की मृत्यु के कारण भगवान की सत्ता से एवं उस समय के बड़े–बड़े राजाओं से द्वेष करता था।

एक बार हिरण्यक ने बड़े प्यार से अपने प्यारे पुत्र प्रह्लाद को गोद में बैठाकर पूछा–पुत्र! संसार में तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगता है? हिरण्यक सोचता था कि प्रह्लाद कहेगा कि मुझे सबसे अच्छे आप लगते हैं। किन्तु उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया, जब प्रह्लाद ने कहा पिताजी...! मुझे तो अपने और पराये के भेद के आग्रह से अलग प्रभु की भक्ति में मन को लगाना अच्छा लगता है। चाह होती है, संसार के कोलाहल से दूर प्रभु के चरणों में बैठकर ध्यान करूँ।

हिरण्यक बालक की इस बात को सुनकर बड़ा आश्चर्य चकित हुआ। अपने पुत्र को दूसरे मार्ग की ओर जाता देख ऊपर से नीचे तक जल उठा। उसका सारा शरीर क्रोध में काँपने लगा। उसका क्रोध में आना भी स्वाभाविक था। क्योंकि ईश्वर का नाम लेना तो उसकी दानवी प्रवृत्तियों के खिलाफ था। हिरण्यक की समस्त जाति ही कामासक्त थी। इन्द्रियों का वह दास था। भौतिक साधनों की उसके


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ भरमार थी। (पढ़िये भागवत के स्क. ७ की अ. ४) इस प्रकार भौतिकवाद का नग्न ताण्डव हो रहा था। भला ऐसे राक्षस वृत्तियों के राजा के राज में क्यों कर कोई भगवान का नाम लेकर बेमौत मरता। वहाँ तो आज्ञा ही सर्वोपरि थी। वह उस समय का एक सम्राट् बना हुआ था। अपने सेवकों और राज्याधिकारियों को उसका स्पष्ट आदेश था कि राष्ट्र में जहाँ धर्म, कर्म हो वर्णाश्रम धर्म का पालन हो, वह सब नष्ट कर दो। यथा–

विष्णुर्द्विज क्रिया मूलोयज्ञो धर्ममय पुमान्।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्।।

अ. २/स्क. ७/श्लो. ११

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमा: क्रिया:।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत:।।

अ. २/स्क. ७/श्लो. २

तदनन्तर उसके अनुचरों ने नगर के नगर गाँव के गाँव उजाड़ दिये, ऋषियों के आश्रम नष्ट कर दिए। हरे–भरे उद्यान काट डाले, जला डाले भयंकर मारकाट मचा दी–

इति ते भर्तृ निर्देशमादायशिरसाऽऽदृता:।
तथा प्रजानां कदनं विदधु: कदन प्रिया:।।

स्क. ७/अ. २/श्लो. १३

पुरग्रामव्रजोद्यान क्षेत्रारामाश्रमाकरान्।
खेटर्खवटघोषांश्च ददहु: पत्तनानि च।।

२/७/१४

वस्तुत: राक्षस वृत्ति के मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को सताकर सुखी होते हैं। वे जनता का नाश करने लगे। इस प्रकार हिरण्यक का राज तपने लगा। किन्तु अपने पुत्र प्रह्लाद की ओर से वह चिन्तित रहता था। उसने उसे विद्यालय पढ़ने के लिये भेजा। बालक प्रह्लाद 'षण्ड' और 'अमर्क' नामधारी गुरुओं के शिष्य बने। गुरु भी यथा नाम तथा गुण थे। वे राजा के सेवक और पराधीन थे। बालकों को राजनीति और अर्थनीति की शिक्षा के साथ–साथ हिरण्यक की विचारधारा का प्रचार करते थे। उनके पाठ का मूल आधार अपने और पराये का झूठा आग्रह था। उनकी शिक्षा राग–द्वेष से पूर्ण थी। किन्तु प्रह्लाद पर माता के नारद मुनि के आश्रम में निवास के कारण आध्यात्मिक संस्कार इतने गहरे जमे हुये थे कि गुरुओं की अधूरी उल्टी शिक्षा भी उन पर अपना कोई प्रभाव न जमा सकी। वे गुरुओं को ही सत्य मार्ग बताने लगे। गुरु यह देखकर एकदम गरज उठे। उन्होंने कहा–'खबरदार अब कभी ऐसी बात न कहना'। किन्तु प्रह्लाद नित्य ही खण्डन–मण्डन करने लगे। गुरु यह देखकर बड़े झल्लाये। भागे–भागे हिरण्यक के पास गये। प्रह्लाद के विचार की चर्चा की।

हिरण्यक बात सुनते ही आगबबूला हो गया। उसने प्रह्लाद को गोद से उठाकर पटक दिया। अनेक शंकाऐं उसके हृदय में घर कर गयी। उसने सोचा, शायद गुरुओं की दृष्टि बचाकर कोई इसे



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार की शिक्षा देता है। यथा—विष्णु पदे प्रीतिं [illegible] स्क. ७ श्लो. ७ । किन्तु अगले ही क्षण प्रह्लाद की वही रटन्त देखकर उसके नेत्र अंगारों से दहकने लगे। होठ फड़—फड़ाने लगे। उसने अनुचरों से कहा—इस कुलंगार को मेरे सामने से ले जाओ और मारो, पीटों—आहामर्षरूपाविष्ट। कषायी भूतलोचन। वध्यतामाश्यवध्यो निसारयन नैर्ऋताः। स्क.७.अ.५.श्लो. ३४ । आज्ञा सुनकर दुष्टों ने प्रह्लाद को बहुतेरा डराया, धमकाया। अनेक शारीरिक यातनाएं एवं मानसिक पीड़ायें दी। अनेक प्रलोभन भी दिए। परन्तु प्रह्लाद को ईश्वर की सत्ता मानने और उसकी भक्ति एवं प्रचार से विमुख न कर सके।

यदि हम इस कथा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा उस समय की राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में एक संगतिपरक सत्यपरक दृष्टि से देखें तो यह आस्तिक प्रवृत्तियों और नास्तिक प्रवृत्तियों का झगड़ा था। सत्ता—परिवर्तन का युद्ध था। भौतिकवाद से अहंवाद से अध्यात्मवाद की लड़ाई थी। दूसरे शब्दों में शुद्ध राष्ट्र क्रान्ति थी। क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से हिरण्यक एक छत्र सम्राट बना हुआ था। समस्त छोटे—बड़े राजा उसके आक्रोश से पीड़ित थे। अपने (लोक) अर्थात् स्थानों को छोड़कर भयभीत लुके—छिपे फिरते थे। बड़े—बड़े नगर व गाँव, आश्रम उसने उजड़वा दिए थे।

धार्मिक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से मोक्ष का तो नाम ही नहीं था। काम और अर्थ का सेवन होकर धर्म गौण बन गया था। अखण्ड भौतिकता का साम्राज्य था। ईश्वर के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न किया जा रहा था। ईश्वर की सर्वव्यापकता खतरे में पड़ी थी।

सामाजिक दृष्टि से समाज का प्रत्येक वर्ग पीड़ित था। ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ग की दुर्दशा थी। भौतिक साधनों की उपलब्धि से समाज में समान भाव नहीं थे। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, लज्जा, सम्पत्ति, तेज, स्मृति तथा सत्य सबका पतन हो गया था। वर्णाश्रम की मर्यादा का लोप था।

इस प्रकार आर्यत्व का विनाश और अनार्यत्व का खुला प्रचार व प्रसार हो रहा था। सनातन वैदिक पथ पर कुठाराघात हो रहा था। धर्मात्मा लोग व निरीह प्रजा बड़े संकट में थी। हिरण्यक के दुर्दान्त अत्याचारों से प्रजा तंग थी। समस्त राज्याध्यक्ष उसके उग्र स्वभाव से पीडित थे। यथा—"तस्योग्रदण्ड सविग्रा सर्वे लोकाः सपालकाः।" स्क.७/अ.४/श्लो.२१ । सज्जन लोग ईश्वर का स्मरण करते हुए उसके विनाश की प्रार्थना करते थे। क्षत्रिय राजा आकुल—व्याकुल थे। चुपके—चुपके अन्दर ही अन्दर एक ज्वाला भड़क रही थी। वह पुत्र पर ही अत्याचार कर रहा था। यहसब देखकर अनेक राज्याधिकारी एवं प्रजाजन प्रह्लाद समर्थक होते जा रहे थे। भगवान की भक्ति से प्रह्लाद की आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल हो गयी थी कि उसने उस भयंकर वातावरण में भी अपनी बात कहने का प्रबल प्रयास किया। पिता से लड़ाई ठान ली।

यदि संसार के चक्र को देखें और इतिहास के पन्नों पर दृष्टि दौड़ायें तो अपने देश की नहीं



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपितु विदेशों की भी ऐसी अनेक घटनायें दृष्टिगोचर होंगी। फ्रांसीसी इतिहास के पन्ने के पन्ने इन घटनाओं से भरे पड़े हैं। ऐसे क्रूर, दम्भी अत्याचारी एवं अपने को सब कुछ समझने वाले शासकों का 'महाभारत' में खुला वर्णन है। आज भी पड़ोसी देशों में प्रजाजन एवं उनसे समर्थित नेतागण डिक्टेटरों के खिलाफ जिहाद के लिए एक विस्फोट के लिए तैयार है। यह संसार का अटल नियम है कि कोई भी प्राणी जब दिव्य जनों वेद, गाय, ब्राह्मण निरीह प्रजा पर अत्याचार कर ईश्वर की सत्ता को चुनौती देता है तब उसका विनाश अवश्य होता है। वह अपने कुकर्मों के द्वारा मृत्यु का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

अन्ततोगत्वा अपने पुत्र प्रह्लाद की इन प्रवृत्तियों के कारण हिरण्यक चिन्तित रहने लगा। षण्ड और अर्मक ने उसे समझाया बुझाया कि प्रकरण भेद से हम यहां एक घटना का उल्लेख करना चाहेगें जो प्रह्लाद के साथ जोड़ी गयी है। कहते है अपने भाई हिरण्यक को चिन्तित व दुःखी देखकर 'होलिका' ने हिरण्यकशिपु से प्रह्लाद को मार डालने का एक उपाय बताया। उसके पास 'अग्नि–रक्षक' वस्त्र थे। वह उन्हें पहनकर प्रह्लाद को लेकर अग्नि में कूद पड़ी। वह खुद जल गई, प्रह्लाद बच गये। किन्तु इस कथा में कोई सार नहीं। लगता है कथा वाचकों ने कथा को चटपटी करने के लिए वैसे ही जोड़ दी है। क्योंकि श्रीभागवत् में स्पष्ट है–

**दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ।**
**हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ।।**

भा.स्क.६/अ.१८/श्लो.१७

दिती के यशस्वी हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम वाले दो पुत्र थे जो दैत्यों और दानवों में प्रसिद्ध थे। 'होलिका' नाम की कोई पुत्री या हिरण्यक की बहिन नहीं थी। खैर! तदनन्तर प्रह्लाद के प्रभाव को बढ़ता देख, चिन्ताग्रस्त होकर हिरण्यक का क्रोध सातवें आसमान पर जा पहुँचा। उसने प्रह्लाद को 'वरुण' के पाशों (अ.५/श्लो.५०) अर्थात् कारागार में प्रतिबन्धित कर दिया। उसको भूखा प्यासा रखा गया। उसे ईश्वर का नाम न लेने पर एवं विचार बदलने पर मजबूर किया गया। किन्तु प्रभु–भक्त आत्मिक शक्ति के धनी उस वीर युवक, सत्याग्रही को कोई प्रलोभन व अत्याचार सत्यमार्ग से डिगा न सके।

सत्य ही क्रान्तिकारियों ने, धर्मवीरों ने, क्या–क्या कष्ट नहीं झेलें। पर कभी सिर नहीं झुकाया। स्मरण करो–वीर हकीकत राय को, बन्दावीर वैरागी को, गुरु गोविन्द सिंह के दो नन्हें लाड़ले बेटों जोरावरसिंह व फतह सिंह को, जो धर्म की वेदी पर बलिदान हो गए। कारागार की सुदृढ़ दीवारें, चमचमाती तलवारें और लौह श्रृंखलाये भी इनके महान सत्य संकल्प को , असीम धैर्य को , महान व्रत को डिगा न सकी। वासुदेव और देवकी को कारागार में बन्दकर कंस ने महान जनक्रान्ति को जन्म दिया। कारागार की सुदृढ़ दीवारों में ही जन्में थे–'महाभारत' युद्ध के अप्रतिम सूत्रधार वीर शिरोमणि योगीराज श्रीकृष्ण जी महाराज। धार्मिक क्रान्ति के क्षेत्र वीरों ने ही सींचे है वे अमर है। उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवक प्रह्लाद भी ऐसा ही एक क्रान्ति वीर था। जिसने अपने पिता हिरण्यक की सत्ता को खुली चुनौती दी थी। क्योंकि उसने अपने आंखों से पिता द्वारा प्रजा का उत्पीड़न एवं शोषण होते हुये देखा था। आखिर कड़े पहरे में प्रह्लाद को फिर उन्हीं राजभोगी गुरुओं षण्ड और अमर्क को सौंपा गया। परन्तु प्रह्लाद अपने प्रण से कब हटने वाला था– 'न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।' धैर्यवान् पुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं हुआ करते। वह गुरुओं की अनुपस्थिति में युवक विद्यार्थियों को अपने क्रान्तिकारी विचार देने लगा। उनको एकत्र करके उसने वह सामयिक भाषण दिये कि समस्त बालक उसके प्रभाव में आने लगे। प्रजा भी उसके विचारों से अवगत होने लगी। जागृत होने लगी। क्रान्तिकारियों का एक व्यापक समूह बनने लगा। सर्वत्र उसके विचारों की गूंज होने लगी। वह कहता कि तुम लोग अपने दैत्यपने का, आसुरी सम्पत्ति का त्यागकर समस्त प्राणियों पर दया करो। प्रेम से उनकी भलाई करो। इसी से भगवान प्रसन्न होते है। यथा–

**तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।**
**आसुरं भावं उन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः।।**

अ.६ / स्क.७ / २४

दानव बन्धुओं! समस्त प्राणियों को अपने समान समझकर , सर्वत्र विराजमान, सर्वशक्तिमान् भगवान का स्मरण करो। वह अपने साथियों प्रजावर्ग से कहता कि तुम प्रभु पर श्रद्धा लाओ। मेरे समान उसकी भक्ति में मन लाओ। वे प्रभु मन की वस्तु है, हृदय की वस्तु है। यथा–

**ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।**
**आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्व भूतात्मनीश्वरे।।**

स्क.७ / अ.७ / श्लो.५३

**भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्धते वचः।**
**वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्री बालानां च मे यथा।।**

अ.७ / स्क.७ / श्लो.१७

**हि सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।**
**इति भूतानि मनसाकामैस्तैः साधुमानयेत्।।**

अ.७ / स्क.७ / श्लो ३२

वेदों में आया है कि –पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न मनसा विदुः। (अथर्व. १०.८.१४) उस प्रभु को सब आंखों से देखना चाहते हैं, मन से नहीं।

इस प्रकार उसके इन ओजस्वी विचारों का साथियों व प्रजा वर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा।(स्क. ७/अ.८/श्लो.१) अनेको ने विविध शंकाये की, उसने उनके समुचित , सामयिक उत्तर दिये। इस प्रकार उसके विचारों की धूम मच गई। प्रजा उसकी ओर होने लगी। कुछ वीर और धर्मात्मा लोग तो इसकी बांट देख रहे थे। हिरण्यक ने भी समस्त नीतियों को अपना लिया। किन्तु प्रह्लाद अपने सिद्धान्तों पर डटा रहा। जब हिरण्यक ने यह देखा तथा गुरुओं ने भी उसे बताया तो उसका रक्त


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोल उठा। वह आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद को कहा तू मिथ्या प्रचार करता है, लोगों को मुझसे फोडता है। बगावत करता है। आप भी पढ़िये और सुनिये भागवत का यह श्लोक– मूर्ख तू बड़ा उद्दण्ड हो गया है। स्वयं तो नीच है ही, अब हमारे कुल के अन्य बालकों को भी फोड़ना चाहता है। तूने बड़ी ढ़िठाई से मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है। आज तुझे यमराज के घर भेजकर इसका फल चखाता हूँ।

हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुल भेदकराधम्।
स्तब्धं मच्छासनोद्धूतं नेष्येयमक्षयम्।।

अ. ८/७/८

किन्तु उसने अपने पिता को समयोचित चेतावनी देते हुये कहा–छोटे से छोटे बड़े से बड़े जीव सब भगवान के आश्रय में हैं। मेरे और आप के ही नहीं समस्त बलों के बल है। वह सर्वशक्तिमान् प्रभु सर्वत्र है। पिताजी आप अपना यह असुरभाव छोड़ दीजिये। अपने मन को सबके प्रति समान बनाइये। मन में सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान की भक्ति है। यथा–

न केवलं में भवतश्च राजन स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।। (अ.८/स्क.७/८)
स ईश्वरः काल उरूक्रमोऽसावोजः सहः सत्ववतेन्द्रियोत्मा।। (अ.८/७/८)
जहासुरं भानमिमं त्वमात्मनः समं मनोधत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मनः उत्पथास्थितात् तद्धिहानन्तस्य महत् समर्हणम्।। (अ.८/७/१०)

तब हिरण्यक बोला तू मेरे सिवाय और किसी को जगत का स्वामी बताता है? तेरे बहकने की हद हो गई। अच्छा मेरी इस राज सभा के खम्भे में भी तेरा जगदीश्वर है? तू उसे सर्वत्र बताता है।

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते। (८/७)

प्रह्लाद ने कहा–हाँ वह सर्वत्र है किन्तु चर्म चक्षुओं से नहीं दीखता। तब प्रह्लाद को हिरण्यक पहले तो डांटता रहा और झिड़कता रहा किन्तु फिर भी प्रह्लाद अपने विचारों पर अडिग रहा। यह देखकर हिरण्यक भयंकर क्रोध से पागल हो, हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा। अभी वह प्रह्लाद पर वार करने ही वाला था कि तभी दैत्य सेनापतियों को भी भय से कंपा देने वाले उस अद्भुत और अपूर्व घोर शब्द को सुनकर हिरण्यक यह देखने लगा कि यह शब्द करने वाले कौन है? कहां से आ रहे हैं। (अ.८/स्क.७/श्लो.१७)

स विक्रमन् पुत्र वधेप्सुरोजसा
विशम्य निर्ह्रदमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तः सभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्तसुर्पेन सुरारियूधथाः।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुत: यहाँ हमें [illegible] बुद्धि पर जोर देना होगा। **प्रह्लाद समर्थक प्रजावर्ग ने भयंकर अद्भुत कोलाहल करते हुये राजसभा को घेर अन्दर प्रवेश कर एक 'नृसिंह' या 'नरसिंह' के समान पराक्रमी पुरुष ने आगे बढ़कर हिरण्यक का वध कर डाला।** बड़ी मारकाट मची। क्रान्तिवीरों को अवसर की तलाश थी ही। धर्मवीर प्रह्लाद का जय–जयकार हुआ। एक नास्तिक सत्ता का विध्वंस होकर आस्तिक सत्ता का राज्यारोहण हुआ। वैदिक पथ का पुनरुद्धार हुआ। धर्मात्मा पुरुषों ने एकत्र होकर प्रह्लाद से कहा वेदवादी मुनियों की आज्ञा में रहकर राज्य करो। यथा–

**पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभि:।** (अ.१०/स्क.९/२१)

यह है भक्तवर प्रह्लाद के भक्ति भरे श्रद्धामय क्रान्तिपूर्ण जीवन की अद्भुत चौका देने वाली प्रेरणादायी संगतिपूर्ण वैज्ञानिक अमर कहानी। यों नमक–मिर्च मिलाकर जैसी आप चाहें वैसी बना सकते है।

अत: आओ इस नास्तिकता और अश्रद्धा के बढ़ते हुये युग में भगवान की निर्मल भक्ति और उस परम श्रद्धा रखने का अटल व्रत लेकर पापों और दुष्कर्मों तथा दुर्भावनाओं, दुष्कामानाओं की होली जला डाले। सदाचार, संयम, सेवा, और समानता का व्रत लेकर जीवन को ऊंचा और महान बनायें। सफल बनायें। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा संसार को आल्हादित कर दें।

महावीर "नीर" विद्यालंकार
कार्य. प्रधानाचार्य
गुरूकुल कांगडी "विद्यालय–विभाग"
हरिद्वार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# योग में बहिरङ्ग अंगों की अनिवार्यता

पातञ्जल योगदर्शन में योग के आठ अङ्ग गिनाये गये हैं। इनमें समाधि अन्तिम है तथा ध्यान इससे पूर्वावस्था है। ध्यान तथा समाधि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। निर्विकल्पक ध्यान ही जब स्वरूप शून्यता की स्थिति में पहुंच जाता है, तब वही समाधि बन जाती है।[1] यह ध्यान की परिपक्वावस्था है। ये तीनो ही योग के अन्तरङ्ग अंग है जबकि शेष पांच बहिरंग हैं।[2] प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य है कि पतञ्जलि–प्रोक्त योग के आठों अंग परस्पर सम्बन्धित है। न केवल सम्बन्धित ही है, अपितु इनमें परस्पर एक तारतम्य है। प्रत्येक पूर्ववर्त्ती अंग अपने उत्तरवर्त्ती अंग में सहायक हैं। इसे इस प्रकार भी कह सकते है कि प्रत्येक उत्तरवर्त्ती अंग अपने से पूर्ववर्त्ती अंग की आवश्यक अपेक्षा रखता हैं। लेखक की मान्यता है कि समाधि की सिद्धि तक सभी अंगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये सभी सम्बन्धित एवं क्रमिक रूप में ही योगदर्शन में वर्णित है। समाधि से पूर्ववर्त्ती सातों अंग ही समाधि अथवा योग की सिद्धि में उत्तरोत्तर सहायक हैं। इनमें से किसी भी अंग की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आजकल सहज योग या अन्य नामों से योग की जो प्रक्रियाएं प्रचलित हैं, उनका मूल सम्बन्ध पातञ्जल योग से नहीं है क्योंकि इन प्रक्रियाओं में एकदम सीधे ध्यान से ही प्रारम्भ किया जाता है तथा ध्यान पर ही समाप्त भी कर दिया जाता है क्योंकि इस प्रकार की प्रक्रियाओं से आज तक तो किसी की समाधि देखी नहीं गयी है। कुण्डलिनीजागरण के नाम पर माता निर्मला देवी तथा महर्षि महेश योगी सहज योग के नाम पर ऐसी ही प्रक्रियाएं अपनाते हैं जिनमें योग के अन्य अंगों की उपेक्षा कर दी जाती है, शायद उन्हे अनावश्यक समझकर, किन्तु यह भ्रम मात्र है।

महर्षि पतञ्जलि के योग का लक्ष्य है–चित्त वृत्ति निरोध। लक्ष्य क्या, इस चित्तवृत्ति निरोध को ही वे योग नाम दे रहे है।[3] ध्यान से देखें तो इस चित्तवृत्ति निरोध में सभी योगाङ्ग प्रारम्भ से ही सहायक बन रहे हैं। ऐसा नहीं है कि यह निरोध केवल ध्यान द्वारा ही प्राप्त हो तथा इससे पूर्ववर्त्ती अन्य अंगों का लक्ष्य कोई अन्य ही हो।

व्यास जी ने क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ नामक तीन भूमियों वाले चित्त को योग के सर्वथा अयोग्य घोषित कर दिया है। केवल निरुद्ध तथा एकाग्र इन दो भूमियो को ही वे योग के अनुकूल मानते हैं।[4] इसका अभिप्राय यही है कि क्षिप्त तथा विक्षिप्त चित्त कुसंस्कारों के कारण इतने मलिन है कि वे योग की ओर अभिमुख हो ही नहीं सकते। जनसाधारण में से लगभग ८०–९० प्रतिशत व्यक्तियों की चित्तवृत्तियां इसी प्रकार की होती है। ऐसी स्थिति में ध्यान में उनकी गति हो ही नहीं सकती क्योंकि उन्होंने अपने आपको इसका पात्र नहीं बनाया है। वे इसके अधिकारी नहीं है। अधिकारी का प्रश्न तो प्रत्येक क्षेत्र में ही अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ को एक प्रकार से रोगी मन कहा जा सकता है जो योग के सर्वथा अयोग्य है। चित्त की तरह ही दोषयुक्त या रोगी शरीर भी योग मार्ग में गति नहीं कर सकता। इसीलिए पतञ्जलि ने व्याधि को योगमार्ग का प्रथम अन्तराय माना है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणा, ध्यान तथा समाधि में ही [illegible] कहते हैं क्योंकि देश विशेष में चित्त को ठहराना ही धारणा है[5] तथा इसी धारणा में प्रत्ययैकतानता होना ध्यान है[6] तथा यही ध्यान स्वरूप शून्य की स्थिति में पहुंचकर सामाधि बन जाता है।[7]।

इन तीनों से पूर्ववर्त्ती शेष पांचों अंग इन अंगों के लिए भूमिका तैयार करते हैं। वे सभी इन तीनों अंगों में सहायक हैं अथवा यह कह सकते हैं कि इन तीनों के लिए इनसे पूर्ववर्त्ती पांचों अंगों का पालन अनिवार्य है। यम–नियम आदि पांचों अंगों को साधे बिना धारणा, ध्यान तथा समाधि में गति नहीं हो सकती। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए यम आदि पांचों अंगों के फल पर विचार किया जाता है।

पतञ्जलि ने यम तथ नियम नामक योगांगों का फल समुचित रूप में न बतलाकर इनके प्रत्येक अंग का फल भी पृथक–पृथक कहा है। नियमों में शौच का फल बतलाते हुए वे कहते है कि इससे अपने अंगों के प्रति भी जुगुप्सा भाव जगता है। फलतः दूसरों के शरीर के साथ असंसर्ग की भावना उत्पन्न होती है।[8] दूसरों के शरीर को सुन्दर तथा कमनीय मानकर ही तो उनके प्रति संसर्ग की भावना उत्पन्न होती है तथा यही भावना अनर्थों का मूल है। इसके रहते ध्यान सिद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि चित्त तो संसर्ग भावना से परिपूर्ण है। यहीं पर व्यास जी एक श्लोक भी उपस्थित करते है कि पण्डित लोग इसे अपवित्र समझते है। अपने तथा अन्यों के शरीर को पवित्र तथा सुखकर मानकर ही तो उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है जिसके रहते ध्यान लग ही नहीं सकता। अतः शौच नामक प्रथम अंग का कार्य इसी आसक्ति को हटाना है। द्वितीय अंग सन्तोष से चित्त की अमर्यादित वृत्तियों का शमन होकर शान्ति मिलती है।

इनके पश्चात् तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान नामक तीनों ही नियम अति महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए अलग से पतञ्जलि ने क्रियायोग के नाम से इन तीनों का उल्लेख करके भी इनकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। तप का फल बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि तप अशुद्धि का क्षय करने वाला है, चाहे वह अशुद्धि शरीर की हो या मन की हो।[9] यदि शरीर तथा चित्त अशुद्ध है तो योगमार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। शरीर में अशुद्धि होने से वह व्याधिग्रस्त रहेगा तथा चित्त में अशुद्धि होने से वह क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ बना रहेगा। ऐसा शरीर तथा चित्त दोनों ही योग के अयोग्य है। प्रतीत होता है कि यहां पर व्यास जी का ध्यान चित्त की अशुद्धि की ओर अधिक है। यह अशुद्धि केवल इस जन्म की नहीं अपितु जन्म–जन्मान्तर से सञ्चित है। इसे नष्ट करने का एक मात्र साधन तप है। इसीलिए व्यास जी कहते हैं–**"अनादिकर्मक्लेशवासना चित्त प्रत्युपस्थितविषयजाता याशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापयते।"** (यो.सू. २१२/का.भा.) अर्थात् अनादि काल से कर्म–क्लेश–वासना आदि की अशुद्धि तपस्या के बिना नष्ट नहीं होती। योगी के लिए चित्त के मलों का क्षालन परम आवश्यक है। इसके उपरान्त ही वह ध्यान तथा समाधि की सिद्धि कर पायेगा। योग के सबसे प्रथम अंग 'शौच' के बाह्य एवं आभ्यन्तर के रूप में दो भेद करते हुए व्यास जी ने आभ्यन्तर शौच के लाभ इस प्रकार गिनाए हैं–सत्यशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता। यहां पर उल्लिखित एकाग्रता का तात्पर्य उसी एकाग्रता से है जिसके प्राप्त होने पर चित्त योग के योग्य होता है।

नियम का चतुर्थ अंग ध्यान भी चित्त की इसी एकाग्रता में सहायक बनता हैं इसके लिए



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यास जी कहते हैं कि जप तथा भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है।[10] यहां पर व्यास जी के स्वाध्याय का अर्थ मोक्षपरक शास्त्रों[11] का अध्ययन करना रहा है[12]। उसका ही फल चित्त की एकाग्रता है।

नियमों में सबसे अन्तिम अंग ईश्वर प्रणिधान है। इसका अर्थ है--परमगुरु परमात्मा में अपने सभी कार्यों का समर्पण कर देना।[13] व्यास जी ईश्वर प्रणिधान को समाधि की सिद्धि में साक्षात् कारण मान रहे है। इस प्रकार इस प्रक्रिया को समग्र रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है--शौच तथा तप का प्रमुख प्रयोजन चित्त के मैलों का नाश करना है। इसके उपरान्त एकाग्रता प्राप्त होने पर योगी आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त करता है। तदनन्तर ईश्वर प्रणिधान योगी की समाधि में सहायक बनता है।

### यमों के प्रायोजन

हिंसा, असत्य तथा स्तेय ये तीनों ही साक्षात् पापकर्म हैं जो व्यक्ति को अधोगति को प्राप्त कराते है। इनमें लिप्त व्यक्ति निम्नतम संस्कारों से पूरित रहेगा। अतः वह योगमार्ग की ओर नहीं चल सकता। इसीलिए पतञ्जलि ने इनके त्यागने का उपदेश दिया है। परिग्रह का अर्थ है--परितोग्रह। अर्थात् विषयों का उन्मुक्त रूप में सेवन। ऐसा व्यक्ति भी योगमार्ग की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसका लक्ष्य विषय हैं, योग नहीं। इसीलिए पतञ्जलि अपरिग्रह का विधान करते हैं। इसकी व्याख्या में व्यास जी लिखते है--**'विषयाणामर्जन रक्षणक्षयसङ्गहिंसा दोषदर्शनास्वीकरणमपरिग्रहः।'** अर्थात् विषयों में रक्षण, नाश आसक्ति तथा हिंसादि दोष लगे रहते है। इसलिए उनको स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यम--नियमों के प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है--

**(क) दुष्कर्मों के निवारणार्थ--** अहिंसा, सत्य तथा अस्तेय इन तीनों का यही प्रयोजन है।
**(ख) सांसारिक पदार्थों से विरक्ति--** यह अपरिग्रह का फल है।
**(ग) चित्तमलों का क्षालन--** आन्तरिक शौच के द्वारा चित्त के मलों का क्षालन होता है।
**(घ) एकाग्रता एवं समाधि में सहायता--** आन्तरिक शौच तथा स्वाध्याय से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। आन्तरिक शौच से ही इन्द्रियों पर जय प्राप्त होती है जो कि योगी के लिए परम आवश्यक है। इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति कभी योग नहीं कर सकता। इसके बाद ईश्वर प्रणिधान समाधि की सिद्धि में सहायक बनता है। इस प्रकार सभी यम--नियम योगमार्ग के लिए अति आवश्यक एवं अपरिहेय हैं।

### प्राणायाम

योग के लिए यह अंग भी अपरिहेय है। पतञ्जलि इसका लाभ बतलाते हुए कहते हैं--**'ततः क्षीयते प्रकाशा वरणं धारणासु या योग्यता मनसः।'** (यो.सू.) पतञ्जलि ने यहां पर एक क्रम का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है कि प्राणायाम के द्वारा ही मन में धारणा की योग्यता प्राप्त होती है तथा प्रकाश के आवरक कर्म का भी क्षय होता है। इस प्रकार उपनिषदों में भी प्राण को मन की स्थिरता में सहायक बतलाया गया है। श्वेताश्वरोपनिषद् में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा दुष्ट अश्व के समान मन को स्थिर करे।[14] शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि विविध प्रकार के प्राणों का संयम करने से प्राण सुषुम्णा के मुख का भेदन करके अन्दर प्रविष्ट होता है जिससे मन स्थिर होता है।[15] गोरक्षनाथ कृत योगबीज के अनुसार तो योग करना उसी प्रकार है जैसे कि कच्चे घड़े से सागर को पार करना। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति को प्राणायाम अवश्य करना चाहिए।[16] इस प्रकार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणायाम योग का अनिवार्य अंग है।

## प्रत्याहार

पतञ्जलि के अनुसार जब इन्द्रियां विषयों के अभिमुख न होकर स्वरूप में अवस्थित रहती है, उसे प्रत्याहार कहते है।[१७] भोज के अनुसार विषयों के अभिमुख न रहने पर इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल चित्त से रहता है इसलिए वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करती हैं। जब तक इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त रहेंगी, तब तक योग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए प्रत्याहार के द्वारा उन पर नियंत्रण किया जाता है। प्रत्याहर का फल बतलाते हुए पतञ्जलि स्वयं कहते है–**'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्'**। (यो.सू.) अर्थात् प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर पूर्ण वशीकरण प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रत्याहार की सिद्धि भी धारणा आदि तीनों अंगों से पूर्व आवश्यक है। महर्षि दयानन्द ने प्रत्याहार का फल इस प्रकार स्पष्ट किया है–'जब मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा चला सकता है, फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं। और तब ही मोक्ष का भागी होता है।'[१८] शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार की कई परिभाषाएं दी गयी है। उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं–

(क) विषयों मे विचरने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।[१९]
(ख) नित्य तथा निहित कर्मों का फल त्याग ही प्रत्याहार है।[२०]
(ग) सभी विषयों से पराङ्मुख होना प्रत्याहार है।[२१]

उपनिषद् की यह परिभाषा योग दर्शन के आधार पर ही है।

## क्रियायोग

पतञ्जलि ने तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख नियमों के अन्तर्गत भी किया है। किन्तु क्रियायोग के रूप में द्वितीय पाद में पुनः इसका उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि अति महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही ऐसा किया गया है। इन तीनों के पृथक्–पृथक् फल भी पीछे कहे जा चुके है। पतञ्जलि इन तीनो का समुचित फल बतलाते हुए कहते है–**'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।'** (यो. २१२) अर्थात् यह क्रियायोग क्लेशों के तनूकाय तथा समाधि की भावना के लिए है। योगदर्शन का मूल उद्देश्य यही तो है। जब तक चित्त में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिर्निवेश नामक क्लेश विद्यमान है, तब तक समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती। क्रिया योग के द्वारा यह कार्य किया जाता है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के बिना समाधि सिद्ध नहीं हो सकती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए व्यास जी कहते है–**'नोतपस्विनो योगः सिद्धयति।'** अतपस्वी व्यक्ति का योग सिद्ध हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार अब तक यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की गयी है कि पातञ्जल योग प्रक्रिया में धारणा, ध्यान तथा समाधि से पूर्ववर्ती पांचों अङ्ग न केवल उत्तरवर्ती तीनों अङ्गों में सहायक भी हैं अपितु अनिवार्य भी है। इन सभी अंगों में एक क्रम निहित है। पहला–पहला अंग ही उत्तरवर्ती अंग के लिए भूमिका तैयार करता है। यदि पूर्ववर्ती योगागों की उपेक्षा करके सीधे ही धारणा या ध्यान में प्रवेश का यत्न किया जायेगा तो यह अनुचित है। यह पजञ्जलि को अभिमत नहीं है।

एक अन्य प्रश्न भी विचारणीय है कि कुछ लोग खान–पान की शुद्धि को योग के लिए


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक नहीं मानते। उनकी तो यहां तक भी धारणा है कि मांस भक्षण आदि कार्यों से भी योग में बाधा नहीं पड़ती। लेखक इस धारणा से असहमत है। व्यास जी ने पतञ्जलि प्रोक्त शौच के भाग किये हैं—बाह्य तथा आन्तरिक। बाह्य का स्वरूप बतलाते हुए व्यास जी कहते है कि मिट्टी—जल आदि से शुद्धि करना तथा मेध्य अर्थात् पवित्र पदार्थों का खाना ही यहां पर शौच पद द्वारा अभिप्रेत है।[22] इस प्रकार सुस्पष्ट है कि योगाभिलाषी का आहार मांस—मदिरा आदि तामसिक पदार्थों से रहित नितान्त सात्विक होना चाहिए। मन का निर्माण अन्न से ही होता है। तभी तो उपनिषदों में **'अन्नमयं हि सौम्यं मनः'** कहा गया है। यदि हमारा आहार ही तामसिक, हिंसा आदि दोषयुक्त होगा तो उसी प्रकार का मन बनेगा। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि धारणा—ध्यान—समाधि के लिए इनमें पूर्ववर्ती पांचों अंग भी अत्यावश्यक हैं।

**डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार**
**बी. २६६, सरस्वती विहार**
**दिल्ली—३४**

<u>सन्दर्भ</u>

१. तदेतार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिन समाधिः (यो.सू. ३/३)
२. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। (यो.सू.)
३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो.सू. १/२)
४. तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोसर्जनीभूतः समाधिर्न योगापक्षे वर्त्तते। यत्वेकाग्रे चेतसि.....
५. देश बन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो.सू. ३/१)
६. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो.सू. २/३)
७. तदैवार्थमात्र निर्भासं सवरूपशून्यमिव समाधिः। (यो.सू. ३/३)
८. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः। (यो.सू. २/४०)
९. कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (यो.सू. २/४३)
१०. अस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावमतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। (यो.सू. १/२२, व्यासभाष्य)
११. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरासर्वकर्मार्पणम्। (यो.सू. २/२३)
१२. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। (यो.सू. २/३२)
१३. समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। (यो.सू. ४५/२)
१४. प्राणान् सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणेनासिकयोच्छसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनोधारयेवाप्रमत्तः।। (श्वेता. २.९)
१५. शाण्डिल्योपनिषद् १/१६
१६. योगबीज, ७८/८०
१७. स्व विषयासम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (यो.सू. २/५४)
१८. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपासना प्रकरण, २०३
१९. विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहाणं प्रत्याहारः। (शाण्डि. १/६२)
२०. नित्यविहित कर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। वही, १/६९
२१. सर्वविषयाङ् मुखत्वं प्रत्याहारः। वही, १/७०
२२. तत्र शौचं मृज्जलादि जानित्तं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। (यो.सू.२/३२, व्यास भाष्य)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# वेदों में चन्द्र वर्णन

भारतीय संस्कृति का मूल वेदों को माना जाता है। माना जाता है कि वेद अपौरुषेय हैं। ऋषियों को उनका ज्ञान हुआ था। इसीलिए वह मंत्र दृष्टा ऋषि कहे जाते है। मौखिक परम्परा से आये हुए इन वेदों में ऋषियों ने विभिन्न प्रकार के देवताओं की स्तुति की है। यद्यपि कुछ देवता ऐसे भी हैं जो दैनिक जीवन से घनिष्ठता से सम्बद्ध है किन्तु उनकी उपयोगिता ने उन्हें देवता के स्थान पर स्थापित कर दिया। इन देवताओं में अग्नि, सूर्य, जल, वायु इत्यादि की गणना की जा सकती है।

वेदों में चन्द्रमा का वर्णन कतिपय सूक्तों में ही हुआ है। चन्द्रमा का तादात्म्य अधिकतर या तो सोम के साथ हुआ है या इन्द्र के साथ। सूर्य चन्द्र के संयुक्त सूक्तों के दर्शन भी होते हैं। चारों वेदों में चन्द्रमा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है–

## उत्पत्ति

ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लिखित है कि चन्द्रमा का चन्द्रत्व अथवा आह्लादकारी गुण (प्रजापति के व्यापक) मन से उत्पन्न हुआ। शीघ्र गतिवाला चन्द्रमा शुद्ध स्वरूप, सब को गति देने वाले, दुःखों के हर्त्ता तथा तीव्र प्रकाश वाले परमेश्वर के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। विराट पुरुष के नेत्रों से भी चन्द्रमा की उत्पत्ति बताई गई है। यह भी वर्णन मिलता है कि चन्द्रलोक इस सम्पूर्ण ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है।

वैदिक ऋषियों ने सभी देवताओं के ऊपर भी एक परमपिता परमेश्वर की कल्पना की थी जो इन सभी देवताओं को जन्म देने वाला, पालन करने वाला तथा संचालन करने वाला है। इन परमेश्वर का नाम कहीं प्रजापति है तो कहीं विराट् पुरुष। चन्द्रमा की उत्पत्ति इन्हीं पुरुष के नेत्रों से अथवा मन से कही जाती है।

ऋषियों की इस कल्पना में कितनी वैज्ञानिकता है। इसमें संदेह हैं चन्द्रमा की उत्पत्ति में वैज्ञानिकों की खोज अभी जारी है। इस समय तो इतना ही कहा जा सकता है कि चन्द्रमा सौर मंडल का एक ग्रह है, ऐसा शीतल ग्रह, जिस पर कुछ दिन रुका तो जा सकता है लेकिन ऑक्सीजन न होने के कारण रहा नहीं जा सकता। चन्द्रमा का व्यास कुल २,१६० मील है तथा पृथ्वी से इसकी दूरी २३९.००० मील है। किन्तु इसकी उत्पत्ति कब व कैसे हुई? यह अभी भी अनुसंधान का विषय है।

## युगल देवता

चन्द्रमा व सूर्य का ऋग्वेद में युगपत् वर्णन भी मिलता है। यह पाँच बार सूर्यमासा व तीन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार सूर्यचन्द्रमसा के रूप में वर्णित हुआ है। सूर्य के नाम से बने यहां दो यौगिक शब्द प्राप्त होते हैं। अधिकांश अवस्थाओं में इनका तात्पर्य प्रकाशमान पिण्डों से ही है। इस प्रकार वर्णन आता है कि दोनों एकान्तरित होते हुए चलते है। जिससे लोग इन्हें देख सकें। यह बृहस्पति का ही कार्य है कि सूर्य और चन्द्रमा एकान्तरित होते हुए उदित होते हैं। विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा का निर्माण किया। एक ऋषि प्रार्थना करते हैं—कि हम अपने पथों पर उसी प्रकार चले जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चलते है। जहां इस युगल का अन्य देवों के साथ आह्वान किया गया है। वहां इनका औपचारिक मूर्तिकरण कर लिया गया है।

अथर्ववेद में भी संयुक्त सूक्त प्राप्त होते हैं। कहीं सूर्यचन्द्रमसा से अभय प्रदान करने की प्रार्थना की गई है, तो कहीं वर्णन आया है कि जो ज्ञानवान् व चेतनावान् पांचों ज्ञानों के कर्त्ता आत्मा को परमेश्वर में समर्पित करता है वह इन दोनों लोकों के समान अक्षय जीवन प्राप्त करता है।

यहीं नहीं वैदिक ऋषियों ने सूर्य व चन्द्रमा की तुलना क्रीड़ा करते हुए बालकों से की है जो यज्ञ की परिक्रमा करते है। एक सभी प्राणियों का पर्यवेक्षण और दूसरा पुनः जन्म लेकर ऋतुओं का संचालन करता है।

चारों वेदों में यह तो सर्वसम्मति से माना गया है कि सूर्य व चन्द्रमा का निर्माण विधाता ने किया है। वही इन्हें कार्य करने की प्रेरणा देता है तथा उसी ने इन दोनों के अलग—अलग पथ का निर्माण किया है। संयुक्त सूक्तों में ऋषियों ने अधिकतर यही प्रार्थना की है कि वे भी इन दोनों की भांति अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर हों। अभयदान की स्तुति भी देखने को मिलती है।

वैदिक ऋषियों ने सूर्य चन्द्र के संयुक्त सम्बन्ध को सम्भवतः इसलिए भी प्रस्तुत किया क्योंकि वे इन दोनों के महत्व को जानते थे। दिन बिना सूर्य के और रात्रि बिना चन्द्रमा के सम्भव नहीं थी। सूर्य के छिपने के पश्चात् चन्द्रमा उदित होता है और चन्द्रमास्तय के पश्चात् सूर्योदय। इन दोनों के भौगोलिक, धार्मिक व ईश्वरीय महत्त्व को वे भली भांति जानते थे।

आधुनिक युग में भी कोई लेख लिखते समय अथवा कहीं भाषण देते हुए लेखक अथवा वक्ता कर्म करने की प्रेरणा सूर्य व चन्द्र से ही लेने की बात कहते है। सम्भवतः इसलिए, क्योंकि विधाता द्वारा निर्मित यही दो वस्तु सुख—दुःख, गर्मी—सर्दी अथवा समय के प्रभाव से परे है। ये दोनों अपना कर्त्तव्य निबाहने में कभी आलस्य नहीं करते हैं। सूर्य जो ताप सौ साल पहले देता था उतना ही आज भी देता है। मनुष्य के कदम पड़ने पर भी चन्द्रमा की चमक अथवा उसके घटने—बढ़ने में कोई अन्तर नहीं आया।

## सोम अर्थात् चन्द्रमा

वैदिककोत्तर साहित्य में सोम नियमित रूप से चन्द्रमा का नाम है। ऋग्वेद में वर्णन है कि यह सोम प्रकाशस्वरूप है और अन्तरिक्षवत् महान् है। हे सोम, तुम्हारा स्थान अत्यन्त गम्भीर है। हे



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोम, तेरे स्थान द्युलोक में और पृथिवी, स्वर्ग, ओषधियों और जल में है। एक सोम पृथिवी पर है और दूसरा आकाश में है।

अधिकांश विद्वान् इस बात पर सहमत है कि ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल के आधुनिकतम सूक्तों में भी सोम को चन्द्रमा के साथ समीकृत किया गया है। सर्वप्रथम ऐसे स्थल जिनमें इस समीकरण को सामान्यतया स्वीकार किया गया है वह वही है जो सूर्य कन्या सूर्या के साथ सोम के विवाह का वर्णन करते है। यहीं सोम को तारों की गोद में पड़ा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि कोई व्यक्ति उस सोम को नहीं जानता जिसे पुरोहितगण जानते हैं और जिसका उस सोम से विभेद किया गया है।

वाजसनेयीसंहिता में सोम को पितृमत् या पितरों से युक्त कहा हैं। वह पितरों का अधिपति है और उनको स्वर्ग ले जाकर देवों से मिलाता है। एक स्थान पर उसका पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश में स्थित तीन ज्योतियों का उल्लेख किया गया है। जो सम्भवत: उसके पार्थिव रस अमृतमयी वृष्टि तथा चन्द्रमा से सम्बन्धित तीन रूपों का परिचायक है।

जिस प्रकार चन्द्रमा का पितरों से सम्बन्धित बताया गया है उसी प्रकार यहां सोम को पितरों का अधिपति नियुक्त किया है। सोम भी चन्द्रमा के सामान औषधियों का स्वामी है। तीन ज्योतियों के रूप में भी सोम के रूप में चन्द्रमा की विशेषताओं का वर्णन है।

सोम चन्द्रमा तो है ही साथ ही साथ इसका वर्णन पेय पदार्थ के रूप में भी किया जाता है। यह रस बुद्धि को तीव्र करता है। यह सोमरस शहद और गाय के दूध से मिश्रित है। इन्द्र ने सोमपान करके शत्रुओं के निन्यानवें नगर ध्वस्त किए सोमरस तृप्तिकारक और हर्षदायक है। यह सोम स्वादिष्ट और मधुर है। सोम कर्मठता ज्ञान और विशिष्ट आनन्द के लिए है।

यह तो सर्वविदित है कि सोम शब्द परवर्ती संस्कृत साहित्य में चन्द्रमा के वाची है किन्तु इस मादक एवं उत्तेजक यज्ञिय पेय का आकाश में विचरण करने वाले चन्द्र मण्डल से किस प्रकार तादात्म्य हुआ यह आज भी विचार का विषय है। सम्भवत: दोनों शीतलता प्रदान करने वाले होने के कारण चन्द्रमा को भी सोम नाम दे दिया गया है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम के साथ चन्द्रमा का समीकरण अधिकता से प्राप्त होता है। वह अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्य है।

## देवता सोम

इसके अतिरिक्त सोम अथवा चन्द्रमा से अपनी कुशलता की कामना भी अनेक मंत्रों में की गई है–

हे सोम , तुम कल्याणकारी और सर्वार्थ साधक हो। तुम सज्जनों के स्वामी राजा और पापनाशक हो। तुम अपने तेज से हमारे हृदय को संतप्त न करो। सोम हमें पवित्र करें। वह मनुष्यों , गाय और घोड़ों का कल्याण करें। हे सोम, तेरे रस से कपटी व्यक्ति लाभान्वित न हो सके। हे सोम,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम दुर्भावना वाले व्यक्तियों को मार दो। हे सोम, तुम राजा के तुल्य सत्कर्म करने वाले हो। तुम सर्वज्ञ और मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा हो। हे सोम! सोम के बाधक और शत्रुजन हमें हानि न पहुँचा सके। हे सोम, तुम सभी शत्रुओं को नष्ट करो। तुम समीप और दूर के सभी शत्रुओं को मार डालो। तुम शत्रु के बल और तेज को नष्ट कर दो। हे सोम, हमें सहस्रों तेज, से युक्त ऐश्वर्य दो। हे सोम, तुम हमें दिव्य और पार्थिव धन दो। हे सोम, हमें धनयुक्त चारों समुद्र सब ओर से दो। सोम अपने भक्त को समृद्धि के लिए प्रेरित करता है। हमें सोमरस से भरी सैंकड़ों बाल्टियां प्राप्त हो। हे सोम, हमें श्रेष्ठ मन, दक्षता और कर्मठता दो। हे सोम तुम पापी की दुर्भावना को हमसे दूर रखो। हे सोम, तुम हमें सुखदायक एवं तेजोमय बल दो। हे सोम, तुम आकाश से सैंकड़ों धाराओं में वर्षा कर।

इस प्रकार सोम का वर्णन भी चन्द्रमा के समान पितर, शीतलता, औषधि, अमृतवर्षण से सम्बद्ध कर किया गया उपलब्ध होता है। सम्भवत: इसीलिए वैदिकोत्तर काल में सोम तथा चन्द्रमा का तादात्म्य कर दिया गया तथा सोम को एक अलग देवता का स्वरूप न दे कर चन्द्रमा का ही पर्याय माना गया।

## चन्द्रमा के कार्य

ऋग्वेद में वर्णन है कि चन्द्रमा समुद्र में ज्वार लाता है। सामवेद में चन्द्रमा को परमेश्वर के अधीन मानते हुए वर्णन आयाहै—कि तीनों कालों में विद्यमान परमेश्वर की संयोजक तथा विभजक शक्तियां मेघों से युक्त वायु तथा चन्द्रमा को भी जीवात्मा की रक्षा के लिए चलाती है। चन्द्रमा जो उत्तम किरणों वाला है अथवा जो क्रियावान् है, सूर्य के प्रकाश में अति शीघ्रता से घूमता है। सूर्य व चन्द्र दोनों का स्वामी ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है जो भांति—भांति के रंगवाली सूर्य और चन्द्र आदि की किरणों को जोड़ता हुआ इन लोकों में व्यापक हो रहा है। ईश्वर की हर शक्ति से वे किरणें मधुर गुणवाले और घी के समान पुष्टिकारक जल की वर्षा करती है।

औषधि को पुष्टि देने में भी चन्द्रमा का बहुत बड़ा योगदान है। गण्डमाला की चिकित्सा सूर्य व चन्द्रमा की किरणों से करनी चाहिए। रात्रि के चन्द्रातप में पड़े जल से विस्फोटकों को धोने से उसकी जलन शांत हो जाती है और विष नष्ट हो जाता है। औषधियों का सेवन तथा ऊँचे स्थल पर सूर्य और चन्द्र के प्रकाश का सेवन दीर्घ जीवन का कारण है।

सामवेद का चन्द्रमा अपना प्रभावशाली अस्तित्व नहीं रखता ऐसा प्रतीत होता है। वह पूर्णत: ईश्वर पर आधारित है उसी की इच्छा से वह गति करता है तथा अमृतवर्षण करता है। उसके स्थान पर अथर्ववेदीय चन्द्रमा अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व रखता है। उसकी किरणें वनस्पतियों अथवा औषधियों को पुष्टि प्रदान करती है।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक चन्द्रमा को सौर मंडल का एक तारा मानते है। यह भी सत्य है कि चन्द्रमा का अपना कोई प्रकाश नहीं होता अपितु वह सूर्य के प्रकाश से जगमगाता है। शीतलता प्रदान करने वाली बहुत सी औषधियों का स्वामी भी चन्द्रमा माना जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा करने



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले वैद्य चन्द्र किरणों के प्रभाव से रोगों का हनन आधुनिक युग में भी किया करते हैं।

## देवता स्वरूप

इन सबके अतिरिक्त चन्द्रमा का वर्णन वेदों में एक देवता के रूप में भी हुआ है। मंत्र द्रष्टा ऋषि प्रार्थना करते हैं कि कर्म को स्थान देने वाले सूर्य और चन्द्र अपनी शक्तियों से हमें रात्रि और दिन प्रदान करते हैं। उनका यह दान सदा रहे। इसी प्रकार हमारा भी दान सदा बना रहे।

हे चन्द्रमा, ज्ञानयुक्त पितरों के साथ प्रतिज्ञा करता हुआ जो तू सूर्य और पृथ्वी के मध्य में धर्मानुकूल आचरण से सुख का विस्तार करें। उस तेरे लिए हम लोग लेने–देने योग्य व्यवहार से सुख का विधान करें। जिससे हम लोग धनों के पालन करने वाले स्वामी हो।

जिस प्रकार चन्द्रमा हमारे लिए हमें पढ़ाने वाले ब्राह्मण और दुष्टों के नाश करने वाले क्षत्रिय कुल की रक्षा करता है, उसी प्रकार हम भी चन्द्रलोक तथा उसकी किरणों के लिए कार्य–निर्वाह पूर्वक उत्तम क्रियायें करें। ऐश्वर्य से युक्त चन्द्रमा के तुल्य शांत ज्ञान देने वाले पितर लोग शुद्ध सौ वर्ष की आयु प्रदान करे। चन्द्रमा अति बुद्धिमान, ऐश्वर्यदाता, शीतल स्वभाव वाला तथा शुद्धानन्द युक्त है उसी के समान हमारे पितामह व प्रपितामह है जो हमें चन्द्रमा के गुण धारण कराते हुए सौ वर्ष पर्यन्त आयु प्रदान करें।

वैदिक ऋषियों ने उसके नित नूतन रूप को देखकर तथा उसके प्रति मुग्ध हो कर अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है–हे चन्द्र देव! तुम शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा आदि तिथियों में एक–एक कला की वृद्धि से प्रतिदिन नवीन उत्पन्न होते रहते हो। तुम तिथियों में एक–एक कला की वृद्धि से प्रतिदिन नवीन उत्पन्न होते रहते हो। तुम तिथियों के प्रज्ञापक और रात्रियों के अग्रणी हो तुम देवताओं के लिए हविस् का विधान करते हो और हमारी आयु का संवर्धन करते हो।

वैदिक ऋषियों ने चन्द्रमा को देवता मानकर उससे जीवन की सभी कठिनाईयां दूर करने की प्रार्थना की है। हमारा मन शुद्ध हो यह धारणा चारों वेदों में प्रमुख रूप से कही गई है जैसे सूर्य व चन्द्र हमें दिन व रात्रि दान स्वरूप देते है वैसे ही हम मनुष्यों में भी धन, बुद्धि, उदार विचार, सत्कर्म, शिक्षा इत्यादि दान की भावना सदा विद्यमान रहें। वह बुद्धि का स्वामी है तथा ऐश्वर्य प्रदान कराने वाला है। पितरों से प्रार्थना की गई है कि जैसे चन्द्रमा के गुण है वैसे ही गुण वाले आप हो। उसी के जैसे गुण आप लोग हमें भी प्रदान करो। अथर्ववेद के ऋषि चन्द्र को शिशु रूप में देखकर जहां आह्लादकत्व धर्म की प्रतीति कराते हैं वहां दूसरी ओर उसके अन्य धर्मों पर भी प्रकाश डालते हैं जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। यथा तपस, हरस्, अर्चिष, शोषिच् तथा तेज से जिनसे शत्रुओं का विनाश होता है। चन्द्रमा के ये धर्म उसके सौन्दर्य के द्योतक नहीं अपितु उसके उग्र तेज के परिचायक है।

आधुनिक युग में मानव चन्द्रमा के सभी रहस्य खोलने में तत्पर है। प्राकृतिक चिकित्सक ही उसकी किरणों से लाभ उठाते है। जबकि जन साधारण उसका वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करना



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता है। चन्द्रमा का देवता–स्वरूप तो केवल भारतवर्ष की स्त्रियों के मन में समाया है जो व्रत की पारणा चन्द्रमा को अर्घ्य देकर तथा मन ही मन आयु संवर्धन की प्रार्थना करके करती है।

इस प्रकार वेदों में विभिन्न प्रकार से चन्द्रमा का वर्णन किया गया है। कहीं यह युगल देवता के रूप में वर्णित है तो कहीं सोम, इन्द्र इत्यादि से इसका तादात्म्य किया गया है। जो परवर्ती साहित्य में चन्द्रमा के पर्यायवाची ही बन गए। चारों ही वेदों में चन्द्रमा को बुद्धि प्रदान करने वाला, पितरों द्वारा पान किया जाने वाला अथवा कर्मों की प्रेरणा देने वाला सामान्य रूप से कहा गया है। किन्तु यजुर्वेद में उसका एक और रूप सामने आता है, वह है–मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पांचवे दिन चन्द्रमा में प्रवेश करना। यह कथन कितना सत्य है, यह तो संदेहास्पद ही है।

संक्षेप में चन्द्रमा का स्वतन्त्र वर्णन वेदों में अल्प मात्रा में ही हुआ है। ऋग्वेद में चन्द्रमा का तादात्म्य सोम के साथ किया गया है तथा सम्पूर्ण नवम मण्डल को चन्द्रमा को ही समर्पित माना गया है।

सामवेद का चन्द्रमा निर्बल अस्तित्व वाला है। वह पूर्णतः परमेश्वर पर अधीन है और ईश्वर की ही कृपा से वह अमृत वर्षा करता है।

यजुर्वेद में चन्द्रमा शीतलता प्रदान करने वाले के रूप में वर्णित है। वह बुद्धि का स्वामी है तथा ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है।

अथर्ववेद का चन्द्रमा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वह औषधियों को पुष्ट करने वाला है। रात्रि के चन्द्रातप में रखे जल से प्रातः काल विस्फोट को धोने से जलन शांत हो जाती है और विष नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा के प्रकाश के सेवन से जीवन दीर्घ होता है, यह बतलाया गया है।

इस प्रकार वेदों में चन्द्रमा का वर्णन औषधिपति, सोम, इन्दु इत्यादि नामों से विभिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ विद्वान् सोम को चन्द्रमा से संयुक्त ही मानते हैं अथवा चन्द्रमा का ही इतर नाम कहते हैं। तो कुछ पान करने वाले पेय पदार्थ को सोम कहते हैं। किन्तु अधिकता चन्द्रमा मानने वालों की ही है।

**डॉ. प्रीति गर्ग**
**११/१ए रेल विहार**
**मनसादेवी कॉम्पलैक्स**
**सेक्टर–४, पंचकुला**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दिव्य चक्षु कैसे पावें?

यह तो प्राय: सर्व–विदित है कि कौरवों और पाण्डवों के (महाभारत महाकाव्य में वर्णित) घोर विनाशकारी युद्ध में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी पाण्डु पुत्र अर्जुन को विपक्ष में लड़ाई के लिए तत्पर खड़े अपने ही गुरुजनों एवं सगे–सम्बन्धियों को देखकर अत्यन्त विषाद हो गया था और राज्य–संपद् के लिए वह उनको कभी भी मारना नहीं चाहता था। श्रीकृष्ण जो उसके सारथी के रूप में युद्ध–स्थली में उसके साथ थे, अर्जुन को क्षत्रिय के स्वधर्म पालन के लिए पुन: खड़ा करना चाहते थे। योगीराज श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रीमद्भगवद् गीता नामक सद्ग्रन्थ में लिखित अमर उपदेश को देना शुरू किया। गीता के प्रथम १० अध्यायों तक अध्यात्मिक ज्ञान एवं जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश के बारे में सुनने पर भी, अर्जुन ११वें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहते हैं– "हे परमेश्वर! आप अपने विषय में जैसा कहते हैं वह बात वैसी ही है। तथापि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ।" तब श्रीकृष्ण ने उसे अपना विराट्–रूप दिखाना आरम्भ किया किन्तु वह कुछ भी नहीं देख सका। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि "अपने इन प्राकृत नेत्रों से तो तुम मुझे देख नहीं सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ, उनसे मेरा ईश्वरीय योग देखो।" तब महायोगेश्वर श्रीहरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपना ईश्वरीय दिव्यरूप दिखाया। (११.९–४३) ऐसी ही दिव्य–दृष्टि श्री संजय को महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने प्रदान की थी। तभी तो वह हस्तिनापुर में श्री धृतराष्ट्र के राजमहल में बैठे–बैठे ही कुरुक्षेत्र में हो रहे महाभारत युद्ध का आंखों देखा सारा हाल सुना सकता था। क्या ऐसा दिव्य ज्ञान हमें भी प्राप्त हो सकता है? इसका उत्तर हाँ है, जिसकी पुष्टि मुण्डक उपनिषद् का निम्न मंत्र करता है–"विशुद्धचित्त आत्मवेत्ता मन से जिस–जिस लोक की भावना करता है और जिन–जिन भोगों को चाहता है, वह उसी–उसी लोक और उन्हीं–उन्हीं भोगों को प्राप्त कर लेता है। इसलिए ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे।२"

अत्युदात्त वैदिक ज्ञान के अनुसार ही भगवद्गीता भी नैतिकता परिपूर्ण दैवी गुणों एवं अनन्य भक्ति को जीवन में धारण करने पर ही दिव्य–पारदर्शिता की प्राप्ति पर बल देती है। इसके कुछ निम्न उदाहरण हैं–

## (क) कर्मों के बल पर ईश्वरीय सर्वज्ञता

सब कर्मों को कर्त्तव्यबुद्धि से सर्वथा ईश्वरपरायण होकर, अनासक्त एवं निर्वैर भाव से कर्म करने वाला,जो अनन्य भक्त है, केवल वह ही जगद्–नियन्ता को जान, देख और तत्त्वरूप में प्राप्त कर सकता है।[३ व ४] 'अनन्य भक्ति' परमात्मा के उच्चकोटि के ध्यान की स्थिति की सूचक है। इस अवस्था में साधक का मन सर्वथा शांत एवं पूर्णतया एकाग्र हो जाता है। इसी अनन्य भक्ति का



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
स्पष्टीकरण तथा इसके फल का विवरण भक्तियोग नामक १२वें अध्याय में विशद रूप से निम्न तीन श्लोकों में किया गया है–

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन, मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

तेषामहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ, मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

उपरोक्त श्लोकों में मनुष्य के कर्मों के आधार पर मुक्ति की बात बतलाई गई है। ये कर्म कैसे हों, इन में छठे श्लोक में पूर्व निर्धारित तीन शर्तें हैं–१. ईश्वरतत्परता, २. ईश्वर के साथ अपना अनन्य अथवा एकी–भाव और ३. ईश्वर को अपने कर्मों का समर्पण। जो इस मार्ग से चलेंगे, उनका उद्धार निम्न प्रकार होगा–(अ) तेषां मृत्युससारसागरात् समुद्धर्ता अहं भवामि अर्थात् मृत्यु और संसाररूपी सागर से मैं उनका उद्धार करता हूँ।
(ब) अतः ऊर्ध्वमयि (ईश्वरे) एव निवसिष्यसि न संशयः अर्थात् इसके पश्चात् तू (हे मानव) ईश्वर में ही निवास करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

## (ख) परमात्मा का प्यारा बनकर पारदर्शिता की प्राप्ति

संक्षेपतः गीता जीवन में आत्मोत्कर्ष, दिव्य गुणों के ग्रहण करने एवम् ईश्वर में अडिग विश्वास पर बहुत बल देती है। हमारे जीवन में धार्मिक आचरण की श्रेष्ठता की मात्रा ही, हमें ईश्वर का प्रिय बना सकती है। जो **"परमात्मा के प्यारे होते हैं"** उनमें अच्छाई, विशुद्धता (निर्दोषिता) एवं तत्त्वज्ञता इत्यादि शुभगुण तो प्रायः अपने आप ही आ जाते हैं क्योंकि कहा भी तो है कि **"खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।"** अतः परमात्मा के स्वाभाविक तीन महान् गुण यानि **"ज्ञान, बल और क्रिया"** उसके भक्त में स्वतः ही विकसित होने लगते है। **"भगवान् का प्यारा"** बनाने वाले गुणों का विस्तृत उल्लेख गीता के बारहवें अध्याय के १३वें से २०वें श्लोकों में किया गया है। इनमें से केवल दो श्लोकों का दिग्दर्शन कराना ही युक्ति–युक्त है। वे इस प्रकार हैं–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निरर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर् यो में भवतः स मे प्रियः।।

(१२.१३–१४)

"जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब प्राणियों के साथ मित्रता से बर्तता है, जो कृपालु


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जो ममता और घमण्ड से रहित है, जो सुख और दुःख में समान एवं क्षमाशील है, जो सदा सन्तुष्ट, एकाग्रचित्त, शरीर और इन्द्रियों को वश में रखने वाला, दृढ़निश्चयी है, जिस ने अपने मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण कर दिया है, वह मेरा भक्त मुझ को प्यारा है।"

## निष्कर्ष

कर्त्तव्य बुद्धि से किए जाने वाले कर्म, शुभ आचरण तथा एकनिष्ठ भक्ति मानव को उत्तरोत्तर अपने आप ही नैतिक स्तर की ऊंची पीठिका पर बैठा देते हैं। उसमें वास्तविक बोध, परिज्ञान अथवा दिव्य दृष्टि का प्रादुर्भाव हो जाता है। वह संसार में सदा अथक, गतिशील एवं कार्यकुशल होता हुआ, अपने लोक और परलोक दोनों सुधार लेता है। उसे गीता के निम्न श्लोक में वर्णित सर्वव्यापक एक मात्र आत्मसत्ता का क्रियात्मक रूप में अनुभव होने लगता है–

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।**

(६.२९)

अर्थात "जिसकी आत्मा योगायुक्त है अथवा जो अभिन्न भाव से ब्रह्म में स्थित है, वह सर्वत्र समदृष्टि से देखता है। वह सब प्राणियों में अपने आपको आत्मा रूप से विद्यमान तथा बिल्कुल उसी तरह से, सब भूतों को आत्मा रूप से अपने में स्थित देखता है।"

**।।ओम् शम्।।**

**डॉ. ब.द. धवन**
**भवन न. ३५९/१५–ए**
**चण्डीगढ़–१६००१५**

## स्रोत

१. न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्, अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। (गीता ११.७)

२. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस् तस्मादात्मज्ञंहि अर्चयेद् भूतिकामः।।
(मुण्डकपोनिषद् ३.१.१०)

३. भक्त्या त्वन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (गीता ११.५४)

४. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (गीता ११.५५)

५. श्वेताश्वतरोपनिषद्। (६.८)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दुरित–दूरीकरण सप्तकम्

## दुर्गति से बचने के उपाय

*(१) दान की प्रवृत्ति, दुःख संताप, पाप आदि दुरितों से रक्षा करती है।*

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः।।

(ऋक्. १–१२५–७)

ऋषिः– औशिजोदैर्घतमसः कक्षीवान्। देवता– दानस्तुतिः। छन्दः– त्रिष्टुप्।

अर्थ– (पृणन्तः दुरितं एनः मा आरन्) दान देने वाले, दिक्कत, संकट और बुराई तथा कुमार्ग के फल पाप को न प्राप्त करें। (सूरयः सुव्रतासः मा जारिषुः) विद्वान् और व्रतपालक असमय में जीर्ण न हो। (अन्यः कश्चिद् तेषां परिधिः अस्तु) कोई दूसरा ही अर्थात् परमात्मा या उनका धर्म उनका धारण करने वाला रक्षक बना रहे। वे कभी शोक सन्तप्त न हो, इसके विपरीत (शोकाः) शोक सन्ताप (अपृणन्तमभिसंयन्तु) दान न देने वालों को चारों ओर से घेरे रहें। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है– धार्मिक मनुष्यों को सुख और व्रत भञ्जक अधार्मिको को सदा दुःख मिलते हैं।

*(२) ना समझ लोगों को दुरितों से बचाने वालों की जातवेदा रक्षा करता है।*

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्सुकृतो जातवेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः।।

(ऋक्. १–१४७–३)

ऋषिः – औचथ्योदीर्घतमाः। देवता–अग्निः। छन्दः –त्रिष्टुप्।

अर्थ– (ये पायवः पश्यन्तः) हे अग्ने! जो शुभ अशुभ को देखने वाले, समाज के पालन में प्रवृत्त तेरे साधक (मामतेयं अन्धम्) मोह, ममता से अन्धे हुए लोगों की (दुरिताद् अरक्षणन्) दुराचरण, अन्याय आदि से तथा दिक्कत संकट में फंस जाने पर, रक्षा करते हैं। (तान् सुकृतः) ऐसे सुकृती पुण्यात्माओं की (जातवेदाः रक्ष) सर्वज्ञ परमात्मा रक्षा करता है। ऐसे मनुष्यों की (दिप्सन्तः रिपवः इत्) बाह्य तथा आभ्यन्तर, हिंसक शत्रु भी (न अह देभुः) उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा या हिंसा नहीं पहुंचा पाते हैं।

निष्कर्ष– यदि तुम दुरितों से बचना चाहते हो, तो भोले भाले नासमझ लोगों की, आपत्ति, संकट दरिद्रता में सहायता करो।

*(३) भगवान् जिसका रक्षक है, उसे कोई दुराचरण या पाप नहीं व्यापता।*



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नाप्नुतः परितितिर्न द्रयाविनः।
विश्वाइदस्माद्ध्वरसो विबाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते।।

(ऋक्. २–२३–५)

ऋषिः–गृहत्समद् भार्गवः शौनकः। देवता–ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः–जगतीः।

**अर्थ**–हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्माण्ड और वेद के स्वामिन्! (यम्) जिस व्यक्ति की (सुगोपा) सुनिश्चित रक्षक आप (रक्षसि) रक्षा करते हो और (अस्माद्) जिससे (विश्वा इत्ध्वरसः विबाधसे) सभी बाधाओं और हिंसाओं को दूर कर देते हो, (तम्) उसे (न अंहः) न कोई अपराध (न दुरितम्) न कोई दुराचरण(न द्रयाविनः) वचन में मधुर और कर्म में कुटिल व्यवहार करने वाले (अरातयः) कुटिल शत्रु भी (न तं कुतश्चन तितिरूः) उसे किसी प्रकार परास्त नहीं कर पाते हैं।

**निष्कर्ष**–जिसका परमात्मा रक्षक है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। स्वामी दयानन्द ने इसके भावार्थ में लिखा है– जो लोग परमात्मा की आज्ञा का पालन, आप्त विद्वानों की संगति, अपने आत्मा की पवित्रता को कायम रखते हैं, वे पापाचरणों से पृथक् रहते हुए धार्मिक होकर सदा सुख भोगते हैं।

***(४) जिसके जीवन में देव विराजते है, उसे कोई मनुष्य बाधा नहीं पहुंचा सकता।***

न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः।।

(ऋक्. ७–८२–७)

ऋषिः–मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। देवता–इन्द्रावरुणौ। छन्दः–जगती।

**अर्थ**– हे (इन्द्रावरुणौ देवौ) ऐश्वर्य दान और कष्ट निवारण के देवो! आप (यस्य अध्वरं गच्छथः) जिसके जीवन यश में उपस्थित रहते हो(तम्) उसे(अंहः न) किसी तरह का कष्ट, रोग या पाप (न दुरितानि) न किसी तरह का दुराचरण और (न तपः) न कोई संताप (नशते) व्यापता है। और (यं कामयेथे) जिसे सुखी रखना चाहते हो (तं मर्त्यम्) उस मनुष्य को (मर्तस्य परिह्वृतिः) किसी मर्त्य प्राणी द्वारा की गई कोई बाधा(न नशते) नहीं प्राप्त होती है, उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती है।

**निष्कर्ष**– जिसके जीवन में इन्द्र (ऐश्वर्य) और वरुण (संयम) विद्यमान हैं, उसे कोई मनुष्य किसी प्रकार की बाधा पीड़ा नहीं पहुंचा सकता।

***(५) अश्विनौ जिनके मार्गदर्शक हैं, उन्हें दुर्गति या भय कभी नहीं सताते।***

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम्।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्त्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह।।

(ऋक्. १०–३९–११)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋषिः—काक्षीवती घोषा। देवता—अश्विनौ। छन्दः—जगती।

**अर्थ**— हे(अदिते) निरन्तर साथ रहने वाले(रूद्रवर्तनी) रोगों का निवर्तन करने वाले मार्गप्रदर्शक तथा(सुहवौ) सुलभ एवं (राजानौ अश्विनौ) प्रदीप्त प्राणापानो!(यंरथम्) जिसके शरीर रथ को (पत्न्या सह) पत्नी के साथ (पुरः कृणुथः) जीवन में अग्रसर करते हो(तम्) उस मनुष्य को (कुतश्चन) कहीं से किसी प्रकार का(अंहः) पापकर्म (दुरितम्) दुराचरण या (भयम्) भय (न अश्नोति) व्याप्त नहीं करता।

**निष्कर्ष**—प्राण साधक दम्पत्ती की कभी दुर्गति नहीं होती,वे किसी से डरते नहीं, और कभी दुराचरण या पाप नहीं करते।

***(६) सर्वमित्र, दुष्ट दमन और न्यायप्रिय शासन में कोई पाप या दुराचरण नहीं करता है।***

**न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।**
**सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः।।**

(ऋक्. १०—१२६—१)

ऋषिः—शैलूषिः कुल्मलबर्हिषो वामेदेव्योंऽहोमुग्वा। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—उपरिष्टाद्वृहती

**अर्थ**—(यम्) जिस मनुष्य को (अर्यमा) शत्रुओं को वश में करने वाला परमात्मा , गुरू या आदित्य (मित्रः) मृत्यु से रक्षा करने वाला प्राण, अध्यापक या मित्र और (वरुणः) पापों से निवारण करने वाला जल, अपान या उपदेशक (सजोषसः) साथ मिलकर सहयोग करने वाले बनकर (द्विषः अति नयन्ति) द्वेष भावों और शत्रुओं से बचाकर अग्रसर करते रहते हैं, (देवासः) हे देवों, विद्वानों! (तं मर्त्यम्) उस मनुष्य को (अंहः) रोग, दोष और (दुरित्तम्) दुराचरण या पाप (न अष्ट) नहीं प्राप्त होता है।

आधिभौतिक दृष्टि से मित्र, वरुण और अर्यमा—विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हैं। ये तीनों विभाग जिस राष्ट्र में एकमत होकर काम करते हैं, और अपनी प्रजा को आन्तरिक द्वेष भावना और बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित रखते है, उस राष्ट्र में रोग, दोष तथा दुराचरण और पाप नहीं पनपते। वह राष्ट्र आगे ही आगे बढ़ता जाता है।

***(७) चिकित्सक स्वार्थी न हों तो प्रजा की औसत आयु बढ़ने लगती है।***

**सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।**
**शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम्।।**

(ऋक्. १०—१६१—३)

ऋषिः—प्राजापत्योयक्ष्मनाशनः। देवता—इन्द्राग्नी राजयक्ष्मध्नंवा। छन्दः—त्रिष्टुप्।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ— प्राजापत्य यज्ञीय जीवन वाला वैद्य सब प्रकार के रोगों को दूर करके रोगी को १०० वर्ष तक जीवित रखने की सामर्थ्य रखता है। वही वैद्य कह रहा है कि मैं (एनम्) इस रोगी को (सहस्राक्षेण) इन्द्रियों को निराशा से उभार कर हासयुक्त बनाने वाली, (शतशारदेन) शत वर्ष तक जीवित रखने में समर्थ (शतायुषा हविषा) शतायु प्रदान करने वाली औषधियों की सहायता से (आहार्षम्) मृत्यु के पंजे से बचाकर ले आया हूँ। अब तो (इन्द्रः) सर्वैश्वर्य सम्पन्न भगवान् ही (इमम्) इसे (विश्वस्य दुरितस्य पारम्) सब प्रकार के रोगों, दुःखों और दुर्गत्तियों से पार करके (शतं शरदः नयाति) १०० वर्ष की आयु तक ले जा सकता है।

## सप्तक सारांश

१. दान देने वाले दुर्गति और दुराचरणों से बचे रहते हैं।
२. नासमझ और दुःखी जनों को दुर्गति और रोगों से बचाने वालों की सर्वज्ञ परमात्मा रक्षा करता है।
३. परमात्मा के संरक्षण में रहने वाले पापाचरण से बचे रहते हैं।
४. जो ऐश्वर्यशाली होते हुए, संयमी जीवन बिताता है, उसे न देवता सताते हैं, न मनुष्य कुछ बिगाड़ सकते हैं।
५. प्राण साधना करने वाले दम्पती न पापाचरण करते हैं, न उन्हें रोग घेरते हैं, न किसी तरह का भय व्यापता है।
६. जो राजा सब के साथ मित्रभाव रखता है, दुष्टों को दण्ड देता है, और सब के साथ न्याय करता है, उसकी प्रजा सदा खुशहाल रहती है, कोई दुःखी नहीं होता।
७. जिस राज्य में चिकित्सा का सुप्रबन्ध होता है, चिकित्सक लोभी और स्वार्थी नहीं होते, उसकी प्रजा में शतायु पुरुषों की संख्या बढ़ जाती है।

मनोहर विद्यालङ्कार
५२२, कटराईश्वर भवन
खारी बावली, दिल्ली–६



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# उल्लेख अलंकार और उसका नलचम्पू में प्रयोग

उल्लेखाअलंकार का वर्णन प्राचीन आलंकारिकों ने नहीं किया है। मम्मट ने भी इसकी चर्चा नहीं की। इसके उद्भावक आचार्य रुय्यक हैं। रुय्यक का ही अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने इसका विवेचन किया है। रुय्यक एक वस्तु के निमित्तवश अनेक प्रकार से वर्णन को उल्लेख कहते है।[1] इन्होंने ग्रहीतृभेदजन्य तथा विषयभेदजन्य नामक दो भेदों का भी निरूपण किया है। इन्होंने इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया कि उल्लेख में एक वस्तु का अनेकधा वर्णन सोद्देश्य होता है, निरुद्देश्य नहीं।

परवर्ती आचार्यों में जयदेव[2], विद्याधर[3], विद्यानाथ[4], विश्वनाथ[5], दीक्षित[6], एवं पण्डितराज[7] ने रुय्यक के ही विवेचन को अपने सम्मुख रखा। उल्लेख के दोनों भेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं–

ग्रहीतृभेदजन्य–

प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः।।[8]

विषयभेदजन्य–

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।।[9]
कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः।
अर्थेष्लोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः।।[10]

आचार्यों ने इस भेद के भी दो उपभेद किए है–शुद्ध तथा संकीर्ण। शुद्ध में केवल उल्लेख रहता है, संकीर्ण में इतर अलंकार भी रहते हैं, जिनमें उपमा, रूपक, भ्रान्तिमान्, सन्देह, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार संश्लिष्ट या संकीर्ण रूप से हो सकते हैं। पण्डितराज ने उल्लेखालंकार में स्वरूपोल्लेख, फलोल्लेख तथा हेतूल्लेख नामक भेदों की भी चर्चा की है। कुछ आचार्य इस अलंकार का अन्तर्भाव रूपक, प्रथम अतिशयोक्ति या भ्रान्तिमान् में करते हैं। परन्तु काव्यशास्त्र में उल्लेख सर्वथा स्वतन्त्र अलंकार के रूप में ही आदृत है। रूपक में आरोप की प्रधानता होती है, तथा उल्लेख में एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण होने में विशिष्टता होती है। प्रथम अतिशयोक्ति में अध्यवसाय होता है और उपमेय तथा उपमान में से केवल उपमान का ही कथन होता है, किन्तु उल्लेख में एक वस्तु को अनेक रूपों में प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार इस अलंकार का भ्रान्तिमान् अलंकार में भी अन्तर्भाव होना असंभव है, क्योंकि उल्लेख में अनेकधा ग्रहण एक नवीन तत्त्व है, जिसका भ्रान्तिमान् में सर्वथा अभाव है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख नलचम्पूकार त्रिविक्रम भट्ट के प्रिय अलंकारों में से है। जहाँ भी उसे अवसर मिला है, उल्लेख अलंकार का सौन्दर्य उसने प्रदर्शित किया है। उसके उल्लेख रूपक, उपमा, विरोध, स्वभावोक्ति आदि इतर अलंकारों से संकीर्ण होकर सहृदयों के हृदय को हर लेते हैं। प्रथम उच्छ्वास में निषधापुरी में निवास करने वाले राजा नल का परिचय देता हुआ कवि कहता है–

तस्यामासीन्निजभुजयुगलबलविदलितसकलवैरिवृन्दसुन्दरीनेत्रनीलोत्पलगलद्बहलवाष्पपूरप्लवमानप्रतापराजहंसः, सकलजलनिधिवेलावननिखातकीर्तिस्तम्भभूषितभुवनवलयः, विश्वंभराभोग इव बहुधारणक्षमः, प्रासाद इव नवसुधाहारी, रविरिवानेकधामाश्रयः। दनुजलोक इव सदानवः स्त्रीजनस्य, वसिष्ठ इव विश्वामित्रत्रासजननः, जनमेजय इव परीक्षितनयः, परशुराम इव परशुभासितः, राघव इवालघुकोदण्डभंगरञ्जितजनकः।

सुमेरुरिव जातरूपसंपत्तिः, तुहिनाचल इव पुण्यभागीरथी सहितः, चिन्तामणिः प्रणयिनाम्, अग्रणीः सांग्रामिकाणाम्, उपाध्यायोऽध्यायविदाम्, आदर्शो दर्शनानाम्, आचार्यः शौर्यशालिनाम्, उपदेशकः शस्त्रशास्त्रस्य, परिवृढो दृढप्रहारिणाम्, अग्रगण्यः पुण्यकारिणाम्, अपश्चिमो विपश्चिताम्, अपाश्चात्त्यस्त्यागवताम्, अचरमश्चातुर्याचार्याणाम्, अपर्यन्तभूभाराधारस्तम्भभूतभुजकाण्डकीलितशालभञ्जिकायमानविजयश्रीः श्रीवीरसेनसूनुः समस्तजगत्प्रासादशिरःशेखरीभूतकान्तकीर्तिध्वजो राजा राज्यलक्ष्मीकरेणुकाचापलसंयमनश्रृंखलः खलवृन्दकन्दलदावानलो नलो नाम।

यहाँ सभंगश्लेषानुप्राणित उपमा एवं परम्परित रूपक से संकीर्ण उल्लेख की मनोहारिता दर्शनीय है। राजा नल का श्रुतशील नामक महामन्त्री है। प्रथम उच्छ्वास में ही उसके वर्णन में भी कवि परम्परित रूपक, उपमा एवं उत्प्रेक्षा से गर्भित उल्लेख की छटा इस प्रकार दर्शाता है–

इन्दुः पार्थिवनीतिज्योत्स्नायाः, कन्दः सकलकलाङ्कुरकलापस्य, सागरः समस्तपुरुषगुणमणीनाम्, आलानस्तम्भश्चपलराज्यलक्ष्मीकरेणुकायाः, सकलभुवनव्यापारपारावारनौकर्णधारः, सुधाम्भोनिधिडिण्डीरपिण्डपाण्डुरयशः कुशेशयखण्डमण्डितसकलसंसारसराः, सरागीकृतसमस्तपार्थिवानुजीवी, जीवितसमः, प्राणसमः, हृदयसमः, शरीरमात्रभिन्नो द्वितीय इवात्मा, कुलक्रमागतः, संक्रान्तिदर्पणः सुखदुःखयोः, स्वभावानुरक्तः, शुचिः, सत्यपूतवाक्, कृतज्ञः, ब्राह्मणः सालंकायनस्य सूनुः श्रुतशीलो नाम महामन्त्री।

उसी के विषय मे आगे कवि लिखता है कि वह विप्र उस राजा का मित्र भी था, मन्त्री भी था, प्रिय सुहृत् भी था और विद्या–आयु–शील एवं गुणों में समान तथा भूमि के भार को वहन करने में सहायक भी था। यह उल्लेख रूपक एवं काव्यलिंग अलंकारों से संकीर्ण है–


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्रं च मन्त्री च सुहृत्त्रयस्य विद्यावयःशीलगुणैः समानः।
बभूव भूपस्य स तस्य विप्रो विश्वंभराभारसहः सहायः।।[१]

तरुण अर्कमण्डल के मध्य से दमनक मुनि अवतीर्ण हो रहे हैं। 'वे कैसे हैं' इसका वर्णन कवि ने तृतीय उच्छ्वास में एक लम्बे गद्य में किया है, जिसमें उल्लेख के साथ उपमा, रूपक, विरोध, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की चमत्कृति भी विद्यमान है। उसकी क्रियादीपक एवं रूपक से संकीर्ण अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं–

कोमले महसि तरुणे वयसि वृद्धे तपसि पृथुनि यशसि गुरुणि श्रेयसि वर्तमानः, सदः सदाचाराणाम्, आश्रयः श्रुतीनाम्, मही महिम्नः, प्रपा कृपारसस्य, क्षेत्रं क्षमाङ्कुराणाम्, पात्रं मैत्रीसुधायाः, प्रासादः प्रसादस्य, सिन्धुः साधुतायाः, तरुणार्कमण्डलमध्यान्मुनिरवातरत्।

चतुर्थ उच्छ्वास में राजहंस के द्वारा दमयन्ती के सम्मुख वर्णित किया गया राजा वीरसेन का उपमा, रूपक, विरोध आदि से संकीर्ण उल्लेखालंकार का निम्न वर्णन भी हृदयहारी है–

अस्ति समस्तसुरासुरलोककर्णपूरीकृतकान्तकीर्तिकुन्दकुसुमः, कुसुमायुधरूपरमणीयदेहप्रभः, प्रभावयुक्तो विप्रभावश्च, शुचिरनुपतापकारी च, घनागमसमयो न वारिबहुलश्च, शिशिरस्वभावो न जाड्ययुक्तश्च, रामः कुशलवयोरामणीयकेन, जनको वैदेहभागेन, नैषधः प्रजानां पतिः, विरञ्च इव नाभिभूतः समरे, वीरो वीरसेनो नाम।

यश्च सश्रृंगारो नारीषु, वीरो वैरिषु, वीभत्सः परदारेषु, रौद्रो द्रोहिषु, सहास्यो नर्मालापेषु, भयानकः संग्रामाङ्गणेषु, सकरुणः शरणागतेषु।।

इसी प्रसंग में नल का निम्न चित्रण भी उल्लेख का सुन्दर उदाहरण है–

प्रबुद्धबुद्धिर्बौद्धे, सविशेषशेमुषीको वैशेषिके, विख्यातः सांख्ये, रञ्जितलोको लोकायते, प्राप्तप्रभः प्राभाकरे, प्राप्तच्छन्दकश्छन्दसि, अनल्पविकल्पः कल्पज्ञाने, शिक्षाक्षमः शिक्षायाम् अकृतापशब्दः शब्दशास्त्रे, अभियुक्तो निरुक्ते, सज्जो ज्योतिषि, तत्त्ववेदी वेदान्ते, प्रसिद्धः सिद्धान्तेषु, स्वतन्त्रस्तन्त्रीवाद्येषु, पटुः पटहे, अप्रतिमल्लो झल्लरीषु, निपुणः पणवेषु, प्रवीणो वेणुषु, चित्रकृच्चित्रविद्यायाम्, उद्दामः कामतन्त्रे, कुशलः शालिहोत्रे, श्रेष्ठः काष्ठकर्मणि, सावलेपो लेप्ये, पण्डितः कोदण्डे, शौण्डः, शारिषु, गुणवान् गणिते, बहुलो बाहुयुद्धेषु, चतुरश्चतुरंगद्यूतक्रीडायाम्, उपदेशको देशभाषासु, अलौकिको लोकज्ञाने।

काव्यलिंग एवं परिकर अलंकारों की छटा से युक्त उल्लेख अलंकार की विच्छित्ति सिन्धुतट के इस वर्णन में भी झांक रही है–

कूजत्क्रौञ्चं चटुलकुररद्वन्द्वमुन्नादिहंसं क्रीडत्क्रोडं निपतितलतापुष्पकिञ्जल्कहारि।
अस्याः सान्द्रद्रुमवनतलश्रान्तसुप्ताध्वनीनं रोधः सिन्धोः स्थगयति भवत्सैनिकानां प्रयाणम्।।[२]



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैतालिक द्वारा किये गये स्वकीय गान वर्णन में भी उल्लेखालंकार का सौन्दर्य स्फुटित हो रहा है–

**प्रियविरहविषादस्यौषधं प्रोषितानां विविधविधुरचिन्ताभ्रान्तिविश्रान्तिहेतुः।**
**अयममृततरङ्गः कर्णयोः केन सृष्टो मधुररसनिधानं निःस्वनः पञ्चमस्य।।**[१३]

तिरस्करिणी विद्या का वर–प्राप्त राजा नल जब दमयन्ती के भवन में प्रवेश करता है, तब उसे देखकर उसकी सब सखियों की दशा क्या हो जाती है, इसका सप्तम उच्छ्वास में कवि ने जो वर्णन किया है, उसमें भी उल्लेखालंकार की चमत्कृति है–

**प्रविष्टे च तस्मिन् आकस्मिकविस्मयेन विस्फारितानि, भयेन भ्रमितानि, कौतुकेनोत्तानितानि, व्रीडया बलितानि, मुद्रामिलदरालपक्ष्माणि, स्मराकूतेन विलुलितानि, दिदृक्षारसेनानिमिषाणि, दृष्टि– संघट्टनेन मुकुलितानि, विलासेन मिलितानि, चिरं चक्षूंषि विभ्राणाः किमपि चलितासनम्, उत्कम्पितहृदयम्, अपसरद्धैर्यम्, अवगलत्स्वेदसलिलम्, उत्पुलकितांगम्, अनंगभगुंरम्, अवलोकितान्योन्यमुखमवतस्थिरे तदभिमुखाः सख्यः।**

तदनन्तर दमयन्ती और नल दोनों रूप देखने के चाव से एक–दूसरे के मुखकमल पर अपने–अपने नेत्रों का संचार करते हैं। दोनो के नेत्र हर्ष के कारण अश्रुपूर्ण हैं, भय के कारण चञ्चल है, विस्मय के कारण फैलाये हुए हैं, उत्सुकता के कारण स्तिमित हैं, स्मर के कारण तरलित हैं, लज्जा के कारण संकोचित हैं। यह चित्रण भी उल्लेखलंकार की चारुता से व्याप्त है–

**हर्षाद्बाष्पचिते भयात्तरलिते विस्फारिते विस्मयादौत्सुक्यात्स्तिमिते स्मराद्विलुलिते संकोचिते लज्जया।**
**रूपालोकनकौतुकेन रभसादन्योन्यवक्त्राम्बुजे किंचित्साचि च संमुखं च नयने संचारयामासतुः।।**[१४]

दमयन्ती के भवन से लौटकर अपने राजमहल में शिरीषकुसुमों की माला के समान मृदुल शय्या पर बैठे हुए नल दमयन्ती के ही विषय में सोच रहे हैं कि क्या उस मृगनयनी का मुख पुनः देखने का सौभाग्य मिल सकेगा? कैसा था उसका मुख? देखिए, उल्लेखालंकार की छटा–

**हर्षादुत्पुलकं विकासि रभसादुत्तानितं कौतुकाच्छृंगारादलसं भयात्तरलदृङ् नम्रं च लज्जाभरात्।**
**तस्यास्तन्नवसंगमे मृगदृशो दृश्येत भूयोऽपि किं किंचित्काञ्चनगौरगण्डगलितस्वेदाम्बरम्यं मुखम्।।**[१५]

इसी प्रकार प्रथम उच्छ्वास में जीमूतसमय के वर्णन में, षष्ठ उच्छ्वास में राजा नल द्वारा की गयी हरि की स्तुति में, एवं सप्तम उच्छ्वास में पर्वतक द्वारा तथा नल द्वारा दृष्ट दमयन्ती के वर्णन में भी अलंकारान्तरों के सौन्दर्य से युक्त उल्लेख का चारुतापूर्ण विन्यास प्रशंसनीय है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि उल्लेखालंकार के कविकृत सभी प्रसंग विषयभेदजन्य उल्लेख के हैं, ग्रहीतृभेदजन्य उल्लेख का नलचम्पू में कोई उदाहरण हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

डॉ. मैत्रेयी
फरीदपुर, रजबपुर
ज्योतिबाफुले नगर


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## सन्दर्भ संकेत

१. एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः।। अलंकार सर्वस्व

२. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता।। चन्द्रालोक ५/२३

३. तत्र निमित्तभेदादेकमनेकैरनेकधा यत्र।
उल्लिख्यते स धीरैरुल्लेखः कथ्यतेऽन्वर्थः।। एकावली ८/१०

४. अर्थयोगरुचिश्लेषैरुल्लेखनमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः।। प्र.रु.

५. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।। सा.द. १०/३७

६. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः।। कुवलयानन्द २२,२३ ।

७. एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद्यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। रसगंगा०

८. सा. द. उल्लेख प्रकरण ।

९. वही

१०. रसगंगा, उल्लेखप्रकरण।

११. १/३८

१२. ६/२५

१३. ६/४५

१४. ७/३८

१५. ७/४८



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# वैदिक कालीन विदेशी व्यापार

वैदिक काल भारतीय इतिहास में साहित्य की रचना की दृष्टि से सर्वोत्तम काल माना जाता है। इस काल में न केवल चारों वेदों की रचना हुई अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना भी इसी काल में हुई। इस दृष्टि से इस काल में आर्यो ने ज्ञान, विज्ञान तथा आध्यात्म के क्षेत्र में बहुमुखी विकास किया। इसके साथ–साथ आर्य–जीवन के भौतिक पक्ष अर्थात् आर्थिक गतिविधियों से भी अनभिज्ञ नहीं थे। इस क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत अधिक विकास किया। लेकिन काफी समय तक अधिकांश विद्वानों की यह धारण थी कि वैदिक कालीन आर्य न तो समुद्रो से परिचित थे और न ही उनके विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। इस मत के समर्थक विद्वानों में मैक्समूलर, लासेन तथा त्सिमर आदि प्रमुख थे।[1] उनके अनुसार वैदिक साहित्य में जहां कहीं भी समुद्र शब्द का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसका अर्थ समुद्र से नहीं बल्कि विशाल जल–समूह से है। अत: जहां कही भी समुद्र शब्द का उल्लेख हुआ है, वहां उसे सिन्धु नदी का निचला जल–प्रवाह ही समझना चाहिए जो उसकी अनेक सहायक नदियों के मिल जाने के कारण विशाल ओर वेगवान हो गया था। दूसरा वैदिक साहित्य में कही पर भी समुद्र के ज्वार–भाटे के विवरण नहीं मिलते। तीसरा यदि इन लोगों को समुद्र की जानकारी होती तो मत्स्य–पालन इन लोगों का प्रमुख व्यवसाय होता, परन्तु वैदिक साहित्य में कहीं पर भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। चौथा वैदिक साहित्य मे लंगर, पतवार, मस्तूल तथा पाल के उल्लेख भी नहीं मिलते, जबकि रथ तथा गाड़ी के सभी प्रमुख भाग वर्णित है। इस प्रकार इन मतों के आधार पर उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि वैदिक आर्य समुद्री व्यापार से अपरिचित थे।

परन्तु अब ये विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वैदिकसाहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में आर्य समुद्री व्यापार से भली–भांति परिचित थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर समुद्र शब्द मिलता है।[2] ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों[3] तथा कतिपय अन्य मंत्रों में चारों समुद्रों का वर्णन मिलता है जो आर्यो के देश 'सप्तसिन्धव' के चारों ओर विद्यमान थे।[4] एक स्थान पर सिन्धु और समुद्र का साथ–साथ उल्लेख मिलता है तथा सिन्धु नदी को समुद्र के समान विशाल बताया गया है।[5] ऋग्वेद में लम्बी यात्राओं के लिए जाने वाले जहाजों के भी अनेक उल्लेख मिलते है। इससे सम्बन्धित एक कथा इस प्रकार है कि जब तुग्र के पुत्र भृज्यु का जहाज समुद्र में डूबने लगा तो सौ पतवारों से युक्त जहाज में अश्विनी कुमारों ने उसका उद्धार किया।[6] इसी प्रकार बृबु नामक एक अन्य व्यापारी की समुद्र यात्रा का उल्लेख मिलता है।[7] इसके अतिरिक्त जल–यात्रा के अन्य अनेक मनोरंजक वर्णन भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं।[8] एक स्थान पर ऋषि अपने इष्टदेव से प्रार्थना करते है कि हे देव! हमारे आनन्द और कल्याण के लिए हमें जहाज में समुद्रपार ले चलो।[9] वहीं दूसरे स्थल पर वशिष्ठ की समुद्र



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्रा का रोचक वर्णन मिलता है।[10] वरूणदेव की स्तुति में शुनः शेप नामक ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जाने वाले पक्षियों के मार्ग को ही नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलने वाली नावों के मार्गों से भी परिचित है।[11] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर सरस्वती नदी के समुद्र तक बहने का उल्लेख मिलता है।[12] अथर्ववेद में एक राष्ट्र के पतन की तुलना डूबते हुए उस जहाज से की गई है जिसमें पानी रिस रहा है।[13] मोती (कृशन) उत्पन्न करने वाले कीमती शंखों का भी उल्लेख मिलता है जो समुद्र से प्राप्त किए जाते थे।[14] जिससे एक कवच (तावीज) बनाया जाता था, जिसे सौ वर्ष की दीर्घायु देने वाला, वर्चस्, बल प्रदान करने वाला और रक्षा करने वाला समझा जाता था। सम्भवतः ये मोती दक्षिण भारत के समीपस्थ सागर के किनारे से ही मिलते थे। अतः यदि यह कहा जाये कि आर्य लोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान वस्तु को खरीदते थे तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी, क्योंकि उस समय समुद्र यात्रा में सौ–सौ डॉडों वाले पोत प्रयुक्त होते थे।[15] घोड़ों के अलकरण के लिए भी मोतियों का प्रयोग होता था और ऐसे अलंकृत घोड़ों का 'कृशनावन्त' कहते थे।[16] ऐतरेय ब्राह्मण में इसे कभी न समाप्त होने वाला तथा भूमि का पोषक कहा गया है।[17] शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त प्राच्य और उदीच्य शब्द भी सम्भवतः अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के लिए आये है।[18] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में जहां कहीं भी समुद्रशब्द का उल्लेख हुआ है वहाँ उसे समुद्र के अर्थ में ही ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मैकडॉनल तथा कीथ ने भी इसका समर्थन किया है। मोतीचन्द्र के अनुसार ऋग्वेद में समुद्र के रत्न, मोती का व्यापार, समुद्री व्यापार के फायदे तथा भृज्यु की कहानी ये सब बाते स्पष्ट करती है कि वैदिक आर्य सामुद्रिक ज्ञान से भली–भांति परिचित थे।[19]

इसी प्रकार ऋग्वेद में 'पणि' लोगों का उल्लेख मिलता है जिनके विषय में कहा गया है कि वे अधिक धन के लालच में सुदूर देशों की यात्रा करते थे और सारे समुद्र को मथ डालते थे।[20] लेकिन ये 'पणि' कौन थे? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। रौथ का विचार है कि यह शब्द पण (विनिमय) धातु से व्युत्पन्न हुआ है और पणि एक ऐसा व्यक्ति होता था जो बिना किसी प्रति–प्राप्ति के अपना कुछ नहीं देता था। अतः इसे ऐसा कृपण व्यक्ति कहते थे जो न तो देवों की उपासना करता था और न ही पुरोहितों को दक्षिणायें देता था।[21] त्सिमर[22] और लुडविग[23] ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पणियों को अराधसः (याज्ञिक अनुष्ठान न करने वाला) कहा गया है।[24] उनका एक विशेषण 'बेकनाट' भी पाया जाता है।[25] जिसका अभिप्राय यास्क ने निरूक्त में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'बेकनाट' कुसीदी (सुदखोर) होते थे और धन का दुगुना करते थे।[26] पणि का अर्थ स्पष्ट करते हुए यास्क ने लिखा है कि पणि वणिक या व्यापारी होते थे।[27]

ऐसा प्रतीत होता कि पणि एक आर्य भिन्न जाति थी, जो वैश्यवृत्ति से अपना निर्वाह किया करती थी। वह गाय एवं अश्व आदि पशु पालती थी, सूद का व्यवहार करती थी और व्यापार के लिए दूर–दूर तक के प्रदेशों में जाया करती थी। अनेक विद्वानों ने पणियों और फिनीशियन लोगों में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में जिस फिनीशियन जाति का प्राचीन काल में निवास था वह 'प्यूनिक' कहलाती थी। प्युनिक लोग भी प्रधानतया व्यापारी थे। अतः पणि और प्युनिक में साम्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सन्दर्भ में अभी और अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने पणियों का तादात्म्य मालाबार के तटवर्ती क्षेत्र के आधुनिक पणिक्करों से किया है। उनका यह भी मानना है कि पणि जहाज निर्माण कला में प्रवीण थे और नौकाओं तथा समुद्री जहाजों का निर्माण करते थे। उनका सरदार वृषु गंगा के किनारे रहता था।[२८] फिर भी सम्भावना इस बात की अधिक प्रतीत होती है कि पणि भारत के पुराने अनार्य या असुर थे जो अपने जहाजों को फारस की खाड़ी तक ले जाते थे और वहाँ सुमेरी या मिश्री व्यापारियों से क्रय–विक्रय करते थे।[२९] चूँकि ये लोग आर्यों के विरोधी थे इसलिए ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर उनके अनिष्ट की कामनाएँ की गई है।[३०] अब जब इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि सिन्धु सभ्यता काल में भारतीयों का सुमेर के लोगों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और अधिकांश व्यापार समुद्र के माध्यम से होता था तब यह कहना कि वैदिक आर्यों को समुद्र–यात्रा का ज्ञान नहीं था, उचित प्रतीत नहीं होता। निसन्देह उस समय स्थल मार्गों से इन देशों की यात्रा करना कठिन था, लेकिन जलमार्ग अपेक्षाकृत अधिक सुगम थे।

इस काल में आर्यों के अनेक देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। वर्तमान समय में जहां ईराक और तुर्की के राज्य है, प्राचीन समय में वहां अनेक ऐसी सभ्यताओं की सत्ता थी, जिनके भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि उनका भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। ईराक की युक्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी में विद्यमान प्राचीन सभ्यताओं के तीन हजार साल ई०. पू० के अवशेषों में सागोन की लकड़ी मिली है, जो पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में नहीं होती। अत: यह माना जाता है कि उसे जलमार्ग द्वारा भारत से ही ले जाया गया होगा। डा० सेसे का मत है कि बेबीलोनिया के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध उस समय से था जब वहां का प्रथम सम्राट बागास शासन कर रहा था। यह काल ई० से लगभग ३००० ई०पू० हैं।[३१] किन्तु १३०० ई०पू० के लगभग जब बेबीलोनिया के अश्शुर नगरी के राजा शाल्मनेसर प्रथम ने सम्पूर्ण बाबुली साम्राज्य को जीत लिया तो यह साम्राज्य बाबुल के बजाए 'अश्शुर' कहलाने लगा और कालान्तर में अश्शुर साम्राज्य का नाम असीरिया हो गया। असुर बनिपाल (सातवीं सदी ई० पू०) के अभिलेखों में तंजेब के लिए 'सिन्धु' शब्द मिलता है। डॉ० जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार यह नामकरण शायद इसलिए हुआ होगा कि भारत से यह कपड़ा सिन्धु नदी के तट से होकर प्राचीन असीरिया में पहुँचता था।[३१ए] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय सिन्धु प्रदेश विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के लिए विख्यात था। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय सिन्धु प्रदेश के पानीदार घोड़े, शक्तिशाली रथ और ऊनी वस्त्र विश्वविख्यात थे।[३२] इसी प्रकार गान्धार की स्निग्ध और ऊन भी विश्वविख्यात थी।[३३] इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि इस काल में भारत से तंजेब, ऊनीशाल, कसीदावाले कपड़े, हाथीदाँत का सामान, विभिन्न प्रकार के कीमती रत्न और सुगन्धित पदार्थ पश्चिमी देशों को भेजे जाते थे। इसके अतिरिक्त सुमेरियन लोगों में तोलने के लिए एक मान 'मना' प्रचलित था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी 'हिरण्यमना' का उल्लेख मिलता है। जिसे तोल का द्योतक समझा जाता है। इस प्रकार ये सब तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि इस काल में भारत और असीरिया के बीच परस्पर सम्बन्ध थे।

पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस काल में भारत के असीरिया


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्ध थे। पश्चिमी एशिया के तुर्की राज्य के अन्तर्गत बोगाजकोई नामक स्थान पर मित्तानी और खत्ती राज्यों के राजाओं का १४०० ई०पू० का एक सन्धिपत्र मिला है, जो एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। बोगाजकोई खत्ती राज्य की राजधानी थी, जिसके राजा सुबिललिम का मित्तनी वंश के राजा मतिउज के साथ युद्ध हुआ था, जिसका अन्त एक सन्धि द्वारा किया गया और उस सन्धि की शर्तों को एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण करा दिया गया, ताकि दोनों पक्षों के सम्मुख वह स्पष्ट रूप से रहे। जिसके अन्त में प्रार्थना की गई है कि इन्द्र, मित्र, वरूण और नासत्य इस सन्धि को स्थिर रखे। चूँकि ये सब वैदिक देवता है इसलिए यह कहा जा सकता है कि मित्तानी और खत्ती जाति के लोगों से वैदिक आर्यो के परस्पर सम्बन्ध थे।[३४ए] इसी प्रकार इजिष्ट के तेल–अल–अमर्ना नामक स्थान से अनेक ऐसे पत्र मिले है जो मिट्टी की तख्तियों पर कीलांकित रूप से उत्कीर्ण है। इन पत्रों में पश्चिमी एशिया के राजाओं के कतिपय ऐसे नाम मिलते है जो संस्कृत के प्रतीत होते है। ऐसे कुछ नाम दशरथ, अर्तमन्य, यशदत्त और सुत्तर्न आदि है। इन पत्रों का समय भी लगभग १४०० ई०पू० का है। इस प्रकार ये सब प्रमाण इस बात के द्योतक है कि १४०० ई०पू० के आस–पास वैदिक आर्यो के तुर्की और सीरिया के लोगों से सम्बन्ध थे।

इसी प्रकार असीरिया से तौल के कुछ ऐसे पुराने बाट प्राप्त हुए है जिन पर लेख अंकित है। बूलर के अनुसार ये अक्षर भारतीय ब्राह्मी अक्षरों से मिलते–जुलते है। जो ई०पू० नवीं सदी से लेकर सातवीं सदी ई०पू० तक के हैं। शाल्मनेसर तृतीय के समय में (नवीं सदी ई०पू०) भारतीय हाथी भी असीरिया जाते थे। जिसका प्रमाण सूचिकाद्वार स्तम्भ पर दूसरे जानवरों के साथ भारतीय हाथी के चित्र का मिलना है। लेख में उसे 'बजियाति' कहा गया है, जो संस्कृत वासिता का रूप है, जिसका अभिप्राय 'हथिनी' होता है। विद्वानों का मत है कि भारतीय हाथी असीरिया को हिन्दूकुश मार्ग से होकर जाते थे।[३५] भारत और असीरिया के बीच व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि इस बात से भी होती है कि असीरिया के राजा सेन्नेचेरीब ने अपने उपवन में कपास के पौधे लगवाये थे।[३६] इसी प्रकार उर के चन्द्रमा के मन्दिर और नेबुशन्दनेजार के महल में सागौन की लकड़ी लगी है वह भी पश्चिमी भारत से ले जायी गयी थी।[३७] इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि असीरिया और उसके आस–पास के प्रदेशों से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना था।

यहुदियों के ऐतिहासिक विवरण 'ओल्ड टेस्टामेंट' से भी भारत के पश्चिमी देशों तथा फिलिस्तीन के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का पता चलता है। प्रो० बाल कहते है कि मोजेक के समय (१४९१–१४५० ई०पू०) में भारतीय पत्थरों का बहुत महत्व था।[३८] सामान से लदे ऊटों के काफिलों का वर्णन प्राय: बाइबिल और प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। फिलिस्तीन के राजा सोलोमन ने भी पूर्वी देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन दिया था। उसके समय में एक जहाज पूर्व में ओफिर के बन्दरगाह से भारतीय चन्दन, रत्न, हाथीदाँत, बन्दर, मोर और गर्म मसाले लेकर लौटा था।[३९] अधिकतर विद्वान् इसका सम्बन्ध भारत के बन्दरगाह सोपारा के साथ स्थापित करते है। लेकिन इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी देशों के साहित्य में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि भारत से उनका क्रय–विक्रय होता था। यहीं कारण है कि शायद भारत से जाने की वजह से ही हेब्रू थूकि (मोर) की व्युत्पत्ति तमिल तौके



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, हेडु बोरा (अन्न) [illegible] से हेडु अलमुग अन्न को संस्कृत अन्नु में, हेडु शन [illegible] (हाथीदांत) की संस्कृत छदंत से, हेडु की यूनानी सिण्डन को संस्कृत सिन्धु मानी जाती है।[illegible]

इस काल में यूनान से भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर ने लगभग १००० ई०पू० में रचे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ओडीसी' में 'इथोपिअन' लोगों के दो फिरकों का उल्लेख किया है– पश्चिमी और पूर्वी।[illegible] विद्वानों का मत है कि इनमें पश्चिमी फिरका अफ्रीका के निवासियों के लिए और पूर्वी फिरका भारतीयों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इतिहास लेखक हेरोडेटस ने भी दक्षिण भारत के द्रविड़ों को इथोपियन संज्ञा दी है।[illegible] रालिंसन का मत है कि होमर के समय कुछ भारतीय पदार्थ यूरोप को भेजे जाते रहे होंगे और बदले में वहां से कुछ वस्तुएँ भारत आती रही होंगी।[illegible] इसी कारण इनमें से कुछ वस्तुओं का उल्लेख प्राचीन यूनानी साहित्य में मिलता है। उदाहरणार्थ यूनानी कवि होमर ने अपने ग्रन्थ 'ओडिसी' में टिन के लिए 'कस्तितेरस' शब्द का प्रयोग किया है। यह संस्कृत के 'कस्तीर' शब्द का रूप है जिसका तात्पर्य टिन है। इस प्रकार व्यापारिक सम्बन्धों के कारण कुछ तमिल शब्द जैसे अरसि (चावल) यूनानी औरिजा, करूर (दालचीनी) यूनानी कार्पियन, इंजिबेर (सोंठ) यूनानी जिंगिबरोस, पिप्पली (बड़ी पीपल) यूनानी पेपरी तथा संस्कृत वैडूर्य (बिल्लौर) यूनानी बेरिल्लोस यूनानी भाषा में मिलते हैं।[illegible] इस प्रकार इस दिशा में भाषा–सम्बन्धी अन्वेषण बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

इसी प्रकार मिश्र के साथ भी भारत के व्यापारिक सम्बन्धों की जानकारी मिलती है। इसका प्रमाण मिश्र की ममी के साथ नीम तथा इमली की लकड़ी और मलमल जैसी भारतीय वस्तुओं का मिलना है। मिश्र के सम्राट 'तनू–खामन' की समाधि की खुदाई से भी बहुत सी भारतीय वस्तुएँ मिली है, जो भारत और मिश्र के व्यापारिक सम्बन्धों को सूचित करती है।

इस काल में भारत के पश्चिमी देशों के साथ केवल व्यापारिक सम्बन्ध ही नहीं थे अपितु व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए और दोनों देशों के विश्वासो, कथाओं और मान्यताओं ने एक–दूसरे को प्रभावित किया। अथर्ववेद में तन्त्र–मन्त्र और जादू–टोने सम्बन्धी अनेक बातें पायी जाती हैं। अनेक विद्वानों के अनुसार भारत ने इन्हें बेबीलोनियन और कैल्डियन लोगों से ग्रहण किया था। डा० बालगंगाधर तिलक के अनुसार अथर्ववेद में जादू–टोने सम्बन्धी अनेक शब्दों यथा, तैमात, अलगी–विलगी, उरूगूला और ताबुवम[illegible] का उल्लेख मिलता है, लेकिन उनमें से अनेक शब्दों का मूल बेबीलोनिया है।

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## सन्दर्भ


१– वैदिक इण्डेक्स, २, पृ० ४३२, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, १, पृ० ९१, मैक्डानल, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४२,

२– ऋग्वेद, १/५६/२, "तं गूर्त्तयों नेमन्निष परीणसः समुद्रं न सञ्चरणे सनिष्यवः"

३– वही, १०/१३६/५, "उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः"

४– वही, ९/३३/६, "रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मय सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः।"

५– वही, ८/६/४

६– वही, १/११६/५, "अनारम्भणें तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।

७– वही, ६/४५/३१, "अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्यात्। उरूः कक्षों न गांगयः।"

८– वही, ७/६/७, १/४८/३, १/४७/६, ९/९७/४४, ३/५६/२, ४/५५/६

९– वही,१/९/७–८,

१०– वही, ७/८८/३–४, "आ यद्वहाव वरूणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्"

११– वही, १/२५/७, "वेदा यो वीनां पदमन्त–रिक्षेण पतनाम्। वेद नावः समुद्रिय"

१२– वही, ७/९५/२, "एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात।"

१३– अथर्ववेद, ५/१९/८,

१४– वही, ४/१०/१–४,

१५– वाजयनेयी संहिता, २१/७, "शतारित्र नौ"

१६– अथर्ववेद, १/१२६/४, "मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृतक्षन्त पज्राः।"

१७– ऐतरेय ब्राह्मण, ३/९७/७,

१८– शतपथ ब्राह्मण, १/६/३/११, १०/६/४/१,

१९– सार्थवाह, पृ० ४३–४४,

२०– ऋग्वेद, १/५६/२, "तं गूर्त्तयों नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न सञ्चरणे सन्निष्यवः"

२१– रोथ, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश,

२२– आल्टिन्डिशे लेबेन, पृ २५७,

२३– ऋग्वेद का अनुवाद, ३, पृ० २१३–१५,

२४– ऋग्वेद, ८/६४/२,

२५– वही, ८/६६/२०,

२६– निरूक्त, ६/१६, "बेकनाटा खलु कुसीदिनों भवन्ति, द्विगुणकारिणों वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति।"

२७– वही, २/१७, 'पणिर्वणिक भवति।'

२८– एल० एन० मिश्र, मेमोरियल वाल्यूम, पृ० ५२५,

२९– इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस– प्रोसिडिंग्स ऑफ दि ट्वेन्टीसेकन्ड सेशन, १९५९, पृ० २०–२२,

३०– ऋग्वेद, ६/५३/५–८,

३१– हिब्बर्ट लेक्चर्स।




CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३१ए– जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ० १८५–८७
३२– ऋग्वेद, १०/७५/८, ''श्वश्वाः सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्यमयी सुकृता वजिनीवती। उर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधिवस्ते सुभगा मधुवृधम्।''
३३– वही, १/१२६/७, 'सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवापिका''
३४– वही, ८/७८/२,
३४ए– ए०सी० दास, ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० २८०,
३५– जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृ० २६०,
३६– वही, १९१०, पृ० ४०३,
३७– वही, १८९८, पृ० १६६,
३८– हरिहरनाथ त्रिपाठी, भारतीय विचारधारा, पृ० २१५,
३९– बुच, इकनामिक लाइफ इन एंशियेण्ट इण्डिया, पृ० २१५
४०– आई०एच०क्यू०, २, १९२६, पृ० १४०,
४१– होमर, ओडीसी, १/२३,
४२– हेरोडोटस, ७/७०,
४३– रालिंसन, इन्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० १९,
४४– जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१७, पृ० २३७,
४५– अथर्ववेद, ५/१३/६–१०,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# "आओ! दानव वृत्ति भगाएं"

आज अनय का, अन्यायों का,
बढ़ता है भू पर अति जाल।
मंडरा रहा मनुजता ऊपर,
निर्भय होकर दानव–काल।

रक्षक बन कर मानवता के–
दानवता से हम टकराएं।
आओ! दानव वृत्ति भगाएं।।

भीषण पैदा हुई परिस्थिति,
बढ़ते जाते है अब रावण।
हाहाकार मचा है जग में,
आर्तनाद है करता कण–कण।

उठो! राम के वंशज, अब तो–
मिलकर, अरि से युद्ध रचाएं।
आओ! दानव वृत्ति भगाएं।।

रक्षक बन बैठे हैं भक्षक,
कांप रहा सम्पूर्ण चराचर।
बहती है उल्टी युग–धारा,
आग उगलता आज सुधाकर।

बढ़ो! कृष्ण के वंशज, वीरों–
कंसों को फिर मार गिराएं।
आओ! दानव वृत्ति भगाएं।।

राधेश्याम "आर्य" विद्यावाचस्पति
मुसाफिर खाना, सुल्तानपुर
उत्तर–प्रदेश



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# Management of transition : Challenges and opportunities

Management naturally has been of some concern to organized society throughout civilized history. Interpretations of early Egyptian papyri, extending as far back as 1300 B.C., indicate the recognition of the importance of organization and administration in the bureaucratic states of antiquity. Similar records exist for ancient China. Confucius's parables include practical suggestions for proper public administration and admonitions to choose honest, unselfish, and capable public officers.

Although the records of early Greece do not give much insight into the principles of management, the very existence of the Athenian Common wealth, with its councils, popular courts, administrative officials, and board of generals indicate an appreciation of the managerial function. Socrate's definition of management as a skill separate from technical knowledge and experience is remarkably close to current understanding of the function.

The records of management in ancient Rome are incomplete, although it is well known that the complexity of the administrative job evoked considerable development of management techniques. The existence of the Roman magistrates, with their functional areas of authority and degrees of importance, indicates a scalar relationship characteristic of organization. Indeed, it is thought that the real genius of the Romans and the secret of success of the Roman Empire lay in their ability to organize. Through the use of the scalar principle and the delegation of authority, the city of Rome was expanded to an empire with an efficiency of organization never before observed.

The above explanation shows the development of management principles as the development of civilization. The development of various management thoughts and principles are the result of transition



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

process in the civilized society.

Now when we are at the threshold of 21st century, a lot has been written and talked about the challenges that management may be called upon to face in the 21st century. In fact, ours is not the only country in the world preparing to meet the challenges of entering the new era. It has become a matter of international concern and world wide futuristic movements have emerged out of this concern. Countries like USA, Russia, Japan, France and Britain have set up task forces to identity the problems they will confront when they enter the 21st century. In USA, alone, there are about 400 independent research groups engaged in this gigantic task of transition management.

**Business Environment: Changing Profile:-**

The strategic planning for our smooth transition, first of all, calls for a thorough understanding and subtle appreciation of the fast changing profile of corporate environment. There are the classic things that Chief Executive Officers should worry about for managing the transition. They should worry about what is the vision of the business in the future, what are the forces shaping the environment the CEO is the chief strategist. You need to have a very good sense of your industry structure, and how it is evolving, and what opportunities and threats exist. And then have a vision of where you want to take the enterprise you are leading. Many people do it in many different ways. There is obviously a lot of analytical work that underpins these types of exercises- but there has to be a fair amount of conviction about where things are going.

You have to literally see around the corner, you have to have that kind of vision. It is particularly important in today's day and age when things change fast. One has got to be cognisant of that.

There is a flip side, also, some times are changing so fast, and there is enough uncertainty, that you can't see clearly either. And there you have to make sure that you have the flexibility to make adjustments as you go along. That you have the ability to have a number of options, and place different bets. So that depending on which course take, you


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

have the ability to be fairly nimble.

So it is a combination of having some conviction, but also the flexibility to adjust. This happens all the time, in any number of successful companies. Take example of Microsoft, they were going on one strategy and they turned, as it were on a dinv and became am internet company.

Most organisations are today knowledge intensive and not asset intensive. To mange the intangible assets, those beyond the physical, you have to organise so that you leverage the knowledge in every part of the organisation and spread it across. There is a global war for talent-capital, physical assets, those kinds of things are actually available in plenty. Outstanding leadership talent, outstanding managerial talent is much more scarce. Organisations have to be able to motivate, attract and really retain their outstanding talent. One has to aim for a disproportionate share of outstanding talent. And that takes a different type of organisation. That takes an entrepreneurial, a much more empowered organisation that calls for putting responsibility further down, so that the talented feel that they are fulfilled in what they are doing. You can give them specific performance parameters and expect them to meet it, but you need to give them a lot of freedom so that they can exercise their leadership.

A number of management thinkers use the phrase **'a turbulent environment'** to describe the swift and often unpredictable changes in economic and market conditions. In part, these are due not only to technological and social forces but also to increasingly greater governmental involvement across a wide range of areas from environmental issues and technical standards to tax laws and tariffs.

Tofflerian 'global village' is right before us on the cusp of the twenty-first century. **Technological advances, organisational innovations and new ways of thinking** are the central driving forces of these changes. The economies are becoming market based creating immense opportunities for corporations to meet the customer's demands and services, at an unprecedented speed.


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Even smaller companies have access to the global market, due to introduction of telecommunication, latest technology and the advancement of international logistics, Internet, Intranet, Electronic commerce are the buzz words which have revolunised the every are a of an organization. The concept of market and marketing is changing in synchronous to these advancements. In a situation like this challenges and opportunity to grow exist simultaneously. The explosion in world wide market opportunities accelerated by technological development and coupled with mass customerisation has set off a revolution of a scale and magnitude which the world has not seen since the steam engine ignited industrial revolution. Conventional notions of comparative advantages of localisation are disappearing in the changing profile of industrial competition. Cost of resources and turnaround time are increasingly becoming the key factors in setting up production facilities, not location.

As a matter of fact, if one powerful idea has finally asserted itself as key force underlying the present world mindset, it is the idea of openness. In economic terms, this openness in the form of free market, is resulting in huge increases in global commerce and international investments. But this has also led the world economy to a severe financial crisis. The turbulence that began more than a year ago in the currency and stock markets of South East Asian nations has since spread to Russia and is now threatening Latin America. Only north America and Western Europe have so far been spared. About 40% of the world economy is either in or heading into a recession. The causes of the crises are as varied as the countries themselves. But some of the common problems are heavily indebted banking systems, overvalued currencies, lofty governmental spending and excessive reliance on foreign loans.

Some countries, heavily dependent on commodity exports, have been battered by sharp declines in the prices of such raw goods as crude oil, copper and grains. Some have been caught up in the turmoil because of close trading ties with a country in distress. And still others have been shaken because of investor worries about putting money in


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

any developing country, healthy or not.

In technological terms, the information revolution which represents the sum total of the fusion of computer and communications technologies is not only forging incredibly strong links between nations, companies and peoples, but increasingly exerting a strong gravitational pull on our social and economic environments. It is also in a new way an environment of unlimited growth potential, in which a symbiotic relationship is emerging since corporations are driven by the need to tap economics of scale even as they look beyond local and national markets to global markets. Management of information has become a prime concern in this environment. Hence, organisations have to learn to use information not only in the normal fields of strategy and accounting but as the driving force behind everything they do.

**NEED TO BE WORLD CLASS :-**

In order to thrive and survive in such a fast changing environment, organisations need to conform to international standards. It is the new social class that is defined by its ability to command resources and operate beyond borders. The global corporations will depend upon a strong capital base, excellent operational capabilities and wide distribution network to serve the customers. Already companies like Gillette, Johnson & Johnson, Pepsi, Cocacola, Xerox, IBM, Hewlett Packard, Phillips, ICI, Matsuhita, Ciba Geigy, ABB, Otis, Mazda and the like have worldwide synchronising operations.

A truly world class organisation will need to be much more sensitive to, and have a better understanding of external influences including political, fiscal, economic and social environments. This in turn requires that managers of the future will need to be capable of integrated business thinking that is, perspectives on the whole of the organisation and not just part of it. In fact, what a world class organisation may increasingly expect from the new breed of managers is a combination of technical expertise and leadership skill with an ability to address themselves with equal confidence and command to technology, markets, regulatory bodies and colleagues.


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## CHANGING MANAGEMENT APPROACH :-

During the remainder of 1990's and well into the next decade, we will witness a change in the way management conducts its business. Some of these developments will be a direct result of changing management values, attitudes, interests and approaches. Hence, will have to think of Human Resource Management (HRM) to take care of challenges which 21st century is going to bring with it. The concept of job satisfaction is becoming popular when executives realise that there is more to work than just a fat salary. They feel that jobs must also provide them with opportunities to learn and develop. However, even this has changed today. Now a days work is expected to satisfy the needs of power, achievement and social affiliation. Retaining today's executives, therefore would require "life satisfaction" more than job satisfaction. However, in such a scenario leisure time would not increase, instead executives would be more committed and spend longer hours in the organisation, thus gaining 'life satisfaction' through work.

As competition and consequent sophistication in management practice increase, the following five areas will acquire importance in strategic man management.

**Vision penetration-** Evolving the right vision is an entrepreneurial or top management function, but its utility increases immensely if it percolates, is understood and is accepted by all down the line. Vision not only provides driving feel, direction to business strategy, but also helps managers evaluate management practices and make decisions.

**Internal environment-** Creating an environment which is responsive to external changes, providing life satisfaction to the members of the organisation, and sustaining it through culture, useful tradition, practices, and even systems will became another important dimension of management.

**Industrial Relations will change-** The practice of IR will undergo a sea change. The notion that workers must be disciplined and mangers developed will have to be buried. Development of workers



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

may need simpler and appropriate inputs, but both the workers and managers must be managed and developed by the same set of assumptions and HRM philosophy of the company.

**Building Organisational Capabilities-** The paradigm of managing managers would include not only assisting them to acquire new skills and knowledge evaluate environmental changes and evolve business strategies, but also to live in a psychological state of readiness to continually change.

**Job design and Organisational Structure-** In designing organisations, we will hopefully, soon give up uncritical acceptance of foreign concepts and fads: Quality circles, TQM etc. Instead of this organisational structure and design will primarily be based on (a) task approach, and understanding of the intricacies of technology, jobs and functions to be performed to achieve organisational tasks and (b) people approach, which takes cognisance of their strengths, idiosyncrasies, as pirations and relationships.

As elaborated above, a number of fresh and fundamental, internal and external changes are taking place which are likely to pass serious problems for management in future. Some of them are already becoming inescapable realities of organisational life we if left unattended to, may become critical in coming years. Therefore, continuing evolutionary are to be effectively met.

Methods, techniques and approaches are undergoing refinements through research undertaken within the profession and from the contribution of related professions. A truly scientific approach is emerging especially in the case of strategic decision making used by the top management. The increased challenges demand that business innovations, broad understanding, insight and interpersonal skills. The emerging competition will stimulate organisational interests in developing and adopting innovative change techniques in HRM like quality circles, productivity groups, business games, counselling programmes, job redesign etc.


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The transition process is a painful one. What makes matters even worse is that differ key individuals and different parts of the company will to through this emotional journey at different speeds. Transition is a journey through the valley of death, In different phases of the journey, the organisation will experience the same very different kinds of emotions-from complacence, denial and resistance through anger and depression to exploration, enthusiasm and commitment. To lead a company through this journey, top level managers must learn to anticipate these emotions and have the courage and the wisdom to cope them. At each phase, the leadership task is very different and therefore, the roles the leaders play must radically change in the course of transition. There will be a few who will avoid the valley and go straight on to excitement and commitment. These will be others who will not recover-they will plunge into despair and the only act of mercy will be to put them out of their misery as gently as possibie.

At each phase, the task of leadership is very different. In the early part of the journey in the complacence and denial phases-leaders must be brutal in their challenge. They must confront with information, project the consequences of "business as usual", and provide illustrations of these consequences. This is the phase in which comparative data-competitor benchmarks, internal employee feedback and customer satisfaction surveys, for example are essential to ruthlessly expose the truth.

The task of making a group of complacent managers confront the reality of the commediocrity needs a heavy hand. Worst of all, in this phase the leaders must also confront and publicly acknowledge their own failings. In the next phases of anger and depression, however a heavy hand will merely destroy. The need, in this phase, is for empathy, understanding, and a collective sharing of grief. The leaders must learn to listen, not only to what is being said, but also to what is not being said. They need to show personal commitment. And, of course, this is the period of mercy killing they must cut losses when unavoidable.

As the organisation turns the corner into the first signs of



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

curiosity and exploration the symptoms change. Downing the tools gives way to over preparation, the feeling that the can does not care is replaced by incoherent energy. There is the confusion of multiple initiatives, the chaos of diverse projects and divergent local leaderships. At this stage, the task of top management changes to one of guiding priorities, of educating to improve the quality of analysis, of presenting short-term goals to direct the process. Finally set long term goals and rebuild teams and trust. Gradually, those who have led the process so far must step back from the frontline, letting others take on visible leadership roles, while they retreat into the background role of embodying and projecting the vision and values of the company, and coaching the new leaders.

One key strategy for future management function is to become more service-oriented than the present practice of being company oriented. To ensure service orientation, the organisations may have to decentralise the HR departments. Line management's ability to handle such vital activities as hiring, career-counselling and compensation administration needs to be developed. According to peter Drucker, in future, the organisations will be less, concerned with management development (adapting individuals to organisational demands), but more with organisational development (adapting organisations to the need of potentialities and aspirations of individual). With the development of high technologies, training and development will become central in the global economy as a professional and as a corporate function. Training will become continuing education, necessary throughout a career.

One of the thrust areas in the management function in future would be the creation of the type of organisational environment that will help to make work more satisfying. By recognising their responsibility to contribute to the psychological, economic and physical well-being of their employees, the personnel managers will, hopefully, reduce the feeling of alienation, hostility and aggressive approach of their employees towards their jobs and superiors. Managing personnel would require sensitivity to the complex and changing values, aspirations and attitudes that the people will bring to the work place.


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The portrait of an average Indian worker in the 21st century would be that of a man having a sense of confidence, born out of the realisation of skills, knowledge and power. Now and for the far seeable future, employees will be ever more demanding. The changing facets of the work-force are sure to become a source of major concern and controversy and the organisations that do not change their systems to accommodate these changes may be drowned by an unprecedented tidal wave of the transition which the 21st century is going to bring about.

Management problems keep going through mutation, solve one and another creeps up. Further, management is an interdisciplinary area. It is beyond the comprehension of a single researcher, belonging to a particular discipline, to visualise clearly the make-up of the management panorama. The new millennium will present an interplay of various economic, social, cultural, legal and technological challenges which will permit management to come into its own, The implications of these forces will be so immense that it will be a much more complex function than that exists today and a challenge to both management and employees. There will be more concern for strategy and innovation. It will be a time for well-trained, imaginative, innovative, upto-date, alert, opportunistic and aggressive professionals with a broad view of things.

**Rajat Agarwal**
**Lecturer,**
**College of Engg. & Tech.**
**G.K.V. Hardwar**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# TWO UNMET VEDIC FRIENDS

The Vedas were the common bond of friendship between the two. Both contributed to the nineteenth century Indian Renaissance by opening doors of Vedic studies to commoners. The non-priestly classes carried the word of God to all and sundry beyond the hallowed precinct of pathshalas. The Ved was the new household word.

Swami Dayanand Saraswati, the friend-philosopher and guide of both the urban and rural folks in India and the German-Aryan Friedrich Max Muller, who brought the Rig Veda from cloistered closets to libraries and studies of English speaking intelligentsia, were contemporaries. Swami Dayanand Saraswati was born in 1824 at Tankara in Gujarat in a Brahmin family. F. Max Muller was born in 1823 at Dessau in Germany in a scholar's house. The former revolted against his father's orthodoxy, renounced the world in his youth voluntarily and pursued the Vedic studies the hard way till he was thirty-nine. He took to teaching the Vedas to those who cared to learn. He was drawn to the masses. The latter lost his father at the age of four, lived in penury but went to college in Leipzig, fought duels but earned a Ph.D. at twenty. The Vedic Sanskrit was his first love. In pursuit of Vedic knowledge, Max Muller travelled to Berlin, Paris and London before finally settling down in Oxford.

Swami Dayanand Saraswati and F. Max Muller never met each other face to face. And yet they were friends. Their mission was a common one: Make man a good human being. "Back to the Vedas," was the clarion call given by Swami Dayanand Saraswati. Max Muller regarded Vedanta as "acme of human thought." Of his seventy-seven years of life Max Muller had devoted almost a quarter of a century to the editing and publication of the Rig Veda. Swami Dayanand devoted almost al his sixty-nine years in this world to the study, interpretation and


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
writing of a commentary on the Vedas. Both were devoted souls.

Swami Dayanand Saraswati devoted his entire time and energy to upliftment of the downtrodden, both the dalit and the women. He was both a religious reformer and a social reformer. The impact of his reforms were felt far and wide, even beyond boundaries of India. But the Rishi-Sanyasi never left the shores of his motherland. He encouraged his followers of the Arya Samaj to travel far and wide to achieve the aim of universal brotherhood as enunciated by the Vedas. His disciple, Shyamji Krishna Verma-a revolutionary and a freedom fighter-propagated the Vedic philosophy of life all over Europe in the late nineteenth century. Max Muller heard of and read about Swami Dayanand Saraswati just about that time. In his book,"My Indian Friends", Max Muller devoted an entire chapter ot the Swami. Max Muller had not met most of his Indian friends but only heard of them. In some cases like that to Swami Dayanand Saraswati, Ved was the common factor of friendship. In other cases it was Christianity which drew Max Muller to his Indian friends. Many a time Max Muller saw himself as an Evangelist and a Crusader charged with the mission of converting Indians to Christianity lock, stock and barrel.

In his boyhood days Max Muller's imagination was fired by a picture portraying the Ganges lapping Varanasi ghats. He longed to see the real scene himself. How sad, his wish was never fulfilled. In his younger days he had on money to defray travel expenses and when he became a man of means, he was too old to travel to India round the Cape of Good Hope as the Suez Canal had not been dug then. Max Muller started learning Sanskrit language in his early student days. He was thrilled that his compatriots and classmates knew nothing about alphabets of the language he was mastering. Obviously, it is a fallacy to think that Germans are past masters of Vedas and Sanskrit. Swami Dayanand Saraswati has written in his treatise,**"Satyartha Prakasha"** that a German Principal, who was in correspondence with him found it difficult to get the Sanskrit letters translated into German language. No


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

wonder Max Muller had to move to Berlin, Paris and London looking for original Sanskrit texts and teachers before finally settling down in the Oxford University where he realised his dream.

Not with standing major differences of opinion in the interpretation of Vedic mantras (Ved Bhashya) between the two Vedic scholars, Swami Dayanand Saraswati held F. Max Muller in high esteem. The Indian ascetic gave the German Indologist an honorific name in Sanskrit,"Moksha Mooler." One may re call that the ultimate goal of a soul, as par the Vedic philosophy of life, is "Moksha". "Moksha" means freedom from the cycle of birth and death and the soul lives in that blessed state of pristine joy. The moskha of a soul depends on quality of "Karma", that is action of inaction in the worldly life. One wonders whether Max Muller really realised the importance of his Sanskrit name given by Swami Dayanand Saraswati. As per historical evidence available in India, the two Vedic giants were never in correspondence. Even "My Indian Friends" by Max Muller gives no indication to the exchange of letters, if any, between the two scholars.

The long distance friendship cultivated in absentia did not deter Swami Dayanand Saraswati from pointing out major mistakes (minor ones could be overlooked) in Max Muller edited six volumes of Rig. Ved, both text and commentary. Understandably Max Muller relied on the Vedic commentary of Sayanacharya on grounds of availability. When he, however, ventured on his own, he went wrong. In a major work,"Rigvedadi Bhashya Bhumika", (Chapter 8) Swami Dayanand Saraswati writes in Hindi, which is translated as under- ".....The eminent scholar Moksha Muller and others (Europeans) have not interpreted mantras correctly...In his context Dr Moksha Muller Saheb has written in his Sanskrit Sahitya that Aryans realised the existence of **GOD** much later and that there is no proof. The Vedas are very ancient.....That the Mantra part was evolved 200 years after the Chhand part...But the interpretation of Dr Moksha Muller Sahab is not correct....."Chhand", "Mantra" and "Nigam"-these are three names of Vedas only. Those who


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

differentiate among them are not trustworthy."

It is worth nothing that even while criticising erroneous interpretation of Vedas by Max Muller, Swami Dayanand Saraswati was correct in etiquettes, courteous and generous. The address was polite, Viz, "Dr Moksha Muller Saheb."

During a recent seminar on Max Muller, a German scholar was quizzed on the 'how and why' of the eminent German Indologist of 19th century wishing to baptise all Indians. Was it an antidote to Swami Dayanand Saraswati's Arya Samaj which was committed to converting one and all to the Vedic Dharma. The twenty-first century German scholar laid the blame at the door of those Indians who came in direct contact with Max Muller in France and England. They, being Brahma Samajist, had leanings towards Christianity and led Max Muller up the garden path. The Evangelist in Max Muller had the better of the Vedic interpreter and the Indologist par excellence.

Two eminent Arya Samajis admired the extra-ordinary writing and speeches of Max Muller eulogising the Vedic religion, culture and above all the " Truthful Character of the Hindus." Swami Dayananad Saraswati's heart must have been gladdened by F.Max Muller's seven lectures delivered in 1882 at the Cambridge University for candidates of the elite Indian Civil Service. In 1883, before Swami Dayanand Saraswati's demise, the seven lectures were published by Longman in a book form entitled "INDIA: What can it teach us?" The book was a great morale booster for the Indians and, obviously, a set-back for racist-imperialists. Swami Vivekanand after meeting F. Max Muller in Oxford was appreciative of the German scholar's unadulterated love for India and said "..... And what love he bears towards India. I wish I had a hundredth part of that love for my own motherland!"

Swami Dayanand Saraswati and F. Max Muller shared one more love, shared one more passion namely SANSKRIT.Both were great scholars of Sanskrit and also its protagonist per excellence. Both



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

encouraged the youth to learn Sanskrit in different parts of the world. In the first flush of his Vedic preachings the great Arya Sanyasi himself founded Sanskrit pathshalas and exhorted people to donate generously for their upkeep. On his part, Max Muller advised the young Englishmen, who were ICS candidates to learn Sanskrit ot delve deep into the rich Oriental heritage. The Germen Indologist admired "the antique state of preservation in which that Aryan language has been handed down to us." Exhorthing the British administrators not to lose sight of "our nearest intellectual relatives" that is Aryas of India, Max Muller recalled their contribution to developing man's mind, thus: ".....the Aryas of India the framers of the most wonderful language, the Sanskit, the fellow workers in the construction of our fundamental concepts, the fathers of the most natural of natural religions, the makers of the most transparent of mythologies, the inventors of the most subtle philosophy, and the givers of the most elaborate laws."

**Brigadier Chitranjan Sawant V.S.M**
**'UPVAN', 609, Sector 29,**
**NOIDA-201303**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# जीवन पथ पर चलने वालो.....

जीवन पथ पर चलने वालो, मन का मत संतुलन बिगाड़ो।
आज अगर प्रतिकूल है कोई, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।।

आंधी और तूफान सदा ही,
आया और जाया करते है।
पतन और उत्थान सदा ही
हमको खुद परखा करते हैं।

आज अगर प्रतिकूल समय है, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

सुख और दुःख की राम कहानी,
आदि काल से चलती आयी।
आशा की स्वर्णिम बाते भी
आदि काल से छलती आयी।

आज अगर छल रहा तुम्हे है, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

माना जीवन की गलियों में,
आज हंसी कम, रुदन अधिक है।
माना बगिया के फूलों को
झुलस रहा दुःख का मौसम है।

आज अगर दुःख ओ' मातम है, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

माना पथ के चौराहे पर
आज कपट औ' झूठ बिक रहा।
माना चाँदी की झिलमिल में,
आज किसी का मान बिक रहा।

आज अगर धूमिल जीवन है, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

माना अनुशासन की चादर
तार–तार हो रही हमारी।
माना देख बिगड़ता मानव
रोते है अब धर्म पुजारी।

आज अगर प्रतिकूल चरण है, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

माना सुन–सुनकर स्वार्थों की,
ऊल–जुलूल बात कुछ जग में।
माना अपने रूठ गए हैं
छोड़ चले एकाकी मग में

आज "नीर" प्रतिकूल है कोई, कल अनुकूल तुम्हारे होगा।

महावीर "नीर" विद्यालङ्कार
कार्य. प्रधानाचार्य
गुरुकुल कांगड़ी 'विद्यालय–विभाग' हरिद्वार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PAYMENT PROCESSED
vide Bill No Dated.....
ANIS BOOK BINDER
1258
18-3-02

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri